प्राकृत और अपभ्रंश साहित्य

तथा उनका

हिंदी साहित्य पर प्रभाव

(प्रयाग विश्व० वि० की डी० फिल्० उपाधि के लिए सन् १९५१ में स्वीकृत प्रबंध)

रामसिंह तोमर

अध्यक्ष, हिंदी विभाग, विश्वभारती, शांतिनिकेतन

१९६४

हिन्दी परिषद् प्रकाशन

प्रयाग विश्वविद्यालय

विषय-सूची

प्रथम भाग

क. प्राकृत साहित्य

ख. अपभ्रंश साहित्य

द्वितीय भाग

संकेत चिह्न

इं० एं०	इंडियन एंटिक्वेरी ।
इं० हि० क्वा०	इंडियन हिस्टारिकल क्वार्टरली ।
ए० भं० ओ० रि० इं०	एनाल्स भंडारकर ओरिएंटल रिसर्च इंस्टीट्यूट पूना ।
जेड० डी० एम० जी०	त्ज़ाइत्श्रिफ्ट देर डोयशेन मोरगेनलैंडिशेन गेज़ेलशाफ्ट ।
ना० शा०	भरतमुनि प्रणीत नाटच शास्त्र ।
हि० सं० लि०	हिस्ट्री ऑव संस्कृत लिटरेचर एस० के० दे ।

प्राक्कथन

संस्कृत भाषा और साहित्य की तुलना में प्राकृत तथा अपभ्रंश भाषाएँ और साहित्य भारतवर्ष की जनता के अधिक निकट रहे हैं और उनमें सर्वसाधारण की धार्मिक, सामाजिक तथा साहित्यिक प्रतिक्रियाएँ अधिक नैसर्गिक रूप में सुरक्षित हैं। अपने देश की आधुनिक भाषाओं और साहित्यिक धाराओं पर भी संस्कृत भाषा और साहित्य के साथ साथ प्राकृत तथा अपभ्रंशों का कम प्रभाव नहीं पड़ा है। कुछ अंगों में तो आधुनिक भाषाएँ और साहित्य प्राकृत तथा अपभ्रंशों के अधिक निकट हैं। इसी कारण हिन्दी साहित्य के समस्त संभव मूल आधारों को समझने के उद्देश्य से मैंने १९४८ के लगभग डा० तोमर को प्रस्तुत अध्ययन की ओर अग्रसर किया था। यह कार्य जो थीसिस के रूप में १९५१ में पूर्ण हो गया था अब लगभग बारह वर्षों के बाद पुस्तक के रूप में प्रकाशित हो रहा है।

जिस समय यह कार्य किया गया था उस समय हिन्दी में प्राकृत और अपभ्रंश साहित्यिक धाराओं के विस्तृत अध्ययन उपलब्ध नहीं थे। इस ग्रंथ में पहली बार इतने पूर्ण विस्तार के साथ इन साहित्यिक धाराओं का परिचय दिया गया था। इस खंड के अधिक बड़े हो जाने के कारण हिंदी साहित्य पर इनके प्रभावों से संबंधित दूसरे खंड की सामग्री को संक्षेप में देना पड़ा था। इतना समय बीत जाने पर भी इस महत्वपूर्ण अध्ययन की वैज्ञानिकता और उपादेयता में कोई कमी नहीं हुई है। विद्वान लेखक ने आश्वासन दिया है कि १९५१ के बाद प्रकाश में आने वाली नवीन अपभ्रंश साहित्य संबंधी सामग्री का वे ग्रंथ के नवीन संस्करण में अवश्य समावेश करेंगे। मेरा सुझाव है कि उस समय प्रभावों वाले खंड को भी यदि वे परिवर्धित कर सकें तो अच्छा होगा।

आशा है कि हिंदी साहित्य के मूलस्रोतों को समझने में डा० तोमर के इस महत्वपूर्ण ग्रंथ से इस विषय के विद्यार्थियों और विद्वानों को विशेष सहायता मिलेगी। साधारण पाठक भी इसे उपयोगी और रोचक पावेगा। विद्वान लेखक को इसके प्रकाशन पर मैं हार्दिक बधाई देता हूँ।

भाषाविज्ञान विभाग — धीरेन्द्र वर्मा
विश्वविद्यालय, सागर

प्रस्तावना

प्राकृत और अपभ्रंश साहित्य के अध्ययन की ओर ध्यान आकर्षित कराने का श्रेय यूरोपीय विद्वानों को है। सन् १८५४ ई० में अंग्रेज विद्वान कावेल ने वररुचि के 'प्राकृत प्रकाश' का एक संस्करण प्रकाशित किया, और साथ में अंग्रेजी अनुवाद भी दिया। प्राकृतों के अध्ययन की ओर निश्चित ही इस प्रयास से विद्वानों का ध्यान आकर्षित हुआ। सन् १८७७ ई० में जर्मन विद्वान डा० रिचार्ड पीशेल ने हेमचंद्र के प्राकृत व्याकरण का एक संस्करण प्रकाशित कराया। प्राकृत और अपभ्रंश के वर्तमान अध्ययन का प्रारंभ वास्तव में पीशेल के उस सुसंपादित हैम व्याकरण के संस्करण से ही मानना चाहिए। उसके पश्चात् अनेक वर्षों के कठोर परिश्रम और समस्त उपलब्ध प्राकृत अपभ्रंश साहित्य का अध्ययन करके पीशेल ने सन् १९०० में अपनी अत्यंत महत्वपूर्ण कृति 'ग्रामाटीक देर प्राकृत श्प्राखेन' को स्ट्रासबुर्ग नगर से प्रकाशित करा दिया। उस प्रयास को आधी शताब्दी हो गई, प्राकृत और अपभ्रंश का बहुत सा साहित्य प्रकाश में आ चुका है; लेकिन अभी तक ऐसा कोई प्रयास नहीं हुआ है जो पीशेल की इस महान् कृति का स्थान ले सके। पीशेल को उस समय जितनी अपभ्रंश सामग्री का पता चल सका था उसका क्रमबद्ध अध्ययन करके उन्होंने अपने प्राकृत व्याकरण के पूरक के रूप में 'आइन नाखट्राग त्सूर ग्रामाटीक देर प्राकृत श्प्राखेन-माटेरिआलिएन त्सूर केन्टनिस डेस् अपभ्रंश' (अपभ्रंश ज्ञान के लिए सामग्री) नाम से १९०२ ई० में बेर्लीन से प्रकाशित कराया। प्राकृत भाषा के इस महान् पंडित का स्वर्गवास मद्रास में हुआ।

पीशेल के समान ही एक दूसरे दिग्गज जर्मन पंडित, बोन यूनीवर्सिटी के संस्कृत-प्राकृत के अध्यापक, डा० हेरमान्न याकोबी ने प्राकृत और अपभ्रंश के अध्ययन को आगे बढ़ाया। जैन आगमों से चुनकर उन्होंने १८८६ में प्राकृत कथाओं का एक संग्रह 'आउसगेवाल्टे एरत्जेलुंगेन इन महाराष्ट्री' नाम से प्रकाशित कराया और अनेक जैनागमों तथा कालकाचार्य कथानक, पउमचरियं, समराइच्चकहा जैसी प्राकृत कृतियों के सुसंपादित संस्करण प्रकाशित कराए। और फिर बड़ी ही

विद्वत्तापूर्ण भूमिकाओं सहित अपभ्रंश 'भविसयत्तकहा' (१९१८, म्यूनिक) और 'सनत्कुमार चरित' (१९२१) के संस्करण प्रकाशित कराए। इधर भारत में प्रसिद्ध विद्वान म० म० पं० हरप्रसाद शास्त्री ने १९१६ ई० में बौद्ध सिद्धों की अपभ्रंश रचनाओं को प्रकाशित किया जिससे अपभ्रंश का अध्ययन और आगे बढ़ा। और उधर बड़ौदा में बड़ौदा नरेश की आज्ञा से चिमनलाल डाह्याभाई दलाल ने पाटण के भंडारों का अवलोकन किया और अनेक अपभ्रंश कृतियों के अस्तित्व की सूचना पहिली बार दी। भविष्यदत्त कथा की दलाल को और प्रतियाँ मिलीं और उनके आधार पर उन्होंने एक नया संस्करण प्रस्तुत किया जिसे दलाल की असामयिक मृत्यु के पश्चात् डा० पी० डी० गुणे ने पूरा किया और सन् १९२३ में यह संस्करण प्रकाश में आया। इसी समय डा० हीरालाल जैन ने कारंजा के जैन भंडारों तथा अन्य भंडारों का अवलोकन किया और अनेक अपभ्रंश के महत्व-पूर्ण ग्रंथों की सूचना 'इलाहाबाद यूनीवर्सिटी स्टडीज़' (१९२५) में प्रकाशित अपने एक लेख के द्वारा दी और 'सावयधम्म दोहा', 'पाहुड दोहा', 'करकंडु चरित', 'नागकुमार चरित' के सुंदर सुसंपादित संस्करण प्रकाशित कराये। डा० पी० एल० वैद्य ने पुष्पदन्त की अनुपम विशाल कृति 'महापुराण' और 'जसहर चरिउ' का संपादन किया जो क्रमशः माणिक्य चंद्र ग्रंथमाला और कारंजा सीरीज़ में प्रका-शित हुए। सन् १९२९ में विद्यापति की 'अवहट्ठ कृति कीर्तिलता' का संपादन डा० बाबूराम सक्सेना ने किया जो नागरी प्रचारिणी-सभा काशी से प्रकाशित हुआ। चर्यापदों के अध्ययन की धारा भी चलती रही, डा० शहीदुल्ला १९२८, ४०, डा० बागची ने चर्यापदों और दोहाकोष के अध्ययन को और आगे बढ़ाया। सिद्धों की अपभ्रंश रचनाओं से हिन्दी जगत का परिचय कराने का श्रेय राहुल सांकृत्यायन को है। अब इस समय अनेक संस्थाओं और विद्वानों का ध्यान अपभ्रंश की ओर गया है और सराहनीय कार्य हो रहा है। इनमें भारतीय विद्याभवन, भार-तीय ज्ञानपीठ संस्थाएँ प्रमुख हैं, तथा डा० लुदविग आल्सडोर्फ, डा० आ० ने० उपाध्ये, डा० भायाणी आदि विद्वान प्रमुख हैं। आल्सडर्फ की, पुष्पदन्त के 'महापुराण' का एक अंश 'हरिवंशपुराण', 'कुमारपाल प्रतिबोध' के अपभ्रंश अंशों का अध्ययन, प्रमुख संपादित कृतियाँ हैं। एक छोटी सी कृति 'अपभ्रंश स्टूडिएन' में भी अपभ्रंश का सुंदर अध्ययन उन्होंने प्रस्तुत किया है। डा० उपाध्ये ने 'परमात्म प्रकाश' का संपादन किया और भायाणी ने 'संदेशरासक' का संपादन किया है। जिस कार्य का सूत्रपात डा० पीशेल द्वारा हुआ और डा० याकोबी, दलाल, डा० गुणे, डा० हीरालाल जैन, डा० बाबूराम सक्सेना, म० म० हरप्रसाद शास्त्री, डा० पी० एल०

वैद्य, डा० शहीदुल्ला, डा० बागची, मुनि जिन विजय ने जो अग्रगामी (पायोनियर) कार्य किया उसके परिणामस्वरूप आज अपभ्रंश का प्रचुर साहित्य उपलब्ध है और अनेक विद्वान अपभ्रंश के अध्ययन को अग्रसर करने में लगे हैं। अभी भी अपभ्रंश साहित्य की पूरी सामग्री का पता नहीं लग सका है। प्रायः किसी न किसी शास्त्र भंडार में नवीन अपभ्रंश कृतियों के अस्तित्व की सूचना मिलती रहती है। अभी हाल में आमेर शास्त्र भंडार में ऐसी अनेक अपभ्रंश कृतियों के होने की सूचना प्रकाशित हुई है जिनका अभी तक कोई पता नहीं था। इसका श्रेय जैन साधुओं को और विद्वानों को है जिन्होंने प्रयत्नपूर्वक इस साहित्य की रक्षा की। इन अग्रगामी कार्यकर्त्ता विद्वानों के परिश्रम के फलस्वरूप आज के आधुनिक भारतीय आर्यभाषा साहित्य के विद्यार्थी का मार्ग बहुत सुगम हो गया है।

प्रस्तुत अध्ययन का प्रारंभ उत्सुकतावश हुआ। अपभ्रंश के प्रति लेखक का प्रारंभ में एक कौतूहल का भाव था। हिन्दी साहित्य की धाराओं के मूल उत्सों को जानने की जिज्ञासा मन में थी। गुरुवर आचार्य प्रो० डा० धीरेन्द्र वर्मा के उत्साहित करने पर इस मनोरम साहित्य का अध्ययन प्रारंभ करने का साहस लेखक ने किया। प्रारंभ में यह साहित्य लेखक को जैसा शुष्क लगता था, उस समय अपने गुरु के दिशा निर्देशन से भी मन में बहुत उत्साह नहीं था। आज श्रद्धेय आचार्य के इस अनुग्रह के लिए, कि उन्होंने इस अत्यंत उत्कृष्ट साहित्य से परिचय कराया जिसका ज्ञान उत्तर भारत की संस्कृति और साहित्य को समझने के लिए अत्यंत आवश्यक है, अपने आचार्य के प्रति लेखक बहुत ही कृतज्ञता का भाव अनुभव कर रहा है। प्राकृत और अपभ्रंश भाषाओं का जो कुछ भी थोड़ा सा ज्ञान लेखक को प्राप्त हुआ है, वह श्रद्धेय प्रो० डा० बाबूराम जी सक्सेना की कृपा से। दो वर्ष उनकी कक्षाओं में बैठकर लेखक ने प्राकृतापभ्रंश का अध्ययन किया। 'सेतुबंध', 'जसहरचरिउ' आदि कृतियों को जिस आकर्षक और विद्वत्तापूर्ण ढंग से श्रद्धेय आचार्य सक्सेना जी ने पढ़ाया था उसका स्मरण करके मन उत्साह से भर जाता है। अपभ्रंश का अध्ययन प्रारंभ करते समय प्रो० डा० हीरालाल जी जैन ने लेखक को बड़ा उत्साहित किया था और अनेक बहुमूल्य परामर्श दिए थे। आचार्य डा० हजारी प्रसाद जी द्विवेदी की छाया में रहकर लेखक ने तीन वर्ष शान्तिनिकेतन में अध्ययन को चालू रखा। आचार्य द्विवेदी जी ने लेखक की अनेक प्रकार से सहायता की है।

डा० प्रबोधचंद्र बागची से भी समय-समय पर अनेक सुझाव मिले। श्रद्धेय डा० पी० एल० वैद्य का स्नेह और कृपा भी लेखक को बराबर मिलती रही है। इस युग के छंद शास्त्र के प्रकांड पंडित प्रो० ह० दा० वेलंकर ने लेखक के पत्रों

का तुरंत उत्तर देकर, बहुमूल्य परामर्श देकर, अनेक बार उत्साहित किया है, उनकी उदारता के लिए लेखक बहुत ही कृतज्ञ है। डा० माताप्रसाद जी गुप्त की सदा कृपा रही है। अनेक समय अनेक प्रकार से उन्होंने उत्साहित किया है। सच ही यह प्रस्तुत लेखक का सौभाग्य है कि अपने समय के प्रथम श्रेणी के इतने विद्वानों की कृपा उसे मिल सकी। इन मनीषियों का प्रस्तुत लेखक कितना ऋणी है यह व्यक्त करना उसके लिए कठिन है। इन विद्वानों की कृपा से अपभ्रंश साहित्य की सीमाओं को लेखक जान सका है, आगे उसका अध्ययन करके उसके स्वरूप को और भी स्पष्ट कर सकेगा ऐसा उसका विश्वास है और गुरु ऋण का इस प्रकार आंशिक शोध हो सकेगा।

प्रस्तुत अध्ययन के दो भाग हैं। प्रथम भाग में प्राकृत और अपभ्रंश साहित्य की रूपरेखा प्रस्तुत की गई है और दूसरे भाग में हिन्दी साहित्य की धाराओं को अपभ्रंश साहित्य के प्रकाश में समझने की चेष्टा की गई है। हिन्दी साहित्य की धाराओं के मूल आधार अपभ्रंश साहित्य में मिलते हैं। दूसरे भाग में इसके केवल संकेत भर किए हैं। इन विभिन्न धाराओं को पूर्णतया स्पष्ट करने के लिए शास्त्र भंडारों में पड़ी समस्त सामग्री का अध्ययन और परीक्षण आवश्यक है। लेखक का दृढ़ विश्वास है कि अपभ्रंश साहित्य का और भी अवगाहन करने पर हिन्दी साहित्य के सभी रूपों के मूल स्रोत मिल सकते हैं और इस प्रकार उनका प्रारंभ चौदहवीं शती न होकर सातवीं आठवीं शती वि० तक पहुँचेगा। इस अध्ययन को पूर्ण बनाने के लिए अभी अनेक वर्षों तक और अध्ययन करने का प्रस्तुत लेखक का विचार है। प्रस्तुत निबंध को बड़े ही संकोच के साथ वह प्रस्तुत कर रहा है क्योंकि इसमें अनेक त्रुटियाँ और अपूर्णताएँ रह गई हैं।

प्राकृत अपभ्रंश से संबंधित सामग्री प्राप्त करने में लेखक को अनेक सज्जनों से सहायता मिली है, दिल्ली के बाबू पन्नालाल जी जैन अग्रवाल, श्री पं० परमानन्द जैन, आमेर शास्त्र भंडार, जयपुर के अधिकारी, जैन सिद्धान्त भवन आरा के प्रबंधक, श्री कामता प्रसाद जी जैन, अलीगंज, पं० महेन्द्रकुमार जी जैन, श्री अगरचंद जी नाहटा, तथा अन्य अनेक व्यक्तियों और संस्थाओं को लेखक कृतज्ञतापूर्वक स्मरण करता है और सभी का अत्यंत आभारी है। वास्तव में यह प्रयास गुरुजनों, मित्रों और अनेक शुभचिन्तकों की नाना प्रकार की सहायता से ही संभव हो सका है और उन सबका लेखक अत्यंत कृतज्ञ है।

कृति को जिस रूप में प्रस्तुत किया था; उसी रूप में जाने दिया जा रहा है-अनेक कारणों से छपने में विलंब होता गया। इस बीच में बहुत सी नवीन

सामग्री प्रकाश में आई। हिंदी में अपभ्रंश के परिचायक कुछ ग्रंथ भी निकल चुके हैं। अपनी त्रुटियों का लेखक को पूरा ध्यान है। यदि अवसर मिला तो अगले संस्करण में सभी समस्याओं पर विस्तार से विचार किया जा सकेगा। हिंदी परिषद् के अधिकारियों का लेखक आभारी है कि इस कृति को परिषद् ने प्रकाशित करने की उदारता दिखाई।

रामसिंह तोमर
शान्ति निकेतन,
मई १९६३।

१

प्राकृत साहित्य

प्राकृतों का भारतीय आर्य-भाषाओं के इतिहास में बड़ा महत्वपूर्ण स्थान है। संस्कृत के अतिरिक्त देश की संस्कृति का माध्यम प्राकृतें बहुत समय तक रहीं और उनका स्थान क्रमशः उनकी उत्तराधिकारिणी आधुनिक भारतीय आर्य-भाषाओं ने ले लिया। प्राचीन किसी भी वैयाकरण ने प्राकृतों की उत्पत्ति के विषय में कुछ नहीं लिखा है। संस्कृत के साधु शब्दों के अतिरिक्त जो भी शब्द थे उन्हें अपशब्द, भ्रष्ट कहकर संतोष किया।[1] बहुत पीछे किसी प्राचीन संस्कृत की पक्षपातिनी परंपरा का अनुसरण करते हुए कुछ वैयाकरणों ने प्राकृतों का आधार संस्कृत को बता कर प्राकृत की उत्पत्ति की अपूर्ण व्याख्या की। हेमचंद्र ने किसी प्राचीन आधार का अनुगमन करते हुए कहा, [2] 'प्रकृतिः संस्कृतम्, तत्रभवं तत आगतं वा प्राकृतम्।' अर्थात् प्रकृति या मूल-आधार संस्कृत है, उससे जो उत्पन्न हुई या निकली वह प्राकृत है। और इस व्याख्या का औरों को भी पता था।[3] स्पष्ट है कि इन वैयाकरणों का प्राकृत की उत्पत्ति की व्याख्या करना उद्देश्य नहीं था। संस्कृत शब्द को लेकर भी इसी तरह की व्याख्या की जा सकती है। कुछ विद्वानों ने प्राकृतों को ही प्रधानता दी है और 'प्रकृति' को प्राकृत

---

१. महाभाष्य, निर्णयसागर, १९३८, पृ० ३१।

२. हेमचंद्र के पूर्व के 'न्यायकुमुदचंद्र' आदि ग्रंथों में भी इसी व्याख्या का उल्लेख है, दे० न्यायकुमुदचंद्र स्फोटवाद प्रकरण।

३. मार्कण्डेय : प्रकृतिः संस्कृतं, तत्र भवं प्राकृतमुच्यते, धनिक कृत दशरूपकावलोक (बंबई १९४१ ई०) २.६४ प्रकृतेरागतं प्राकृतं, प्रकृतिः संस्कृतं, प्रकृतिः तद्भवं तत्समं देशीत्यनेक प्रकारकम्, इत्यादि दे० पीशेल : ग्रामाटिक अनुच्छेद १।

का आधार माना है या 'प्राक् कृत' पूर्व में हुई वह प्राकृत है । इस प्रकार की व्याख्या की है । जैन सूत्रों में अर्धमागधी को सर्वप्रधान माना है ।[१]

प्राकृत वैयाकरणों ने महाराष्ट्री को प्रधान प्राकृत माना है[२] तथा इसके अतिरिक्त कुछ को छोड़कर शेष सब ने शौरसेनी, मागधी, अर्धमागधी, पैशाची, चूलिका पैशाची तथा अपभ्रंश प्राकृतों का उल्लेख किया है । पैशाची और अपभ्रंश के अनेंक भेदों के भी उल्लेख वैयाकरणों ने किए हैं ।[३] प्राकृत वैयाकरणों को उनके द्वारा किए गए प्राकृतों के विवेचन के आधार पर दो वर्गों में विद्वान विभाजित करते हैं--पूर्वीय वर्ग और पश्चिमीय वर्ग ।[४] पूर्वीय वर्ग शाकल्य, भरत तथा कोहल को अपना आदि आचार्य मानता है, इस वर्ग के प्रतिनिधि वररुचि हैं और अन्य वैयाकरणों में क्रमदीश्वर, लंकेश्वर, रामशर्म तर्कवागीश तथा मार्कण्डेय कवीन्द्र हैं। पश्चिमी वर्ग वाल्मीकि से अपना सम्बन्ध स्थापित करता है, इस वर्ग में त्रिविक्रम, हेमचंद्र, लक्ष्मीधर तथा सिंहराज हैं ।[५] वैयाकरणों

१. पीशेल, वही, अनु० १६. ।

२. दंडी : महाराष्ट्राश्रयां भाषां प्रकृष्टं, प्राकृतं विदुः, काव्यादर्श १.३४, कुछ विद्वान महाराष्ट्री को प्रधान प्राकृत नहीं मानते, दे० डा० मनमोहन घोष द्वारा संपादित कर्पूरमंजरी की भूमिका (कल० १९४८) पृ० १०,११ तथा २६ और आगे तथा उनका लेख 'माहाराष्ट्री ए लेटर फार्म अव् शोरसेनी' जर्नल अब द डिपार्टमेंट अव लेटर्स भाग कल०विश्व० २३, १९३३ ।

३. मार्कण्डेय ने 'प्राकृत सर्वस्व' में भाषा, विभाषा, अपभ्रंश तीन वर्गों के अनेक उपभेद किए हैं, विजगापट्टम १९२७ ।

४. दे० ग्रियर्सन के विविध लेख, अपभ्रंश एकार्डिंग टु मार्कण्डेय एंण्ड ढक्की प्राकृत ज० रा० ए० सो० १९१३ पृ० ८७५-८३, द प्राकृत धात्वादेशाज एकार्डिंग टु द वेस्टर्न एन्ड द ईस्टर्न स्कूल अव प्राकृत ग्रामेरिएन्स, मेमोएर्ज़ ए० सो० बंगाल ८. २. कल० १९२४, द ईस्टर्न स्कूल अव् प्राकृत ग्रामेरिएन्स, सर आशुतोष मुकर्जी सिल्वर जुबिली वोल्यूमज़, वाल्यूम ३, पार्ट २ पृ० ११९-१४१, कल० १९२५, ले ग्रामेरियं प्राकीत्स, नीती दोलची, पारी १९३८, पृ० ८९ और आगे ।

५. शाकल्य और कोहल के केवल नाम मात्र मिलते हैं, मार्कण्डेय ने शाकल्य और कोहल का उल्लेख किया है । भरत की कोई 'प्राकृत व्याकरण' पर कृति नहीं मिलती, नाट्यशास्त्र (अध्याय १७, ६-२३) में संक्षिप्त

द्वारा विवेचित प्राकृतों में से महाराष्ट्री में अनेक साहित्यिक कृतियाँ मिलती हैं। शौरसेनी में भी भारतीय नाट्यशास्त्र के कुछ पद्य, सट्टक तथा नाटकीय गद्यांश मिलते हैं। अर्धमागधी [१] में जैन संप्रदाय का धार्मिक साहित्य मिलता है। मागधी के भी कुछ प्रयोग मिलते हैं। पैशाची में इस समय कोई साहित्य उपलब्ध नहीं है, गुणाढ्य की लुप्त कृति वृहत्कथा [२] के पैशाची में होने के कारण कदाचित् उसे इतना सम्मानप्रद स्थान मिला हो। अपभ्रंश में भी पर्याप्त साहित्य मिलता है। वैयाकरणों द्वारा किए गए अन्य प्राकृत-भेदों का कोई साहित्य नहीं मिलता। संभव है उनमें साहित्य रचना न हुई हो और केवल बोलचाल के लिये उनका प्रयोग होता होगा।

वैयाकरणों द्वारा जो विवेचन प्राकृतों का हुआ है वह इस समय उपलब्ध प्राकृत साहित्य की दृष्टि से अपूर्ण है। जैन प्राकृतों का भाषा की दृष्टि से अलग विवेचन आवश्यक था किन्तु केवल आर्ष [३] प्राकृत का हेमचंद्रादि ने उल्लेख भर किया है। जैन महाराष्ट्री, जैन शौरसेनी का विवेचन नहीं किया है। इसके अतिरिक्त अश्वघोष की प्राकृत, खरोष्ठी धम्मपद, शिलालेखों में प्रयुक्त प्राकृत, बौद्ध [४], जैन, शैव संप्रदाय के अनुयायियों द्वारा व्यवहृत 'मिश्र संस्कृत' इत्यादि प्रचुर सामग्री इस समय उपलब्ध है जिसका विवेचन प्राकृत व्याकरणकारों ने कहीं नहीं किया है। बहुत संभव है व्याकरण लेखकों ने केवल साहित्यिक प्राकृतों को ही स्थान दिया हो, कम से कम सबसे प्राचीन प्राकृत व्याकरण प्राकृत प्रकाश से तो यही प्रतीत होता है। यह भी संभव है, कि इन वैयाकरणों को संपूर्ण प्राकृत साहित्य का पता न हो। वैयाकरणों के अतिरिक्त प्राकृत कवियों ने प्राकृत

विवेचन है। तथा कुछ उद्धरण (अध्याय ३२) मिलते हैं। वररुचि का प्राकृत प्रकाश भामह, रामपाणिवाद की वृत्तियों सहित मिलता है। भामह काश्मीरी होने के कारण किसी वर्ग में नहीं आते। शेष के लिये दे० प्राकृत प्रकाश पूना १९३१, भूमिका पृ० ८ और आगे।

१. जैन प्राकृत, पीशेल : ग्रामाटिक० अनुच्छेद १६-२०।

२. दे० ला कोतः एसाइ सुर गुणाढ्य ए ला वृहत्कथा, पारी १९०८, दंडी, काव्यादर्श १.३८।

३. ऋषियों की, हे० व्याकरण ८.३।

४. बौद्ध संप्रदाय में ललितविस्तरादि ग्रंथों की अशुद्ध संस्कृत को 'गाथा डायलेक्ट' या 'मिश्र संस्कृत' कहा गया है, दे० पीशेल अनु० १०।

साहित्य के स्वाभाविक सौंदर्य, उसकी सुकुमारता तथा प्राकृत भाषा की श्रेष्ठता के संबंध में अनेक बार उल्लेख किए हैं, अनेक कवियों ने उच्छ्वसित होकर प्राकृत की प्रशंसा की है।[१] प्रस्तुत अध्ययन की दृष्टि से साहित्यिक, धार्मिक और ऐहिकतापरक प्राकृत का ही अध्ययन आवश्यक समझा गया है, किन्तु प्राकृत साहित्य का पूर्ण चित्र प्रस्तुत करने की दृष्टि से अन्य प्राकृत साहित्य की ओर भी संकेत कर दिया गया है। अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से ६०० ई० पू० से १८०० ई० तक के इस संपूर्ण प्राकृत साहित्य का विभाजन इस प्रकार किया जा सकता है[२] :

१. धार्मिक प्राकृत साहित्य——
   अ. विशुद्ध धार्मिक, सांप्रदायिक सिद्धान्तों आदि का विवेचन, पाली में रचित बौद्ध साहित्य, अर्धमागधी, शौरसेनी में रचित जैन धार्मिक साहित्य।
   आ. धार्मिक साहित्यिक पाली कथा-साहित्य, जैन महाराष्ट्री, जैन शौरसेनी में रचित साहित्य, तथा जैनों द्वारा लिखित अपभ्रंश साहित्य।
२. साहित्यिक (ललित) प्राकृत महाराष्ट्री, शौरसेनी, पैशाची, और अपभ्रंश साहित्य।
   अ. स्वतंत्र कृतियों के रूप में तथा
   आ. अन्य ग्रन्थों में उद्धरणों के रूप में प्राप्त होने वाला प्राकृत साहित्य।
३. नाटकों में प्रयुक्त प्राकृत।
४. भारत के उत्तर पश्चिम सीमान्त प्रदेशों में प्राप्त प्राकृत साहित्य——प्राकृत धम्मपद, निय प्राकृत तथा खोतान, मध्य एशिया आदि में प्राप्त प्राकृत साहित्य।
५. शिलालेखादि में प्रयुक्त प्राकृत।
६. मिश्र संस्कृत——'गाथा डायलेक्ट'।

पाली यद्यपि भाषा की दृष्टि से प्राकृत का ही एक रूप है किन्तु सामान्यत: उसे प्राकृत से अलग ही माना जाता है, वैयाकरणों की तथा साहित्य की इसी

---

१. ऐसे अनेक उद्धरणों के लिए दे० अपभ्रंश काव्यत्रयी-भूमिका पृ० ७५ और आगे बड़ौदा——१९२६ ई०।

२. डा० एस० एम० कात्रे : प्राकृत लेंग्वेज एन्ड देअर कंट्रिब्यूशन टु इंडियन कल्चर (बंबई १९४५ ई०) पृ० ९, १०।

परंपरा के अनुसार उसका अध्ययन यहाँ आवश्यक नहीं समझा गया। और प्रतीत ऐसा होता है कि हिन्दी साहित्य से वह बहुत दूर पड़ता है, उसका कदाचित् ही कोई प्रभाव पड़ा हो इससे भी उसे छोड़ दिया गया है। इसी प्रकार धार्मिक जैनागमों (अर्धमागधी और जैन शौरसेनी) का भी अध्ययन आवश्यक नहीं प्रतीत हुआ। उसे भी छोड़ दिया गया है। जैन प्राकृत-साहित्य का अध्ययन आवश्यक समझा गया है, क्योंकि जैन अपभ्रंश-साहित्य और जैन प्राकृत-साहित्य में विषय-विवेचन, शैली और भावधारा की दृष्टि से कोई अंतर नहीं है। पाली साहित्य और जैन धार्मिक कृतियों की अनेक प्रकार की टीकाओं में जो मनोरम कथा-साहित्य मिलता है तथा अन्य अनेक साहित्यिक विशेषताएँ मिलती हैं उनका अवश्य ही समस्त भारतीय साहित्य पर प्रभाव पड़ा होगा। भाषा, संस्कृति, धर्म, इतिहास की दृष्टि से इस साहित्य का मूल्य बहुत ही अधिक है। प्रस्तुत ग्रंथ में केवल साहित्यिक प्राकृत-साहित्य का ही अध्ययन प्रस्तुत किया गया है।

जैन प्राकृत साहित्य

जैन संप्रदाय की सबसे बड़ी विशेषता रही है कि साहित्य रचना की धारा को उसने कभी भी मंद नहीं होने दिया। प्राकृत, संस्कृत, अपभ्रंश, लोकभाषाएँ सभी में जैन रचनाएँ मिलती हैं।

दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों ही जैन संप्रदायों द्वारा प्राकृत में साहित्य लिखा गया है। दिगम्बर सम्प्रदाय के आचार्यों ने शौरसेनी प्राकृत में लिखा है और श्वेताम्बरों ने महाराष्ट्री में।[1] विमल सूरि कृत पउमचरिय[2] प्रथम उपलब्ध कृति है जिसमें राम कथा है। राम कथा का जैन रूप इस कृति में मिलता है। पुराण शैली में ग्रथित इस कृति में ११८ उद्देश (अध्याय) हैं। समस्त कृति का विस्तार ९००० पद्यों से भी अधिक है। प्रचलित राम कथा के सम्बन्ध में श्रेणिक राज की अनेक शंकाओं का समाधान करने के लिए गौतम गणधर ने यह कथा कही है। प्रसिद्ध राम कथा के सभी प्रमुख पात्र इसमें मिलते हैं, प्रधान पात्र सभी जैन धर्म में दीक्षित दिखाए गए हैं और अनेक स्थलों पर मानवीकरण

---

१. विद्वानों ने इन प्राकृतों को 'जैन शौरसेनी' तथा 'जैन महाराष्ट्री' कहा है, सामान्य प्राकृत से कुछ भेद इन प्राकृतों में मिलता है। दे० पीशेल, ग्रामाटिक० अनु० १६, २०,२१।

२. डा० हेरमान्न याकोबी द्वारा संपादित, जैन धर्म प्रसारक सभा भावनगर से प्रकाशित, १९१४ ई०।

का प्रयास किया गया है ।[1] कथा में भी कुछ नवीन तथ्य मिलते हैं जैसे बालि का विरक्त होना, रावण की लक्ष्मण के हाथों से मृत्यु ।

पउमचरिय की भाषा और शैली सरल और प्रवाहयुक्त है । कवित्व की अपेक्षा कथा कहने की ओर कवि का अधिक ध्यान प्रतीत होता है । महाराष्ट्री में रचित इस कृति की भाषा में जहाँ तहाँ अपभ्रंश का भी आभास मिलता है।[2] गाथा छंद की कृति में अधिकता है किन्तु अन्य छंदों का भी प्रयोग मिलता है।[3]

कृति के रचयिता विमलसूरि के विषय में विशेष कुछ भी ज्ञात नहीं है । अन्त में कवि ने अपने को राहु नामक आचार्य के शिष्य विजय का शिष्य बताया है, विजय को नाइल कुल वंशोद्भूत (नागिल वंश) कहा है । अपने को भी विमलसूरि ने इसी वंश में उत्पन्न हुआ कहा है । राहु और विजय के संबंध में कुछ ज्ञात नहीं है । कृति का रचनाकाल कवि ने वीर निर्वाण तिथि का ५३० वाँ वर्ष बताया है।[4] इसका तात्पर्य होगा कि कृति की रचना ४ या ६४ ई० में हुई।[5] यवन ज्योतिष, भाषा तथा छंदों के प्रयोग के आधार पर विद्वानों का अनुमान है कि कृति ईस्वी सन् की चतुर्थ शती से पहिले की रचना नहीं हो सकती ।[6]

पादलिप्ताचार्य :

तरंगवती नामक सुन्दर कथा-ग्रंथ के केवल उल्लेखमात्र मिलते हैं, पादलिप्त बहुत प्राचीन काल में हुए थे इसके प्रमाण उनकी लुप्त कृति तरंगवतीकथा के प्राचीन कृतियों में पाये जाने वाले उल्लेख हैं ।[7] तरंगवती कथा का एक संक्षिप्त

---

१. जैसे राक्षसों को विद्याधर कहना, बानरों की उत्पत्ति, हनुमत् जन्मकथा (उद्देश १५-१८) हनुरुहपुर में जन्म होने के कारण हनुमान नाम पड़ा । रावण के दशमुखों का स्पष्टीकरण उसके गले में एक हार था जिसमें दशप्रतिबिंब दिखने से उसका नाम दशानन पड़ा आदि ।

२. उपाध्ये, परमात्मप्रकाश, भूमिका, पृ० ८६ टिप्पणी ।

३. के० ह० ध्रुव, पद्यरचनानी ऐतिहासिक आलोचना, (बंबई, १९३२) पृ० २८१ ।

४. पउमचरियं ११८.१०३ ।

५. एम० विंटरनित्स, हि० इं० लि०, भाग २ महावीर का निर्माण काल, पृ० ६१४-६१५ ।

६. एम० विंटरनित्स, वही पृ० ४७८ ।

७. तरंगवती का उल्लेख अनुयोगद्वार सूत्र, आवश्यक विशेष भाष्य (जिनभद्र

उन्होंने जाबालिपुर में की। रचनाकाल कवि ने शक सं० ७०० दिया है ।[१] उद्योतन सूरि का दीक्षा के पश्चात् दाक्षिण-चिह्न नाम प्रचलित हो गया था। हरिभद्र तथा उद्योतनसूरि में गुरु-शिष्य का संबंध था। अन्य अनेक लेखकों के कृति में नाम मिलते हैं ।[२] ऐतिहासिक, सामाजिक, भाषा आदि अनेक दृष्टियों से कृति महत्वपूर्ण है।

पादलिप्त, हरिभद्र, उद्योतनसूरि आदि की लौकिक कथा कृतियों के समान अन्य और भी कथा कृतियों की रचना हुई होगी। कुछ के अस्पष्ट उल्लेख प्राप्त कृतियों में मिलते हैं। इस प्रकार की लौकिक कथाएँ साहित्यिक सरसता लिए हुए हैं, धार्मिक आवरण इनमें बहुत हल्का है। जैन साहित्य में एक दूसरे प्रकार का कथासाहित्य मिलता है जिसका प्रधान दृष्टिकोण धार्मिक है। संप्रदाय के प्रसिद्ध पौराणिक तथा धार्मिक ऐतिहासिक पुरुषों को आधार बनाकर अनेक कथा ग्रंथों की रचना हुई है। इसी कोटि में एक दूसरे प्रकार के कथा ग्रंथ मिलते है जिनमें धर्मोपदेश-प्रधान अनेक कथाएँ संग्रहीत मिलती हैं। ऐसी कृतियों में मूल गाथाओं की टीका के रूप में कथाएँ कही गई हैं। आगे इस साहित्य का अत्यंत संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत किया जा रहा है।

जयसिंह सूरि :

उपदेशों से युक्त मूलगाथाओं के भाव को स्पष्ट करने के लिए जैन साहित्य में अनेक कथाओं की सृष्टि हुई है। धर्मदास गणि की उपदेशमाला जैसी रचनाओं की मूलगाथाओं ने अनेक कथानकों को रचना के लिए लेखकों को उत्साहित किया है। जयसिंह सूरि ने भी ९८ मूल गाथाओं को स्पष्ट करने के लिए दानादि सर्वमान्य धार्मिक नैतिक सदुपदेशों से संबंधित १५६ कथाओं की सुन्दर प्राकृत गद्य-पद्य में रचना की है।[३] इन कथाओं में अनेक प्रकार के मनोरंजक प्रसंग मिलते हैं, साहित्यिक, सामाजिक, ऐतिहासिक दृष्टि से महत्वपूर्ण सामग्री यत्रतत्र बिखरी मिलती है ।[४] कृति में जयसिंह सूरि ने अपना परिचय भी दिया है। मूल गाथाओं

---

१. भा० वि०, वही, पृ० ८१ ।

२. यथा पादलिप्त, षटपर्णक, गुणाढ्य, व्यास, वाल्मीकि, वाण, विमल आदि के तथा कुछ कथा कृतियों के भी उल्लेख मिलते हैं।

३. धर्मोपदेश माला विवरण, भारतीय विद्या भवन, बंबई, १९४९ ई०, लालचन्द्र भगवान्दास गान्धी द्वारा संपादित ।

४. वही, प्रस्तावना पृ० ४–५ ।

के रचयिता कौन थे इसका कोई स्पष्ट प्रमाण नहीं मिलता। सं० ९१५ वि० में प्रस्तुत **धर्मोपदेश माला विवरण** की रचना कृष्णमुनि के शिष्य जयसिंह सूरि ने नागौर नगर में की।[1] सूरि की अन्य कोई कृति उपलब्ध नहीं हुई है।

शीलाचार्य :

जैन संप्रदाय में मान्य ६३ महापुरुषों[2] को लेकर अनेक कृतियों का प्रणयन हुआ है। शीलाचार्य या शीलांक सूरि ने इन महापुरुषों के चरित्रों का वर्णन अपनी विशाल कृति **महापुरुष चरित** में किया है। कृति का रचना काल ९२५ वि० सं० (८६८ ई०) है।[3]

विजयसिंह सूरि :

विजयसिंह सूरि ने एक विशाल चम्पू ग्रंथ भुवनसुन्दरी कथा की रचना सन् ९१७ ई० में की।[4]

कालकाचार्य कथानक :

अज्ञात नाम और काल वाले किसी कवि की एक रचना आचार्य कालक के कथानक से संबंधित मिलती है जिसमें उज्जैन के राजा गर्दभिल्ल की पराजय की कथा है। कृति का रचनाकाल दसवीं शती ई० के आसपास हो सकता है।[5]

---

१. वही, प्रस्तावना, पृ० १० और आगे।

२. २४ तीर्थंकर, भरतादि १२ चक्रवर्ती, रामादि ९ वासुदेव-अर्धचक्रवर्ती, तथा इनके प्रतिस्पर्धी रावणादि ९ प्रतिवासुदेव तथा वासुदेवों के भ्राता ९ बलदेव इस प्रकार सब ६३ महापुरुष हैं, जिनको शलाका पुरुष कहा जाता है। कुछ आचार्य ९ बलदेवों की गणना शलाका पुरुषों में नहीं करते और ५४ शलाकापुरुष ही मानते हैं।

३. एनल्स भं० ओ० रि० इं० १९३४–३५ पृ० ३६ तथा जिनरत्नकोश पृ० ३०५।

४. ए० भं० ओ० रि० इं० १९३४-३५ पृ० ३६ तथा जिनरत्नकोश को पृष्ठ २९८।

५०. प्रस्तुत कृति का एक रूप डा० याकोबी द्वारा संपादित होकर जेड डी० एम० जी० भाग ३४, १८८० ई० में प्रकाशित हुआ है। इसी कृति के अनेक रूपान्तर अंग्रेजी अनुवाद सहित डबल्यू० नार्मन ब्राउन द्वारा संपादित होकर प्रकाशित हुए हैं, वाशिंगटन, यू० एस० ए० १९३३ ई०, तथा ओरिएंटल कालेज लाहौर से प्रकट होने वाली पत्रिका में डा० बनारसीदास द्वारा कुछ अंश हिन्दी में अनूदित हुआ है।

धनेश्वर मुनि :

गाथाबद्ध १६ परिच्छेदों में समाप्त सुरसुन्दरी चरित्र[1] सुन्दर प्रेमाख्या है। विद्याधर और सुरसुन्दरी की प्रेम कथा कृति का विषय है जो अनेक आशा निराशाओं के पश्चात् अन्त में परिणय द्वारा मिलते हैं। कृति में पर्याप्त काव्यात्मकता है। इस सरस कृति की रचना कवि ने चड्डावल्लिपुरी में गुरु की आज्ञा से सं० १०९५ वि० में की। धनेश्वर नामक अनेक जैन कृतिकार हुए हैं, प्रस्तुत धनेश्वर मुनि जिनेश्वरसूरि के शिष्य थे, मुनि ने और भी अनेक कृतियों की रचना की है।[2]

महेश्वरसूरि :

गाथाबद्ध दस आख्यान महेश्वरसूरि की कृति ज्ञान पंचमी कथा[3] में हैं। दसों कथाओं में २००० गाथाएँ हैं। प्रत्येक आख्यान में पंचमी व्रत से संबंधित एक आख्यान है। अन्तिम भविष्यदत्त आख्यान है, जो अपभ्रंश कृति भविष्यदत्त कथा में और भी विस्तार के साथ उपलब्ध होता है। कृति में ग्रथित आख्यानों में राजाओं, द्वीपों, नगरों आदि के मनोरम काव्यमय वर्णन तथा प्रचुर सुभाषित मिलते है।[4]

महेश्वर सूरि का समय निश्चित नहीं है। ज्ञानपंचमी कथा की प्राचीनतम प्रतिलिपि सं० ११०९ की मिलती है अतः महेश्वर सूरि ११०९ वि० सं० के पूर्व अवश्य हुए हैं।[5] कृति की पुष्पिका में उन्होंने अपने को सज्जन उपाध्याय का शिष्य कहा है। महेश्वर सूरि नामक अनेक जैन कृतिकार हुए हैं किन्तु प्रस्तुत महेश्वर सूरि से कुछ पीछे हुए हैं, केवल संजम मंजरी[6] के रचयिता महेश्वर

---

१. जैन विविध साहित्य शास्त्रमाला संख्या १, संपादक मुनिराज श्रीराज विजय, बनारस १९१६ ई०।
२. दे० कृति में संपादक की भूमिका।
३. सिंघी जैन ग्रंथमाला में डा० अ० स० गोपाणी द्वारा संपादित होकर भारतीय विद्या भवन बंबई से प्रकाशित, १९४९ ई०।
४. ज्ञानपंचमी, भूमिका पृ० २९,३५ तथा महेश्वरकृत पंचमी माहात्म्य और तद्गत सुभाषित भारतीय विद्या १९४२, भाग २, अंक २।
५. ज्ञा० पं० की भूमिका पृ० ७, ८ तथा पृ० १०।
६. वही भूमिका पृ० ८,१०।

सूरि को इनसे अभिन्न माना जा सकता है किन्तु कोई निश्चित प्रमाण इसका नहीं है। महेश्वर सूरि की अन्य कोई कृति उपलब्ध नहीं हुई है।

चंद्रप्रभ महत्तर :

गाथाबद्ध जैन महाराष्ट्री में रचित विजयचन्द्र चरित[1] के दो रूपान्तर प्राप्त होते हैं, एक छोटा है दूसरा वृहत्काय। चंद्रप्रभ ने इस कथा कृति में जिनपूजा से मिलनेवाली शुभ गति को स्पष्ट करने के लिए आठ कथाएँ कही हैं। चंद्रप्रभ ने जिनपूजा के विविध प्रकारों का चित्रण अपनी कृति द्वारा किया है। वे अभ्यदेव सूरि के शिष्य थे। अपने शिष्य वीरदेव गणि के आग्रह से वि० सं० ११२७ में देववाड नगर में उन्होंने प्रस्तुत कृति की रचना की।

जिनेश्वर सूरि :

कथाकोश प्रकरण[2] का मूल (३० गाथायें) और उसकी वृत्ति रूप गद्यकथाएँ दोनों ही जिनेश्वर सूरि की रचनाएँ हैं। इन कथाओं में जिनदेव की पूजा करने के फल आदि विषयों को लेकर श्रावकों को उपदेश दिया गया है। कथाओं की भाषा प्राकृत गद्य है, जहाँ तहाँ संस्कृत पद्य भी उद्धृत किए गए हैं और दो एक स्थलों पर अपभ्रंश के पद्य भी मिलते हैं।[3] इन कथाओं में लेखक की मौलिकता के अनेक स्थलों पर दर्शन होते हैं। भाव, भाषा-कौशल, अलंकृत शैली तथा तत्कालीन परिस्थिति आदि अनेक रूपों में लेखक की बहुज्ञता का परिचय मिलता है। विभिन्न संप्रदायों में परस्पर ईर्ष्या द्वेष के मनोरंजक चित्र जहाँ तहाँ इन कथाओं में मिलते हैं।[4] जिनेश्वर सूरि ने कृति की अन्तिम प्रशस्ति में कुछ उल्लेख किए हैं जिनसे ज्ञात होता है कि उन्होंने वि० सं० ११०८ में इस कृति की रचना की। वे आचार्य वर्द्धमान सूरि के शिष्य थे, इस कृति को उन्होंने जाबालिपुर (जोधपुर राज्य में जालोर) में समाप्त किया।[5] जिनेश्वर सूरि बड़े प्रभावशाली आचार्य

---

१. कृति का एक रूपान्तर जैन धर्म प्रसारक सभा भावनगर से प्रकाशित हो चुका है, १९०६ ई० तथा वहीं से कृति का गुजराती भाषान्तर भी प्रकट हुआ है। जि० र० को० पृ० ३४५।

२. सिंघी जैन ग्रंथमाला ग्रन्थांक ११, संपा० आचार्य जिनविजय मुनि, भारतीय विद्या भवन, बंबई १९४९ ई० :

३. वही, पृ० ४२, ३।

४. वही, भूमिका पृ० १०६-१२३।

५. वही, भूमिका, पृ० २ और आगे।

थे। उनके जीवन के संबंध में समकालीन तथा परवर्ती कृतिकारों ने पर्याप्त लिखा है।[1] कथाकोश प्रकरण के अतिरिक्त उन्होंने एक और बड़ी कथा, प्राकृत गाथा बद्ध कृति निर्वाण लीलावती कथा की रचना की थी किन्तु यह रचना अभी तक उपलब्ध नहीं हुई है। संस्कृत में रचित इस कृति का एक सार प्राप्त हुआ है।[2] इसके अतिरिक्त सूरि ने कुछ अन्य ग्रंथों की भी प्राकृत में तथा संस्कृत में रचना की जिनमें संप्रदाय के सिद्धान्तों तथा धार्मिक विषयों का विवेचन किया है।[3]

गुणचंद्र मुनि :

अन्तिम तीर्थंकर को लेकर गुणचंद्र मुनि ने अपनी विशालकाय कृति महावीर चरित[4] की आठ प्रस्तावों में प्राकृत गद्य पद्य में रचना की है। संप्रदाय में प्रचलित चरित्र को ही आधार बनाकर मुनि ने लगभग आधी कृति में महावीर के पूर्व जन्मों की कथा कही है और फिर उनके जन्म से लेकर निर्वाण तक की कथा शेष कृति में कही गई है। इस प्रकार कथावस्तु में कोई मौलिकता न होकर वर्णन शैली में काव्य की छटा देखने को मिलती है। राजा, नगर, वन आदि के सजीव वर्णन कृति में मिलते हैं, जिन पर संस्कृत काव्यशैली का स्पष्ट प्रभाव लक्षित होता है। कृति में अपभ्रंश पद्य भी जहाँ तहाँ मिलते हैं। भाषा परिष्कृत व्याकरण सम्मत प्राकृत (महाराष्ट्री) है।

कृति के अन्त में रचयिता ने जो प्रशस्ति दी है उसमें कहा है कि अपने गुरु सुमतिवाचक के वचनों से उत्साहित होकर प्रस्तुत कृति की उन्होंने रचना की। अपने हितैषी श्रेष्ठि वीर का भी वृत्तान्त कवि ने दिया है। कृति का रचना काल सं० ११३६ वि० दिया है।[5]

हेमचंद्र :

कुमारपालचरित[6] का एक अंश प्राकृत में है जिसको हेमचंद्राचार्य ने प्राकृत

---

१. वही, भूमिका पृ० ७ और आगे।
२. वही, भूमिका पृ० ६६।
३. वही, भूमिका पृ० ४३ और आगे।
४. देवचंद लालभाई जैन पुस्तकोद्धार ग्रन्थांक ७५, बंबई, १९८५ वि० सं०।
५. महावीर चरित प्रस्ताव ८, पद्य ४९ और आगे।
६. एस० पी० पंडित द्वारा संपादित, प्रथम संस्करण, बंबई, १८७२ ई०, द्वितीय संस्करण, डा० पी० एल० वैद्य द्वारा संपादित, भंडारकर इंस्टीट्यूट, पूना, १९३२ ई०।

द्वयाश्रय महाकाव्य नाम दिया है। संपूर्ण कृति में २८ सर्ग हैं जिनमें से प्रथम २० सर्ग संस्कृत में हैं। अंतिम आठ सर्ग प्राकृत तथा अपभ्रंश में है। संपूर्ण कृति की रचना दो उद्देश्यों की सिद्धि के लिये हुई है: कुमारपाल के चरित वर्णन तथा संस्कृत और प्राकृत के सिद्ध रूपों के प्रयोग के लिये, इसी कारण कुमारपाल चरित और द्वयाश्रय काव्य दोनों ही नाम प्रस्तुत कृति के लिए प्रयुक्त हुए हैं। हेमचंद्राचार्य के व्याकरण[1] में आठ अध्याय हैं जिनमें से प्रथम सात अध्यायों में संस्कृत व्याकरण का विवेचन है और उसके अनुसार प्रस्तुत काव्य के प्रथम बीस सर्गों में संस्कृत शब्दों का प्रयोग किया है। व्याकरण के आठवें अध्याय में प्राकृत तथा अपभ्रंश का विवेचन है और इनमें आए शब्दों का प्रयोग उदाहरणस्वरूप काव्य के २१-२८ सर्गों में हुआ है। इन दो उद्देश्यों की सिद्धि के लिए जो श्रम किया है उसके कारण कृति में न तो काव्य का स्वच्छंद प्रवाह मिलता है और ऐतिहासिक दृष्टि से न कुमारपाल का चरित्र ही प्राप्त होता है। महाकाव्यों की परिपाटी के समान कुमारपाल का जन्म, शिक्षा, ऋतुवर्णन, चंद्रोदय, युद्ध आदि के वर्णन हैं और संप्रदाय के अनुरोध के कारण कुमारपाल की जैन संप्रदाय में श्रद्धा संसार से विरक्ति आदि प्रसंगों का प्रणयन हुआ है। स्त्री निंदा भी कठोर शब्दों में की गई है।[2] काव्य पक्ष अत्यंत दुर्बल है, जहाँ तहाँ उक्ति-चमत्कार तथा विरल सरस उक्तियाँ भी मिलती हैं।[3] शब्दों के प्रयोगों की विवशता के कारण कवि को चमत्कारहीन अलंकारों के भी प्रयोग करने पड़े हैं।[4] जो हो जिस उद्देश्य से कृति को आचार्य ने लिखा है उस दृष्टि से कृति उनकी प्रतिभा का पूर्ण परिचय देती है। कृति में संस्कृत प्राकृत और अपभ्रंश के छंदों का प्रयोग हुआ है।[5]

कुमारपालचरित के अतिरिक्त हेमचंद्र ने जैन सिद्धान्त, काव्य समीक्षा, व्याकरण, छंद, पुराण, कोष अनेक प्रकार के ग्रंथ लिखे हैं[6]। प्राकृत से संबंधित

---

१. सिद्धहेमः प्राकृत अंश, डा० वैद्य द्वारा संपादित होकर पूना से सन् १९-३६ में प्रकाशित।

२. प्राकृत द्वयाश्रय काव्य ७.२४, ७.२७।

३. यथा, वही, २.४०, २.४७, ३.६६, ४.७ इत्यादि।

४. यथा देखिए, यमक प्रयोग, वही ३.३ अहिमज्जु, अहिमञ्जु।

५. गाथा, वदनक आदि प्राकृत छंदों तथा दोहादि अपभ्रंश छंदों के प्रयोग किए हैं।

६. देशीनाममाला, पना १९३४ ई० दे० भूमिका।

उनकी दो कृतियाँ और हैं । देशीनाममाला और छंदोनुशासन ।[1] प्रथम में देशी शब्दों का संग्रह है दूसरे में संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश के छंदों का विवेचन है।

अपनी प्रतिभा और पांडित्य के प्रभाव से हेमचन्द्र ने जैन धर्म को गुजरात में राजधर्म के रूप में प्रतिष्ठित किया। जैन संप्रदाय में उन्हें 'कलिकाल सर्वज्ञ' उपाधि से विभूषित किया गया । उनका जन्म सं० ११४५ वि० में गुजरात के धन्धूका ग्राम में हुआ था । बाल्यावस्था का उनका नाम चंगदेव था । दीक्षा के पश्चात् उनका नाम सोमचंद्र हुआ । मुनि देवचंद्र ने उन्हें सं० ११५० में दीक्षा दी । सं० ११६६ में गुरु की गद्दी पर बैठने के पश्चात् सूरि आचार्य की उपाधि धारण की और जैन साधुओं की प्रथा के अनुसार उनका नाम हेमचंद्र हुआ । उनके प्रथम आश्रयदाता चौलुक्य राज जयसिंह सिद्धराज (११५०-११९९ वि० सं०) थे। वे शैव मतानुयायी थे । जयसिंह की मृत्यु के पश्चात् उनके पौत्र कुमारपाल गुजरात के शासक हुए । हेमचंद्र के प्रभाव के कारण ही कुमारपाल की प्रवृत्ति जैन धर्म में हुई । हेमचंद्र की मृत्यु सं० १२२९ वि० में हुई । उनके महत्व और प्रभाव की व्याख्या करने वाली अनेक कथाएं जैन संप्रदाय के ग्रंथों में मिलती है ।[2]

लक्ष्मण गणि :

सातवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ के चरित्र को लेकर लक्ष्मण गणि ने ८७०० गाथाओं में सुपार्श्वनाथ चरित (सुपासनाह चरिअ)[3] की रचना की है । जैन साहित्य में तीर्थंकरों के चरित्रों के वर्णन की शैली के अनुसार पार्श्वनाथ के पूर्व भवों (जन्मों) का वर्णन करके तीर्थंकर के जन्मादि की कथा कही गई है। पार्श्वनाथ अन्त में विरक्त हो जाते हैं। अपने पुत्र शेखर के पूछने पर वे व्रतों, सम्यकत्व व्रत का उपदेश देते हैं । व्रतों के फल को स्पष्ट करने के लिये कथाएँ दृष्टांत रूप में कही गई है । इन कथाओं में से अनेक कथाओं में प्रेम और आश्चर्यपूर्ण प्रसंग

---

१. बंबई संस्कृत सीरीज ग्रंथ १७ भंडारकर इं० पूना से प्रकाशित, द्वितीय संस्करण, १९२४ ई० ।
छंदोनुशासन, प्रथम संस्करण, बंबई १९१२ ई०, अध्याय ४ से ८ तक जर्नल बंबई सं० ए० सो० १९४३,४४ में प्रकाशित ।

२. द लाइफ़ अव् हेमचंद्राचार्य, जी० व्यूलर द्वारा जर्मन में लिखित, अंग्रेजी अनुवाद डा० मणिलाल पटेल, सिंघी जैन ग्रंथमाला में प्रकाशित १९३६ ई०।

३. पं० हरगोविन्द दास द्वारा संपादित होकर जैन विविध साहित्य शास्त्रमाला में प्रकाशित, बनारस, १९१८ ई० ।

मिलते हैं ।[1] वर्णन और सुभाषितों के प्रयोग कृति की दूसरी विशेषता है ।[2] कृति की प्राकृत सरल और स्वाभाविक प्रवाह युक्त है । काव्यमय शैली का अनुकरण नहीं किया गया है। अनेक स्थलों पर अपभ्रंश पद्य भी उद्धृत किए गए हैं ।[3]

ग्रंथ की अंतिम प्रशस्ति में लक्ष्मण गणि ने अपने को मलधारी हेमचंद्र सूरि का शिष्य कहा है और सं० ११९९ वि० में कृति की रचना धन्धूका ग्राम में करने की सूचना दी है ।

सोमप्रभाचार्य :

सुमतिनाथ चरित्र[4] और कुमारपालप्रतिबोध[5] दो प्राकृत कृतियाँ सोमप्रभाचार्य की उपलब्ध हुई हैं । प्रथम में पाचवें तीर्थंकर सुमति का चरित्र है, कृति का आकार ९५०० श्लोक के बराबर है । दूसरी कृति पाँच प्रस्तावों में विभक्त है । कृति में अणहिल्लपुर के चौलुक्यवंशी राजा कुमारपाल के हेमचंद्र द्वारा जैन धर्म में दीक्षित होने की कथा है । अन्य धर्मों द्वारा राजा को बोध नहीं हुआ । कृति में धर्म के विविध अंगों की व्याख्या करने के लिये अनेक दृष्टान्तों की सृष्टि की गई है । उपदेशों को छोड़कर कृति में इस प्रकार की लगभग ५८ कथाएँ हैं । इन कथाओं में गद्य और पद्य दोनों का प्रयोग हुआ है । प्राकृत के अतिरिक्त संस्कृत और अपभ्रंश के भी प्रयोग कृति में अनेक स्थलों पर हुए हैं ।[6] कथाएँ अनेक प्रकार की हैं किन्तु सभी को अन्त में धार्मिकता की ओर मोड़ दिया है । सुभाषितों और सरस वर्णनों के कारण कथाओं में पर्याप्त रस मिलता है । कृति का उद्देश्य

---

१. जैसे, भुवन पताका कथा में भुवन पताका के परिणय तथा अपहरण के प्रसंग, स्वयंवर आदि, वही पृ० २८५ और आगे ।

२. यथा, वही पृ० २९२ पद्य ११०, १११, पृ० २९३ पद्य १५५ इत्यादि ।

३. दे० आगे अपभ्रंश अध्याय ।

४. कुमारपाल प्रतिबोध, पृ० ६, पद्य ६९ । ७१, जि० र० को० पृ० ४४६ ।

५. गायकवाड़ ओरिएंटन सीरीज़ नं० १४, बड़ौदा, १९२०, दे० आल्सडर्फ आल्ट उंड न्यू इंडिशे स्टूडिएन, हाम्बुर्ग १९२८, ए० भं० ओ० रि० इं० भाग २ पृ० १, २१ ।

६. यथा कु० प्र० पृ० १४७-८, १७५, १७९ इत्यादि । कुछ कथाएँ संपूर्ण संस्कृत पद्यों में हैं, पृ० ३२१-३२८, ३३५-३४२, ३५६-३६४ इत्यादि । अपभ्रंश के लिए दे० आगे अपभ्रंश का अध्याय। कुमारपाल प्रतिबोध के अपभ्रंश अंशों का प्रो० आल्सडर्फ ने अलग अध्ययन प्रस्तुत किया है ।

जैनधर्म की श्रेष्ठता सिद्ध करना है अतः कुमारपाल के संबंध में कोई ऐतिहासिक उल्लेख नहीं मिलते। सोमप्रभाचार्य ने कृति की रचना सं० १२४१ वि० में की। उपर्युक्त प्राकृत ग्रन्थों के अतिरिक्त सोमप्रभ के कुछ संस्कृत ग्रन्थ भी मिलते हैं।[1]

जिनहर्षगणि :

पौषध व्रत के दृष्टांत के रूप में कथित रत्नशेखर नरपति कथा[2] (रण-सेहरीकहा) जिनहर्षगणि कृत एक सुन्दर प्रेमाख्यान है। रत्नपुर नगरी का राजा रत्नशेखर रत्नवती का रूप वर्णन सुनकर उसके लिये व्याकुल हो जाता है। रत्नवती सिंहलद्वीप के राजा की पुत्री थी। दोनों के प्रेम को कवि ने जन्मजन्मान्तरों का पुराना प्रेम बताया है। राजा सिंहल जाता है और जिस मंदिर में रत्नवती कामदेव की पूजा करने जाती थी वहीं प्रतीक्षा करता है। दोनों का परिणय हो जाता है। कृति में इंद्रजाल, योग आदि के भी उल्लेख हैं।

कृति में सरल प्राकृत गद्य और पद्य का प्रयोग हुआ है। अपभ्रंश पद्यों का भी प्रयोग हुआ है।[3] प्रस्तुत कथा लोक प्रचलित रूप से ग्रहण की हुई जान पड़ती है। प्रेम प्रसंग, सिंहल, रत्नशेखर, पद्मावती आदि नाम लोक में प्रचलित कथाओं में प्रयुक्त होते होंगे। जिनहर्ष ने प्रस्तुत कृति की रचना चित्रकूट नगर में की थी। उनका समय पंद्रहवीं शती का अन्तिम चरण है।[4]

रत्नशेखर सूरि :

श्री श्रीपाल कथा (सिरि सिरिवाल कहा)[5] भी धार्मिक आवरण से युक्त एक लोकप्रिय कथा है जिसकी रचना कवि ने सं० १४२८ वि० में की थी।

अनंतहंस :

अनंतहंस ने २०७ प्राकृत गाथाओं में एक छोटी सी कथा कृति कुर्मापुत्र कथा[6] (कुम्मापुत्त कहा) की रचना की है जिसमें भाव शुद्धि की महिमा वर्णित है।

---

१. कुमारपाल प्रतिबोध, भूमिका, पृ० ७-८।
२. जैन आत्मानंद सभा, भावनगर से प्रकाशित, १९१७ ई०।
३. वही पृ० १५ तथा पृ० २७।
४. कृति के अंत में पद्य १४९-१५० में कवि ने अपने संबंध में कुछ उल्लेख किए हैं।
५. देवचंद लालभाई पुस्तकोद्धार सीरीज संख्या, ६३, भावनगर, १९२३ ई०।
६. पी० एल० वैद्य तथा के०बी० अभ्यंकर द्वारा संपादित, अहमदाबाद १९३२ ई०।

जैन प्राकृत साहित्य का उपर्युक्त विवेचन किसी भी प्रकार से पूर्ण नहीं है। उसका प्रकाशन नाना दिशाओं में हुआ है अतः उस सबको देखना भी सम्भव नहीं है और अप्रकाशित साहित्य को देखने के लिये सम्पूर्ण जीवन भी कदाचित् कम समय होगा। जिनरत्नकोश के आधार पर इस प्रकार की कुछ साहित्यिक कृतियों का और उल्लेख किया जा सकता है। यह कृतियाँ संप्रदाय के महापुरुषों के जीवन से ही प्रायः संबंधित हैं।[1] इस काव्य-कथा साहित्य के अतिरिक्त अनेक विशेष विषयों से संबंधित रचनाएँ भी प्राकृत में लिखी गईं किन्तु प्रस्तुत निबन्ध से उनका विशेष संबंध न होने के कारण यहाँ उनका परिचय नहीं दिया गया है।[2] जैन महाराष्ट्री के अतिरिक्त सुदर्शनाचरित[3] (सुदंसणा चरियं-शकु-

---

१. वर्धमान रचित १५०० गाथाओं की 'मनोरमा चरित्र' जिसकी रचना सं० ११४० वि० में हुई। इनकी दूसरी कृति सं० ११५० वि० में रचित आदिनाथ चरित्र है। इस कृति में अपभ्रंश पद्य भी हैं। जि० र० को० पृ० ३०१ तथा ए० भं० ओ० रि० इं० १९३४-३५, पृ० ३८, गुणसेन के शिष्य देवचन्द्र ने सं० ११६० में शान्तिनाथ चरित की रचना की जो १२१०० श्लोक के बराबर वृहत्काय है। इस कृति की प्रस्तावना में अनेक ग्रन्थकारों का नामोल्लेख है। इस कृति में भी अपभ्रंश पद्य मिलते हैं। वृहद् गच्छ के शान्त्याचार्य ने सं० ११६१ में पृथ्वीचन्द्र चरित लिखा। देवभद्रगणि ने भड़ोच में सं० ११६८ में पार्श्वनाथ चरित्र की रचना की। हेमचन्द्र के समसामयिक मलधारी हेमचंद्र ने ५००० गाथाओं में नेमिनाथ चरित्र लिखा। हेमचन्द्र के एक शिष्य श्रीचन्द्र ने० सं० ११९३ में मुनिसुव्रतस्वामि चरित की रचना की, जिसमें राम का भी चरित्र है। श्रीचन्द्र के शिष्य हरिभद्र ने मल्लिनाथ चरित तथा चन्द्रप्रभ चरित दो प्राकृत काव्यों की रचना की। एक अज्ञात कवि की रचना १२९६ गाथाओं के परिणामवाली मलयसुन्दरी कथा है। इस प्रकार और भी अनेक महापुरुषों तथा कल्पित पात्रों से संबंधित रचनाएँ मिलती हैं।

२. यथा नैमित्तिक शास्त्र से संबंधित दुर्गदेव कृत रिष्टसमुच्चय, भारतीय विद्या भवन, बंबई; सामुद्रिक से संबंधित कृति करलक्खण भारतीय ज्ञानपीठ काशी।

नाम माला, देशीनाममाला, छंदों पर कृतियाँ इत्यादि।

३. आत्मवल्लभ ग्रन्थ सिरीज १०, अहमदाबाद, १९३२ ई०।

निका विहार) जैसी अन्य कथा कृतियां अन्य प्राकृतों में भी मिलती हैं। स्वतंत्र ग्रंथों के अतिरिक्त टीकाओं के रूप में प्राकृत में विपुल कथा साहित्य विखरा पड़ा है। गाथा पद्यों के अतिरिक्त कहीं कहीं अन्य छंदों का भी जैन प्राकृत में प्रयोग मिलता है।[1]

इस साहित्य पर दृष्टिपात करने से कथा कहने के अनेक प्रकारों के दर्शन होते हैं। धार्मिक, लौकिक, स्वतंत्र तथा अवान्तर कथाएँ एक सूत्र में पिरोने के ढंग आदि अनेक विशेषताएँ मिलती हैं। अनेक विशुद्ध लौकिक[2] कथाओं के उदाहरण मिलते हैं जिनपर कुछ प्रसंगों द्वारा ही धार्मिक आवरण चढ़ाया गया है। धार्मिक तत्त्व और उपदेशातमकता के साथ साथ इस साहित्य में पर्याप्त साहित्यिकता, मनोरंजक कल्पना, नाना प्रकार के सत्य सामाजिक चित्रों के साथ इस साहित्य में मिलते हैं। जैन साहित्य की इस धारा ने अवश्य ही न्यूनाधिक रूप से अन्य भारतीय साहित्य की धाराओं को उत्साहित तथा प्रभावित किया होगा।

---

१. यथा, उपदेशसप्ततिका, (भावनगर, १९१७ई०) में संस्कृत छंदों का प्रयोग हुआ है।

२. निशीथ चूर्णी में अनेक लौकिक कथाओं का उल्लेख मिलता है, नरवाहन दत्त की कथा, मगधसेना, तरंगवती कथाओं के उल्लेख, सिद्धसेन गणि के तत्वार्थसूत्र में वंधुमती आख्यायिका का उल्लेख इत्यादि।

२

साहित्यिक प्राकृत

प्राकृत में विशुद्ध ऐहिकतापरक (सेक्यूलर) ललित साहित्य की भी रचनाएँ हुई हैं और उनमें से अनेक बहुत ही श्रेष्ठ हैं। रूपक उपरूपकों में तो सभी प्राकृतों का प्रयोग मिलता है, किन्तु मुक्तक तथा प्रबन्धात्मक काव्यों की रचना महाराष्ट्री प्राकृत में ही हुई है। मुक्तक पद्यों की रचना महाराष्ट्री प्राकृत में ही हुआ करती थी कदाचित् इसीलिए रूपकादि में स्त्रियों के द्वारा गाए जाने वाले गीतों की भाषा महाराष्ट्री निर्दिष्ट की गई है। काव्य की भाषा के रूप में महाराष्ट्री प्राकृत की मान्यता होने के कारण ही कदाचित् महाराष्ट्री और प्राकृत पर्यायवाची से हो गए थे।[1] महाराष्ट्री प्राकृत में प्राप्त साहित्य को दो वर्गों में विभाजित कर सकते हैं :

१. मुक्तक पद्यों के रूप में प्राप्त होने वाला साहित्य।

२. प्रबंधात्मक काव्य।

अ. मुक्तक साहित्य :

यह साहित्य दो रूपों में मिलता है। प्रथम, संग्रह-कृतियों के रूप में और दूसरा रूप है अन्य ग्रन्थों में उद्धृत पद्यों के रूप में।

१. संग्रह कृतियों:—अभी तक इस प्रकार की दो संकलित कृतियाँ प्राप्त हुई हैं। गाथा सप्तशती और वज्जा लग्ग।

---

१. वररुचि ने प्राकृत प्रकाश में प्राकृत कहकर जिसकी व्याख्या की है वह महाराष्ट्री प्राकृत ही है। कुछ विद्वानों ने महाराष्ट्री की प्राचीनता में संदेह किया है किन्तु यह निर्विवाद रूप से मान्य नहीं है दे० डा० मनमोहन घोष द्वारा संपादित कर्पूरमंजरी की भूमिका कलकत्ता, १९४८।

गाथा सप्तशती[1] : प्राकृत के मुक्तक पद्यों के किसी संग्रह की बाण ने भी प्रशंसा की है[2], वह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि यह संग्रह गाथा सप्तशती ही था। इस समय जो कृति प्राप्त है उसमें ७०० प्राकृत पद्य मिलते हैं। क्यों इतने पद्य ही संकलित किए इसके संबंध में प्रस्तुत कृति में कोई उल्लेख नहीं मिलता। एक पद्य में कहा गया है कि 'कवि वत्सल हाल ने कोटि अलंकृत गाथाओं में से सात सौ का संकलन किया।"[3]

कृति में संग्रहीत प्रत्येक गाथा अपने आप में पूर्ण हैं, किसी पद्य के अर्थ या प्रसंग की पूर्णता के लिए दूसरे पद्य की आवश्यकता नहीं है। संग्रहकर्ता की सरस मनोवृत्ति के परिचायक कृति के सभी पद्य सरस और कोमल कल्पना से युक्त हैं। ध्वनि की सहायता लेकर और कहीं कहीं अपनी प्रखर ग्राहिका बुद्धि के बल पर टीकाकारों ने सभी पद्यों की शृंगार परक व्याख्या की है, किन्तु ये व्याख्याएँ पूर्णतः ठीक नहीं हैं। कहीं कहीं स्वयं टीकाकारों ने भी इस सत्य को स्वीकार किया है।[4] गाथा सप्तशती के अनेक पद्य सरल ग्रामीण चित्रों से संबंधित, नीति, सुभाषित और लोकोक्तियों, प्रकृति, कृषकों, ग्रामबधुओं, हालिकों, कपाल तिल के खेतों, हरिण, उपवन, नदी, पर्वत, देवों आदि से संबंध रखते हैं। सहृदय पाठक के हृदय में समवेदना जगाने की पूर्ण शक्ति इन पद्यों में है। अनेक पद्यों में हृदय द्रावक

---

१. गाथा सप्तशती का संपादन बड़ी प्रशस्त भूमिका के साथ वेबर ने किया था, लाइपज़िग १८७०, १८८१। काव्यमाला से गंगाधर भट्ट की टीका सहित भी गाथा का प्रकाशन हुआ। काव्यमाला में दूसरा संस्करण भट्ट मथुरा नाथ शास्त्री की टीका सहित प्रकाशित हुआ, बंबई १९३८। ४ से ७ शतक तक दूसरी टीकासहित जगदीशलाल शास्त्री ने संपादित किए हैं, लाहौर, १९४२। मराठी भूमिका और टीका के साथ एक संस्करण पूना से प्रकाशित हुआ है। संपादक स० आ० जोगलेकर प्रसाद प्रकाशन पूना, १९५६ ई०।

२. हर्षचरित : प्रथम उच्छ्वास पद्य १३ में सातवाहन द्वारा सुभाषितों के एकत्र करने का उल्लेख है।

३. काव्यमाला संस्करण १.३।

४. गाथा पृ० ११ पर पद्य १.१८ की टीका में टीकाकार ने स्वीकार किया है, प्राचामनुरोधादनिच्छयापिमयापि शृंगारपरतयैव व्याख्यातानीत्यलं मार्मिकेषु ।

सरस भाव मिलते हैं। विरह का गीत गाती हुई गोपी का चित्र[१], पर्वत के बीच में बसे ग्राम की वर्षा ऋतु में सुषमा[२], ग्रीष्म के दुःसह ताप से झींगुरों की झनकार में जन रुदन की कल्पना,[३] प्रोषितपतिका माता का सुन्दर चित्र,[४] सुन्दर लोकोक्तियाँ और सुभाषितों,[५] दान शील व्यक्ति के दरिद्र होने का दुःख,[६] सज्जन और खलों की क्रमशः स्तुति निंदा [७] आदि अनेक ऐसे पद्य हैं जिन्हें हठपूर्वक कहीं कहीं टीकाकारों ने 'ध्वन्यते' 'सूच्यते' 'व्यंज्यते' शब्दों की सहायता से शृंगार परक माना है। वास्तव में शृंगार के अतिरिक्त जो विस्तृत व्यापक जीवन है उसकी झलक अनेक पद्यों में मिलती है। गाथा के सभी पद्य एक सीमा में बद्ध नहीं किए जा सकते।

किन्तु, शृंगारात्मक पद्य भी बहुत हैं। अनेक प्रकार की नायिकाओं का उनमें संकेत मिलता है। एक वर्ग साध्वी, पति में निष्ठा रखने वाली नायिकाओं का है और दूसरा वर्ग उन वचन चतुरा विदग्ध, निपुण प्रौढ़ा नायिकाओं का है जो अन्य पुरुषों के साथ रमण करने के लिए निश्चित स्थल पर पहुँचने का साहस करती दिखती हैं। नायिकाएँ ही ऐसी साहसिनी नहीं है अनेक नायक भी इसी प्रकार के उच्छृंखल चित्रित किए गए हैं। कुछ पद्यों में सौन्दर्य निरीक्षण की जो प्रवृत्ति दिखती है वह सराहनीय है किन्तु उसके साथ का जो चिन्तन है वह कदाचित् ही उचित कहा जा सकेगा। यथा ग्राम बालिका के सौन्दर्य को देखकर आगे के जीवन में उससे अनर्थ की कल्पना करना।[८] जो हो, गाथा के पद्यों में सरल, आडम्बरहीन वन्य ग्रामीण सौन्दर्य को भी देखा गया है।[९] पथिकों पर तरस खाती हुई, या मोहित होती हुई तरुणियों के चित्र भी मोहक हैं।[१०] कुल वधुओं के अतिरिक्त, कुलटाओं, वेश्याओं की भी कुछ पद्यों में चर्चा मिलती है जिनकी कहीं-

---

१. गाथा,० २.३८।

२. वही, ७.३६।

३. वही, ५.९४।

४. वही, ६.३८।

५. वही, ३.२४, ४.१६, ५.९०, ६.९६।

६. वही, ३.३०।

७. वही, ३.४८, ३.७२, ३.८२, ३.८४, ७.९५ इत्यादि।

८. वही, ५.१०।

९. वही, ६.४५।

१०. वही, २.५६, ४.६४, ५.७३ इत्यादि।

कहीं निन्दा भी की गई है। परपति रमणशीला नायिकाओं को समाज की टीका टिप्पणी का भय रहता था, कुल बधुएँ मर्यादा तथा शील का ध्यान रखती थी।[1] इसी प्रकार गर्भरक्षा आदि सामाजिक नियंत्रणों का भी ध्यान रखना उचित कहा गया है।[2] इन सब अंगों के कारण मिला जुला कर गाथा के पद्यों में स्त्री समाज का एक पूरा चित्र सामने आ जाता है। किन्तु इसमें प्रधान स्वर विलासमय शृंगार का ही है। इस सुरति विलास के कथन में सतर्क कलात्मकता का सहारा लिया गया है। अविधा का इसके लिए प्रयोग न करके व्यंजना का ही सहारा लिया गया है। यह प्रेम व्यापार स्वाभाविक है, संसार का यह एक बड़ा पुराना एवं प्रिय पक्ष रहा है, गाथा के एक पद्य में इसे स्वीकार किया गया है, अपने आप स्नेह-बन्धन से इस प्रेम की शिक्षा मिलती है, कोई उपाध्याय महिलाओं को विलास रसिकता नहीं सिखाता, प्रकृति का वह नियम है।[3] गाथा० में स्त्रियों के प्रति कहीं भी वैराग्य भावना नहीं मिलती। उनके चंचल स्वभाव के विषय में उल्लेख अवश्य मिलते हैं।[4] गाथा० के पद्यों में ग्राम्य जीवन से ग्रहीत चित्रों का अलंकार के उपकरणों (अप्रस्तुत) के रूप में प्रयोग उसके मुक्त वातावरण की एक दूसरी विशेषता है—यथा कपास के समान हंसी,[5] सरकंडे के समान सिधाई,[6] घर के द्वार पर लटकते हुए बंदनवार के समान विरहिणी का सूखना,[7] तथा अरहर (तुवरी)[8], कृषक[9], पलाल की उष्णता,[10] करीषअग्नि,[11] नवागन्तुक का वायनक,[12] ग्रामों की कीचड़,[13] फाल्गुन में पंक फेंकना,[14] सुई के छेद में मूसल

१. गाथा० ४.५५, ५.८०, ८४, ६.१ इत्यादि।
२. वही, ५.८३।
३. वही, ५.७८।
४. वही, ३.६८।
५. वही, ४.६०।
६. वही, ४.५२।
७. वही, ३.६२।
८. वही, ४.५८।
९. वही, ३.७५, ७.८९, ७.९२।
१०. वही, ४.३०।
११. वही, ४.२९।
१२. वही, ४.२८।
१३. वही, ५.४५, ७.८२।
१४. वही, ४.६९।

अड़ाना[१] आदि पद्यकारों की उन्मुक्त दृष्टि के द्योतक हैं, सरस कल्पना और प्रभावोत्पादक अलंकृत वातावरण के बीच बीच में जहाँ तहाँ नीरस अलंकारों के भी प्रयोग पद्यों में मिल जाते हैं।[२]

गाथा० का संग्रहकाल जटिल विवादग्रस्त प्रश्न है। कुछ पद्यों में हाल को इन गाथाओं का संग्रहकर्ता (रचयिता) कहा गया है।[३] पंचम और सप्तम शतक को छोड़कर प्रत्येक शतक की समाप्ति पर एक पद्यांश में 'कविवत्सल प्रमुख सुकवि निर्मिते' पुष्पिका मिलती है। एक गाथा में 'कविवत्सल' हाल का विशेषण बताया गया है।[४] भारतीय साहित्य में कवि के रूप में हाल का कोई उल्लेख अभी तक प्राप्त नहीं हुआ है। सातवाहन का पर्यायवाची कहीं कहीं हाल को अवश्य कहा गया है।[५] प्रस्तुत संग्रह में विक्रमादित्य[६], और सालाहण[७] (शालिवाहन) राजाओं के उल्लेख मिलते हैं। शालिवाहन, सालवाहन तथा सातवाहन एक ही व्यक्ति के नाम हैं। हाल को सातवाहन का एक विरुद या नामांश मान लेने से हाल सातवाहन इस कृति के संग्रहकर्ता ठहरते हैं।

सातवाहन नामवाले अनेक राजाओं का उल्लेख भारतीय साहित्य में मिलता है। एक राजवंश इस नाम का काश्मीर में राज्य करता था।[८] और, एक प्राचीन सातवाहन वंश का राज्य आंध्र देश में भी ई० पू० २२० से २२९ ई० तक रहा।[९] इस वंश में सत्रहवें राजा हाल या हालेय हुए जो कवियों और विद्वानों को आश्रय प्रदान करते थे।[१०] इनका राज्यकाल ६९ ई० से पाँच वर्ष

---

१. वही, ६.१।
२. वही, यथा, यमकादि के प्रयोग, वही, ६.९९।
३. वही, १.३ तथा ७.१०१।
४. वही, १.३।
५. हेमचंद्राचार्य कृत देशीनाममाला, बंबई, १९३८ ई०, 'सालाहणम्मि हालो, (टीका हालो सातवाहनः) ८.६६।
६. वही, ५.६४।
७. वही, ५.६७।
८. कल्हण कृत राजतरंगिणी : ६.३६७ तथा ७.१२८, १७३२।
९. एस० के० आयंगर : हि० इं० स० इं० पृ० ३२४।
१०. हाल सातवाहन के कवियों या विद्वानों के ऊपर कृपा करने का समर्थन सुबंधु की वासवदत्ता, बाण के हर्षचरित, सोमदेव के कथासरित्सागर, नासिक के शिलालेखों तथा पुराणों में प्राप्त उल्लेखों से भी होता है।

तक रहा। काश्मीर के सातवाहन राजाओं में से किसी को गाथा० के संग्रहकर्ता मानने की अपेक्षा आन्ध्रराज हाल सातवाहन के संग्रहकर्ता होने के पक्ष में अधिक प्रमाण मिलते हैं। गाथा० की भाषा महाराष्ट्री प्राकृत है जिसमें दक्षिण आर्यावर्त के अनेक स्थलों के उल्लेख,[१] तथा द्राविड भाषाओं के शब्द [२] मिलते हैं जिससे इन पद्यों का रचनास्थल दक्षिण प्रदेश का समीपवर्ती प्रदेश सिद्ध होता है। प्रतिष्ठानपुर इन राजाओं की राजधानी थी। ज्योतिष [३] आदि के कुछ शब्द गाथा० के पद्यों में मिलते हैं जिनसे गाथा० का संग्रहकाल इतना प्राचीन मानने में कुछ संकोच हो सकता है किन्तु वह तर्क अकाट्य नहीं है। [४] गाथा० का कोई संग्रह अवश्य हाल सातवाहन ने किया होगा। वर्तमान प्राप्त संग्रह वही संग्रहकृति है ऐसा निश्चयात्मक रूप से नहीं कहा जा सकता। गाथा के अनेक संस्करण हुए होंगे, जो संग्रह इस समय उपलब्ध है, उसमें कुछ पद्यों के साथ उनके रचयिताओं के रूप में कुछ कवियों के नाम भी मिलते हैं, उनमें से कुछ का समय सन् ईसवी की ८वीं शती तक है अतः प्रस्तुत संग्रह सातवाहन के संग्रह से बहुत रूपान्तरित हो गया है। [५] सातवाहन या शातकर्णि राजा बौद्ध मतानुयायी थे। गाथा० के पद्यों में भिक्षु संघ तथा स्थविर के उल्लेख मिलते हैं [६], लेकिन यह उल्लेख संग्रहकर्त्ता को बौद्धमतानुयायी प्रमाणित करने के लिए पर्याप्त नहीं हैं। गाथा० का आरंभ और अंत शिव के स्मरण के साथ हुआ है। उसके पद्यों में पार्वती, हर-गौरी [७], गणपति गणाधिपति [८], लक्ष्मी [९], वलि-वामन [१०],

---

१. **मलय पवन, पुलिन्द गाथा, २.१६, ४.१०, ७.३४ इत्यादि, पलाश राक्षस लंका ४.११, रेवा नदी ६.७८, ६.९९, गोदावरी ४.५२, १.५८, २.३, इत्यादि, तापिनी ३.३९ विन्ध्य पर्वत २.१७, ७.३१ इत्यादि।**

२. **तुवरी (अरहर, ४.४५), वोड (दुष्ट ६.४९), भोंडी (शूकरी) इत्यादि।**

३. **होरा (५.३५), अंगारवार (वही ३.६१) मंगल (७.४४), अन्य उल्लेख (२.५१, ५२)।**

४. **ओझा, भारतीय प्राचीन लिपिमाला पृ० १६८।**

५. **इंडियन हिस्टॉरिकल क्वार्टर्ली, भाग २३ पृ० ३००, ३१० पर वी० वी० मिराशी का लेख 'द डेट अव द गाथासप्तशती'।**

६. **गाथा० ४.८, २.९७।**

७. **वही, १.६९, ५.५५।**

८. **वही, ४.७२, ५.३।**

९. **वही, १.४२, ४.८८।**

१०. **वही, ५.६, ५.११, ५.२५।**

मधुमथन[१], यशोदा, गोपी, कृष्ण, राधा कृष्ण[२], कुरुनाथ, भीम[३], चंडी वलि[४], यमुना[५], कापालिक[६], प्रमाणसूत्र[७], जैनाचारों इत्यादि के उल्लेख मिलते हैं जो गाथा० के संग्रहकर्ता की उदार वृत्ति के परिचायक हैं। आदि अन्त में शिव का स्मरण करने के कारण उन्हें शैवमतावलम्बी कहा जा सकता है।

गाथा० के पद्य अनेक परवर्ती रचनाओं में उद्धृत हुए मिलते हैं। उसकी लोकप्रियता के कारण इसका संस्कृत में भी अनुवाद हुआ और अनेक टीकाएं हुईं। गाथा० का भारतीय साहित्य में और मुक्तक काव्य परंपरा में बहुत ही महत्व-पूर्ण स्थान है। उसके पद्यों में वह रस है जिसके जाने बिना किसी को सरस रस के संबंध में बात करने का अधिकार नहीं है। गाथा० के एक पद्य में ठीक ही एक गर्वोक्ति है।

अमिअं पाउअकव्वं पठिउं सोउं अ जे ण जाणन्ति।
कामस्स तत्त्वचिन्तां कुणन्ति ते कहं ण लज्जन्ति॥ १.२॥

'अमृत प्राकृत काव्य को जो पढ़ना और सुनना नहीं जानते, वे काम की तत्त्व चर्चा करते लज्जित क्यों नहीं होते।'

जयवल्लभ :

गाथा० के समान ही लगभग ७०४ प्राकृत गाथा पद्यों का दूसरा संग्रह वज्जालग्ग[८] है। 'वज्जालग्ग' में विभिन्न विषयों से संबंधित पद्य शीर्षकों[९] में विभाजित करके रखे गए हैं। प्रस्तुत संग्रह में कुछ पद्य गाथा०के भी मिलते हैं

---

१. गाथा, २.१७, ७.५५।
२. वही, १.८९, २.१२, २.१४, २.२८, ७.५५।
३. वही, ५.४३।
४. वही, २.७२।
५. वही, ७.६९।
६. वही, ५.८।
७. वही, २.५३
८. बिब्लियोथेका इंडिका सिरीज, कलकत्ता से प्रकाशित, जूलियस लावेर द्वारा संपादित, १९१४, १९२३ ई०, इसके पद्यालय, वज्रालय, विज्जाहल, विद्यालय तथा वज्जालग्ग नाम मिलते हैं।
९ शीर्षकों का नाम पद्धति दिया है। यथा, श्रोतृ पद्धति, गाथा पद्धति, काव्य पद्धति, दुर्जनपद्धति इत्यादि, इस प्रकार की ९५ पद्धतियाँ (शीर्षक) हैं।

और कुछ नवीन हैं। प्राकृत मुक्तक पद्यों के विषयों की विविधता का परिचय 'वज्जालग्ग' की शीर्षक सूची से मिलता है। कवि परंपरा के द्वारा प्राप्त विषयों के अतिरिक्त सामान्य वस्तुओं पर भी प्राकृत कवियों का ध्यान गया था जैसे शशक और मुसल। शृंगार से संबंधित शीर्षक भी अनेक हैं।[1] इसके अतिरिक्त नीति से संबंधित, सज्जन और दुर्जनों से संबंधित पद्यों का स्थान है। वृक्षों और पशु-पक्षियों के नामों में प्रायः परंपरा से प्रसिद्ध उपकरणों को ही स्थान मिला है। वचन चातुर्य की झलक संग्रह के प्रत्येक पद्य में मिलती है। अनेक पद्य कदाचित् सुभाषितों के रूप में लोक में प्रचलित रहे होंगे, गाथा पद्यों की लोकप्रियता का एक पद्य में इस प्रकार उल्लेख हुआ है—

गाहाण रसा महिलाण विब्भमा कइयणाण उल्लावा।
कस्स न हरन्ति हिययं बालाण य मम्मणुइल्लावा ॥१३॥

'गाथाओं का रस, महिलाओं का विभ्रम, कविजनों का उल्लाप और बालकों की सरल वाणी किस के हृदय को नहीं हरती।,

अनेक पद्यों में प्राकृत पद्यों की स्वाभाविक रमणीयता की प्रशंसा की है।

इन सरस पद्यों के निश्चित रूप से अनेक रचयिता रहे होंगे, जिनमें से बहुतों के मूल आधार का संग्रहकर्ता को भी पता नहीं होगा। उनके रचयिताओं का कुछ भी पता नहीं है। इन गाथा पद्यों की भाषा प्राकृत गीतों के लिए प्रयुक्त होने वाली महाराष्ट्री प्राकृत है।

संग्रहकर्ता जयवल्लभ के विषय में कुछ भी ज्ञात नहीं है। उनकी उपाधि 'सूरि' से प्रतीत होता है कि वे श्वेताम्बर जैन थे। कृति के पद्यों में जैन संप्रदाय के संबंध में कोई संकेत नहीं मिलता। कृति के प्रारंभ में एक पद्य में जयवल्लभ ने संग्रहकर्ता के रूप में अपना नामोल्लेख किया है। कृति की एक संस्कृत छाया की हस्तलिखित प्रति सं० १३९३ वि० की मिलती है उसके आधार पर इतना ही निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि संग्रह इसके पूर्व हुआ होगा।

२. स्फुट पद्य : जिस प्रकार के प्राकृत पद्य गाथा० और वज्जालग्ग में संग्रहीत हैं उसी प्रकार के मुक्तक प्राकृत पद्य साहित्य समीक्षा से संबंधित कृतियों में भी मिलते हैं।

नाट्यशास्त्र :

भरत मुनि प्रणीत नाट्यशास्त्र में कुछ प्राकृत गीत मिलते हैं, जो

---

१. यथा नयन, स्तन, व लावण्य, सुरत, प्रेम, मान, प्रवासित इत्यादि से संबंधित पद्धतियाँ।

ध्रुवागीतों[1] के उदाहरणों के रूप में उद्धृत हुए हैं। रूपकादि में प्रयुक्त प्राकृत गीतों की भाषा के संबंध में सामान्य नियम है कि वे महाराष्ट्री प्राकृत में होने चाहिये। किन्तु ध्रुवागीतों के लिये शौरसेनी का विधान है।[2] महाराष्ट्री में प्रयुक्त कुछ भाषा विषयक विशेषताएँ भी इन गीतों में मिलती हैं जिन्हें कुछ विद्वान शौरसेन की विशेषताएँ मानकर इन गीतों की भाषा शौरसेनी बताते हैं।[3] धनञ्जय ने रूपकादि में स्त्रियों द्वारा गाए जाने वाले गीतों की भाषा के लिये प्राकृत के नियम का उल्लेख किया है। 'प्राकृत' शब्द का प्रयोग साधारणतः वैयाकरणों ने महाराष्ट्री प्राकृत के लिये किया है। किन्तु भरत ने कहीं भी महाराष्ट्री प्राकृत शब्द का उल्लेख भी नहीं किया है। भरत और पीछे के नाटयशास्त्र विशारदों में यह मतभेद ध्यान देने योग्य है।

नाटयशास्त्र के ध्रुवागीतों में सुन्दर मुक्तक पद्यों तथा गीतिकाव्य के दर्शन होते हैं, सूर्य, चंद्र, नक्षत्र, मेघ, और ऋतुओं के दृश्य प्रधान हैं। अन्य काव्यशास्त्र कृतियों में प्रयुक्त पद्यों के समान ध्रुवागीत 'आदिरस' तक की सीमित नहीं हैं। संक्षिप्तता, सजीवता इन पद्यों की प्रधान विशेषताएँ हैं। इन गीतों की संख्या सौ से अधिक है। कुछ गीतों में अंतरंग अन्त्यनुप्रास मिलता है जो गेय तत्व को प्रधान बनाने में सहायक हुआ है।

चूदवणं पफुल्लतिलकं कुरवकसहिदं
चंचलसारसछप्पदं कुसुमसमुदिदं। ना० शा० ३२.३१६।

यह सरस गीत वर्णवृत्तों में है, प्राकृत छंद प्रायः मात्रिक ही मिलते हैं। संस्कृत छंदशास्त्र के अनुकूल प्रत्येक चरण में समान वर्ण संख्या होनी चाहिये किन्तु कुछ ध्रुवागीतों में नाटयशास्त्र के 'चतुरस्र विवर्धिता' नियम के अनुसार संपूर्ण पद्य में छः वर्ण अधिक मिलते हैं। यथा अनुष्टुप छंद में इस क्रम से छः वर्ण अधिक मिलेंगे, ८, ९, १०, ११=३८ वर्ण।

ध्रुवागीतों का रचनाकाल नाटयशास्त्र के रचनाकाल के साथ संवद्ध है जो ई० पू० २०० से २०० ई० तक के बीच हो सकता है।

ध्वन्यालोक :

आनन्दवर्धन (९०० ई०) ने अपनी कृति में ४५ के लगभग पद्य उद्धृत

---

१. दे० मनमोहन घोष : इंडियन हिस्टारिकल क्वार्टर्ली, भाग ८, सप्लीमेंट, १९३२।

२. भाषा तु शूरसेनी स्यात् ध्रुवाणां सम्प्रयोजयेत्, अध्याय ३२.४०८, काशी संस्कृत सीरीज ६०, बनारस १९८५।

३. दे० घोष का उपर्युक्त लेख, पृ० ९-१३।

किए हैं जिनमें से १९ के लगभग पद्यों के मूल आधारों का पता नहीं है। एक पद्य में अपभ्रंश की विशेषताएँ भी मिलती हैं[1], यह सभी पद्य स्वतंत्र मुक्तक हैं और इनका प्रधान स्वर शृंगारात्मक है। कुछ पद्यों के आधार ग्रन्थों का भी उल्लेख किया गया है किन्तु वे ग्रन्थ भी अनुपलब्ध हैं। बहुसंख्यक पद्य बड़ी ही सरस, कोमल कल्पना से युक्त और कुछ गीति के उत्तम उदाहरण हैं। ध्वन्यालोक के व्याख्याकार (लोचनकार) अभिनव गुप्त ने भी दो प्राकृत पद्य उद्धृत किए हैं, किन्तु उनके आधार ग्रन्थों का कोई उल्लेख नहीं किया है। सभी पद्यों की भाषा महाराष्ट्री प्राकृत है।

भोज (११ वीं शती ई०) के सरस्वती कंठाभरण[2] में ३५० प्राकृत पद्य उपलब्ध होते हैं। कुछ के आधार ग्रन्थ गाथा सप्तशती, सेतुबन्ध, गौडवहो, कर्पूर-मंजरी आदि ग्रंथ हैं। इसके अतिरिक्त लगभग १७० पद्यों के मूल स्रोतों का पता नहीं है। पद्य प्रायः अपने आप में पूर्ण हैं किन्तु कुछ में ऐसे संकेत मिलते हैं जिनसे प्रतीत होता है कि वे किन्हीं प्रबंधकाव्यों में से लिए गए हैं।[3] बहुत से पद्यों में शृंगार की कोमल कल्पना मिलती है जिनमें समाज के सभी वर्गों के नायक नायिकाओं को स्थान मिला है, किन्तु हालिक युवक और युवती का प्राधान्य है।

हेमचन्द्र (११४५-१२२९ वि०) के काव्यानुशासन और स्व-रचित उसकी वृत्ति में लगभग ८० प्राकृत पद्य उपलब्ध होते हैं। कुछ ही पद्य नवीन हैं, शेष अन्य कृतियों में भी मिलते हैं। शृंगार रस से संबंधित कल्पना का जैनाचार्य द्वारा ग्रहीत पद्यों में भी प्राधान्य है।

दशरूपक के अवलोक में धनिक ने भी २६ इसी प्रकार के प्राकृत पद्य उद्धृत किए हैं जिनमें से १० पद्य नवीन हैं।

इन कृतियों के अतिरिक्त रुद्रट के काव्यालंकार, स्वयंभू के स्वयंभू छंद, विश्वनाथ के साहित्य दर्पण, तथा प्रबन्ध चिन्तामणि, पुरातन प्रबन्ध संग्रह, पंडितराज जगन्नाथ के रस गंगाधर आदि अनेक ग्रन्थों में प्राकृत पद्य व्यवहृत हुए मिलते हैं। स्वयंभू छंद[4] में अनेक नवीन प्राकृत कवियों के

---

१. ध्वन्यालोक, काव्यमाला संस्करण, १९३५, पृ० ३०६।

२. निर्णयसागर प्रेस, बंबई १९२५ ई०।

३. एक पद्य में इंद्र को कृष्ण की मित्रता का इच्छुक बताया गया है और पारिजात को यादवों को देने की इच्छा प्रकट की गई है, वही पृ० ४७०।

४. जर्नल, रायल एशियाटिक सोसाइटी, बांबे ब्रांच १९३५, पृ० १८-५८।

नाम मिलते हैं तथा अनेक नवीन पद्य भी उद्धृत हुए हैं जिनमें से अनेक उक्ति चमत्कार, मौलिकता और सरसता की दृष्टि से सुन्दर हैं। विस्मृतप्राय और बहुत ही कम प्रसिद्ध इस कृति से दो पद्य देखे जा सकते हैं। किसी कालिदास नामक कवि का एक पद्य इस प्रकार है :

अवणअविटपो णईपलासो पवणवसा धुणिएवकपण्णहत्थो ।
दवदहण विवण्ण जीविआणं सलिलमिवेए दएइ पाअवाणम् । २.१८ ।

'नदी में झुका हुआ पलाश विटप पवनवशात् एक पर्णरूपी हाथ से बार बार दावाग्नि से दग्ध विवर्ण जीवित पादपों को मानो जलांजलि दे रहा है।'

नीचे के पद्य में लय, गेय तत्व द्रष्टव्य हैं :

मत्तकरिन्द कवोल मओज्झर पंक पसाहण सामलिआ ।
दाहिणमारुअ मैलविआ मअमेम्मलिआ मसलावलिया । इत्यादि
१.१२० ।

काव्य शास्त्र तथा अन्य साहित्यिक कृतियों में जो इस प्रकार के प्राकृत पद्य मिलते हैं उनसे कुछ निष्कर्ष निकाल सकते हैं--प्राकृत साहित्य के प्रसार की इस प्रकार के साहित्य से सूचना मिलती है। संस्कृत साहित्य के विभिन्न अंगों का विवेचन करने वाले पंडितों ने अपनी समीक्षाकृतियों में श्रेष्ठ काव्य, ध्वनि आदि के उदाहरणों के लिये प्राकृत के पद्यों को ही चुना है इससे प्राकृत साहित्य के महत्व की सूचना मिलती है। सुभाषितों, लोकोक्तियों, प्रेम की रसपूर्ण वचन–विदग्धता-पूर्ण उक्ति चातुर्य से आप्लावित उक्तियों के लिए काव्य रसिकों का ध्यान प्राकृत पद्यों की ही ओर गया है, इससे ऐसा लगता है कि समस्त उत्तरी भारत में प्राकृत कुछ बातों में संस्कृत से भी अधिक प्रिय और समादृत थी। पंडित वर्ग द्वारा समादृत इस विपुल प्राकृत साहित्य का शताब्दियों तक प्रभाव रहा होगा। और निश्चित रूप से समस्त भारतीय मुक्तक साहित्य को प्राकृत के इस सरस मुक्तक साहित्य ने प्रभावित किया होगा। प्राकृत साहित्य की यह मुक्तक धारा बहुत महत्वपूर्ण है, उसमें भारतीय जीवन और प्रकृति तथा प्राकृत भाषा के सहज स्वरूप के दर्शन होते हैं।

आ. प्रबन्धात्मक साहित्य

मुक्तक साहित्य के समान प्राकृत प्रबन्धकाव्यों की भी धारा कई शतियों तक अविच्छिन्न रूप में प्रवाहित होती रही। जैसा कि आगे उल्लेख किया जाएगा।

तथा बांबे यूनीवर्सिटी जर्नल नवंबर १९३६ पृ० ७२-९३।

श्रोताओं को वह चरित्र सुनने के लिए सावधान करता है।[1] कृति यहीं तक मिलती है।

१२९० पद्यों की इस कृति में गौडेश वध का प्रसंग केवल तीन पद्यो में है,[2] गौडेश वध के पूर्व के काव्यमय वर्णन तो उचित भूमिका कहे जा सकते हैं किन्तु उसके पश्चात् शेष कृति में जो अनेक वर्णन हैं वे प्रबन्ध काव्य की दृष्टि से उचित नहीं कहे जा सकते। गौडेशवध कृति में एक गौण प्रसंग है, कदाचित् रावणवध के अनुकरण पर गौडवध नाम रख दिया गया है। कृति के अनेक वर्णन एक हल्की सी शृंखला द्वारा प्रमुख प्रसंग से संबद्ध कहे जा सकते हैं अन्यथा अनेक वर्णन अप्रासंगिक हैं।[3] जिस रूप में गौडवध कृति मिलती है वह किसी प्रारम्भ होने वाले काव्य की भूमिका सी लगती है जैसा कवि ने स्वयं सूचित भी किया है। संभव है कवि उसे किसी कारण वश पूरा न कर सका हो। अपने इस रूप में कृति वर्णनों का एक संग्रह-ग्रंथ लगती है यद्यपि उसकी वर्णन शैली महाकाव्यों के समान है।

कृति की कथा अध्यायों या विभागों में विभक्त नहीं है। विभिन्न वर्णन कहीं कहीं कुलकों[4] में एकत्रित किए मिलते हैं। सबसे बड़ा कुलक १५० पद्यों का है और छोटे कुलक पाँच पाँच पद्यों के मिलते हैं।[5] गौडवध के वर्णनों में बड़ी सजीवता और नवीनता है। परंपरा से चले आते हुए रमणीय व्यापारों के अतिरिक्त सामान्य जीवन के भी प्रति कवि की सजगता का परिचय इन वर्णनों में मिलता

---

१. प्रतिज्ञा द्रष्टव्य है, तहवि णिसामेह णराहिवस्स भुय दप्प दप्पणं एयं।
रयणि विरमम्मि णवरं पुरुमिल्ल णरिन्द णिट्ठवणं।
साहिज्जइ गउडवहो एस मए संपयं महारम्भो।
णिसुए सुयन्ति दणा जम्पि णरिंदा कइन्दा य।
१०७३-७४.
और आगे कवि चरित्र प्रारंभ करना ही चाहता है, वह कृति के अंतिम पद्य में कहता है, 'उस नराधिप के पवित्र करने वाले अभिनव, चित्त को विस्मित कर देने वाले शिक्षाप्रद नवीन चरित्र को सुनों'।

२. गौडवध, पद्य ४१४-१७।

३. यथा, प्रारंभ में देवताओं की विस्तृत नामावली १-६१, प्रलय वर्णन १६७-१८१, रावण वर्णन ४३१-४३९,।

४. एक ही वर्णन से संबंधित पद्यों का समह जो एक पूर्ण वाक्य होता है।

५. वही, कुलक ८५७-१००६ पद्यों का।

है। ग्राम्य जीवन के उत्सवों[1], ऊजड़ ग्राम की दयनीय दशा[2] आदि अनेक इस प्रकार के समवेदना जगाने वाले वर्णन हैं। अपनी कृति में वाक्पति ने जो उल्लेख किए हैं उनसे ज्ञात होता है कि वे यशोवर्मा के प्रिय कवि और मित्र थे।[3] कमलायुध नामक किसी कवि के यह स्नेह पात्र थे।[4] भवभूति की कृतियों का कवि ने अच्छा अध्ययन किया था तथा अन्य कवियों की कृतियाँ भी उन्हें प्रिय थीं।[5] यशोवर्मा के समकालीन मानने से वाक्पतिराज का समय सन् ईसवी की सातवीं शती का अंतिम भाग और आठवीं का पूर्वार्द्ध माना जाना चाहिए। कुछ पद्यों में इस प्रकार की क्रियाओं के प्रयोग हैं जिनसे प्रतीत होता है कि यशोवर्मा की मृत्यु के पश्चात् कवि ने कृति की रचना की।[6] मधुमथ विजय नामक अपनी एक अन्य रचना का कवि ने उल्लेख किया है,[7] जिसकी तुलना में गौडवध को बनलता के पीछे का पुष्प कहा है और इस प्रकार कवि ने अपनी प्रथम कृति की प्रशंसा की है। गौडवध कवि की अन्तिम और कदाचित् अपूर्ण कृति है।

कौतूहल : गोदावरी तट पर स्थित प्रतिष्ठान के राजा सातवाहन[8] और

---

१. गौडवध, पद्य ५९८।

२. वही, पद्य ६०८-६०९।

३. यशोवर्मा कन्नौज के राजा थे, उनका समय ई० सन् की सातवीं शती का अंतिम भाग और आठवीं शती का प्रारंभ माना जाता है और वाक्पति यशोवर्मा के यहाँ कवि थे। दे० १. सी० एम० डफ़, कॉनोलजी पृ० ६२ यशोवर्मा का समय सन् ७२६-७६० दिया है (२) गौडवध की पण्डित २५-२६। तथा, लिखित भूमिका पृ० गौडवध पद्य ७९७ जिसमें कवि ने अपने को राजा का मित्र और कविराज कहा है।

४. वही, पद्य ७९८।

५. राजतरंगिणी तरंग ४, पद्य १३४ तथा आगे। इनमें कहा गया है कि ललितादित्य ने यशोवर्मा के गर्व को नष्ट किया था तथा यशोवर्मा के आश्रय में भवभूति और वाक्पति कवि थे। यदि यह ठीक है तो वाक्पति ने भवभूति को देखा होगा कदाचित् इसी कारण कवि ने भवभूति के सम्बन्ध में प्रशंसात्मक उल्लेख किए हैं।

६. वही, पद्य ७९७, ८०४, ८४४ इत्यादि।

७. वही, पद्य ६९।

८. कृति में सालवाहण, सालाहण आदि नाम मिलते हैं।

सिंहल के राजा शिलामेघ की पुत्री लीलावती के परिणय की सुन्दर काव्यमय प्रेम-कथा का चित्रण कौतूहल ने अपनी गाथाबद्ध[1] रचना लीलावतीकथा[2] में किया है। सातवाहन और लीलावती के परिणय के साथ अन्य अनेक शापादि द्वारा वियुक्त प्रेमी प्रेमिकाएँ भी मिल जाते हैं। एक विरक्त राजर्षि और अप्सरा रम्भा की पुत्री कुवलयावली अपने गन्धर्व पति, जो कुवलयावली के ऋषि पिता के शाप से भीषणानन राक्षस हो गया था और जिसकी सातवाहन के प्रहार से शाप से मुक्ति होती है, से मिलती है। इसी अवसर पर यक्ष राजा बल-कूबर की पुत्री महानुमती का परिणय मलय पर्वत के सिद्ध राजा के पुत्र माधवा-निल से होता है। कवि ने सातवाहन और लीलावती के प्रेम प्रसंग वर्णन को प्रधान स्थान दिया है। लीलावती चित्रशाला में सातवाहन के चित्र को देखकर तथा उसे स्वप्न में देखकर उस पर अनुरक्त हो जाती है। उसके माता पिता उसकी इच्छा समझकर उसे आदर पूर्वक हालसातवाहन के पास भेज देने की आज्ञा देते हैं। उसका दल मार्ग में आकर गोदावरी के तट पर ठहरता है जहाँ महानुमती और कुवलयावली तपस्विनी रूप में रह रही थीं। लीलावती यहाँ ठहरकर भवानी की पूजा करती है और सब से परिचय प्राप्त करती है। राजा सातवाहन का सेना-पति विजयानन्द भी यहीं ठहरा था। वह पहिले से ही प्रयत्न कर रहा था कि सिंहल और प्रतिष्ठान के राज परिवारों में वैवाहिक संबंध हो सके और सातवाहन के आधिपत्य को धक्का न पहुँचे। विजयानन्द दोनों के बीच मध्यस्थ का कार्य करता है। अन्त में सेना लेकर हाल गोदावरी के उस तट पर सप्त गोदावरी भीम जाता है और भीषणानन को पराजित कर शाप मुक्त करता है, और लीलावती के पास समाचार पहुँचाता है। इस अवसर पर सिद्ध, गंधर्व, यक्ष आते हैं, सिंहल से शिला-मेघ अपनी रानी शरदश्री सहित आता है। सिद्धादि राजाओं ने सातवाहन को अंतर्द्धान, अक्षय कोश, आकाश संचारिणी 'दिविगमन' आदि अनेक सिद्धियाँ विवाह के अवसर पर भेंट स्वरूप दीं।

लीलावती कथा को कवि ने 'दिव्य मानुषी' कथा कहा है।[3] कवि ने अपनी

---

१. प्रधान छंद गाथा है, कृति के १३३३ पद्यों में बहुत ही कम पद्य भिन्न छंदों में हैं। यथा, पद्य २४,६६८, शार्दूल विक्रीडित हैं, पद्य ११७० पृथ्वी है।

२. डा० आ० ने उपाध्ये द्वारा संपादित भारतीय विद्याभवन, बंबई से प्रकाशित १९४९ ई०।

३. कथा और आख्यायिका के संबंध में दे० एस० के० दे 'द आख्यायिका

स्त्री के मुख से 'दिव्य मानुषी' कथा की सरसता की प्रशंसा कराई है, फलस्वरूप कृति में देवता और मनुष्य दोनों वर्गों के पात्र परस्पर मिलते हैं और ईर्ष्या कलह न करके सातवाहन पर प्रसन्न हो कर उसे सिद्धियाँ भी प्रदान करते हैं। कथा में प्रेमी प्रेमिकाओं के प्रेम की कवि ने पूरी परीक्षा की है। महानुमती, या कुवलयावली अपने प्रेमियों के लिए जन्म भर तपस्या कर सकती है। विजयानन्द युवतियों की इस तपश्चर्या को देखकर आश्चर्य में पड़ जाता है। लीलावती भी हाल के लिये दृढ़ थी। और हाल भी उसके लिये पाताल जाता है, भीषणानन से युद्ध करता है।

अपनी कथा को कवि ने यथाशक्ति खूब काव्यमय वर्णनों से सजाया है नगर[१], राजाओं[२], ऋतुओं[३], पर्वतों, दृश्यों आदि के अनेक सुन्दर वाक्वैभव से पूर्ण वर्णन हैं। कृति का प्रारंभिक भाग तो मानो राजाओं के जीवन का एक चित्र प्रस्तुत करने के लिये ही लिखा गया है जिसमें सातवाहन की दिनचर्या का विस्तृत वर्णन है।[४] समस्त कृति अलंकृत काव्यमय शैली में लिखी गई है। कृति की कथा उलझी हुई है। एक कथा के भीतर और कथा कहने की शैली का प्रस्तुत कथा में अनुसरण किया गया है। अनेक पात्रों की कथाओं को सुसंबद्ध एक कथा के रूप में प्रस्तुत करने में कृतिकार ने बड़ा ही कौशल दिखाया है। प्रेम का बड़ा ही संतुलित रूप लीलावती कथा में मिलता है।

कृति की भाषा साहित्यिक महाराष्ट्री प्राकृत है, कवि ने स्वयं अपनी कृति को 'मरहट्ट देसि भासा' रचित कहा है। संभव है कवि महाराष्ट्र निवासी हो और अपनी भाषा के साहित्यिक प्राकृत रूप को उसने यह नाम दिया हो।[५]

एंड कथा इन क्लासिकल संस्कृत' बुलेटिन अव् द स्कूल अव् ओरिएंटल स्टडीज ३.३.५०७-१७। प्रस्तुत कृति सर्ग, खंड आदि में विभक्त नहीं है, प्रारंभ में कवि परिचय, सज्जन, दुर्जन स्मरण प्रसंग हैं।

१. प्रतिष्ठान वर्णन : पद्य ५२-६३। मेरु पर्वत का वर्णन, २७४-८०, मलय पर्वत का वर्णन, ३४१-५७।
२. हाल का वर्णन, वही, ६४-७२।
३. वसंत, वही, पद्य ७३-८८, सूर्योदय ४३६-५७, चंद्रोदय ५१६-५२९।
४. लीलावती कथा, पद्य ८८-१३० इत्यादि।
५. वही, भूमिका, पृ० ८५-८६।

कृति के नायक सातवाहन ऐतिहासिक व्यक्ति हैं किन्तु सिंहल की राजकुमारी से उनके विवाह की घटना काल्पनिक प्रेम कथा है ।[1] अन्य ऐतिहासिक पात्रों में नागार्जुन और भट्ट कुमारिल हैं । इन सब के एक स्थान पर एकत्र करने में फिर कवि कल्पना का आभास मिलता है । कृति में शिव, पार्वती, गौरी, भवानी, गणेश, पाशुपत आदि देवों के उल्लेख अधिक मिलते हैं, संभव है कवि की शैव धर्म में विशेष आस्था रही हो ।

कवि ने अपने संबंध में कृति में बताया है कि वह वहुलादित्य के पुत्र भूषण-भट्ट का पुत्र था । कवि के पितामह और पिता वेदों में निष्णात् थे ।[2] कवि ने स्पष्ट रूप से अपना नामोल्लेख नहीं किया है किन्तु कुछ पद्यों में 'कौतूहल' शब्द का प्रयोग इस प्रकार हुआ है[3] कि वही कवि का नाम प्रतीत होता है । कृति के अज्ञातनाम जैन टीकाकार ने कृतिकार का नाम कौतूहल ही दिया है ।[4] अपनी पत्नी को सुनाने के लिये कवि ने इस सुन्दर कथा-कृति का निर्माण किया । कवि ने अपने समय के संबंध में कोई सूचना नहीं दी है किन्तु हेमचंद्र ने काव्यानुशासन में लीलावती कथा का उल्लेख किया है । और पीछे वाग्भट्ट (१४ वीं शती ई०), त्रिविक्रम (१३ वीं शती ई०) ने भी किसी न किसी रूप में लीलावती कथा के संकेत किए हैं । भोज (१०३०-१०५० ई०) ने शृंगार प्रकाश में प्रस्तुत कृति का नामोल्लेख किया है । और लीलावाती कथा की हस्तलिखित प्रतियाँ भी तेरहवीं शती ईस्वी तक की मिलती हैं । लेखक की शैली आदि से लगता है कि वह वाण, हर्ष आदि की रचनाओं से परिचित था । इस प्रकार कौतूहल की कृति का समय १००० ई० के पूर्व मान सकते हैं ।[5]

श्री कृष्णलीला शुक :

संस्कृत में जिस प्रकार के द्वयाश्रय काव्य, भट्टिकाव्य, रावण वध, भौमकृत रावणार्जुनीय, दिवाकर का लक्षणादर्श तथा हेमचंद्र का कुमारपालचरित है उसी

---

१. कवियों के प्रिय हाल के सातवाहन, शात, शाल, शालिवाहन आदि अनेक नाम मिलते हैं । दे० वही भूमिका पृ० ४६ और आगे तथा गाथा सप्तशती के प्रसंग में इसी निबंध में ।

२. वही, पद्य १८-२२ ।

३. वही पद्य २२ 'कोऊहलेण लीलावइ त्ति'...

४. वही, पद्य २२ की टीका, ९२१ की टीका, १३११ की टीका ।

५. लीलावती कथा, भूमिका पृ० ६९-७३,

उसी प्रकार का श्रीकृष्णलीलाशुक का श्री चिह्नकाव्यं (सिरि चिंध कव्वं)[१] प्राकृत काव्य है। बारह सर्गों की इस गाथाबद्ध कृति में श्रीकृष्ण की लीला वर्णन के साथ साथ त्रिविक्रम देव के प्राकृत सूत्रों की व्याख्या की गई है। इस प्रकार के प्रयास में स्वच्छंद प्रवाह, प्रबंधात्मकता में त्रुटियाँ स्वाभाविक ही हैं। श्रीकृष्णलीलाशुक द्वारा कृति के आठ सर्गों की रचना हुई है, अन्तिम चार सर्ग उनके शिष्य दुर्गा प्रसाद की रचना है। श्रीकृष्णलीलाशुक का समय त्रिविक्रम (१३वीं शती ई०) के पश्चात् होना चाहिए।

प्राकृत व्याकरण के अध्ययन के फलस्वरूप दक्षिण भारत में अठारहवीं शती तक प्राकृत काव्यों की रचना होती रही। कृष्ण के चरित से संबंधित दक्षिण भारत में रचित इस प्रकार की तीन परवर्ती प्राकृत रचनाएँ उपलब्ध हुई हैं। श्री कंठ-रचित शौरि चरित्र (सौरि चरित्र)[२] तथा रामपाणिवाद की उषानिरुद्ध (उसाणिरुद्ध)[३] और कंस वध (कंसवहो)।[४] श्री कंठ की कृति यमक काव्य है अतः दुरूह है, संस्कृत काव्य-शैली से प्रभावित है। श्रीकंठ का समय अठारहवीं शती ई० का उत्तरार्द्ध माना जाता है, वे मालाबार की वारियर जाति के थे।

रामपाणिवाद की दोनों कृतियों की कथा का आधार पौराणिक घटनाएँ हैं। उषानिरुद्ध चार सर्गों की छोटी सी कृति है, कृति के २८० पद्यों में संस्कृत के विभिन्न छंदों का प्रयोग हुआ है। कंसवध भी इसी प्रकार की कृति है, चारसर्ग तथा सब २३३ पद्य हैं, जो संस्कृत छंदों में हैं। कवि की प्राकृत, व्याकरण सम्मत प्राकृत है[५] जिस पर संस्कृत काव्यशैली का स्पष्ट प्रभाव लक्षित होता है।

---

१. दे० डा० उपाध्ये : भारतीय विद्या, भाग ३, अंक १, १९४१ ई०, पृ० ६ और आगे।

२. डा० उपाध्ये द्वारा प्रथम सर्ग संपादित हुआ है। दे० जर्नल अव् द यूनिवर्सिटी अव् बंबई, सितंबर १९४३।

३. डा० उपाध्ये द्वारा संपादित, जर्नल यूनीवर्सिटी अव बंबई १९४१-४२। पृ० १५०–१९४।
तथा अड्यार, मद्रास, १९४३ ई० संपा० डा० कुन्हन राजा इत्यादि

४. डा० उपाध्ये द्वारा संपादित, हिन्दी ग्रंथ रत्नाकर कार्यालय, बंबई १९४० ई०।

५. रामपाणिवाद ने वररुचि के प्राकृत सूत्रों पर एक वृत्ति भी लिखी है, डा० सी० कुंजन राजा द्वारा संपादित, मद्रास १९४६ ई०।

रामपाणिवाद ने संस्कृत, प्राकृत और मलयाली में रचनाएं लिखी हैं।[1] कंसवध में कवि ने रचयिता के रूप में अपना नाम दिया है, उषानिरुद्ध में इस प्रकार का कोई उल्लेख नहीं है। शैली एवं भाषा के साम्य से कृति के रचयिता रामपाणिवाद ही ठहरते हैं। रचनाशैली के आधार पर उषानिरुद्ध कंसवध से पहिले की रचना जान पड़ती है।

रामपाणिवाद केरल देशवासी थे। उनका जन्म सन् १७०७ ई० के लगभग हुआ था। अनेक राजाओं के आश्रय में रहकर उन्होंने काव्य रचना की और १७७५ ई० के लगभग मृत्यु को प्राप्त हुए।[2]

प्राकृत में प्राप्त प्रबन्धात्मक कृतियों का संक्षेप में यही इतिहास है। वास्तव में प्राकृत के विशाल साहित्य में से शेष बची कृतियों का यह विवरण है। अनेक कृतियों के आज नाममात्र ही शेष रह गए हैं, रीति ग्रंथकारों ने उदाहरण के रूप में उनका उल्लेख किया है अतः उनकी उत्कृष्टता निर्विवाद है। प्राप्त कृतियों में से, जो प्राचीन हैं, सेतुबन्ध का रीति ग्रन्थकारों ने उल्लेख किया है और वह कृति इस योग्य है, रीति ग्रन्थकारों के उल्लेखों द्वारा निम्न प्राकृत काव्यों का पता चलता है :

वाक्पतिराज ने गौडवध में अपनी स्वरचित कृति मधुमथ विजय का उल्लेख किया है।[3] इस कृति से एक पद्य अभिनवगुप्त ने ध्वन्यालोकलोचन में उद्धृत किया है।[4] वाक्पति के दो पद्य मार्कण्डेय ने अपने प्राकृत व्याकरण में उद्धृत किए हैं[5] जो गौडवध में नहीं मिलते, संभव है वे मधुमथविजय से लिए गए हों। इस महत्वपूर्ण कृति का उल्लेख आनन्दवर्धन, अभिनवगुप्त, भोज, तथा मार्कण्डेय ने किया है। इन उल्लेखों से कृति के महत्व की सूचना मिलती है। प्राप्त पद्यों से प्रतीत होता है कि कृति में कृष्ण का चरित्र होगा।

आनन्दवर्धन ने ध्वन्यालोक में अपनी कृति विषमबाण लीला का उल्लेख किया है और उसमें से तीन प्राकृत पद्य भी उद्धृत किए हैं जो शृंगार रस से संबंधित हैं। एक पद्य इसी कृति में से कृति की टीका 'लोचन' में उद्धृत किया गया

---

१. कंसवध की भूमिका पृ० १४ और आगे।
२. वही, पृ० १५-१८।
३. गौडवध, पद्य ६९।
४. काव्यमाला संस्करण, बंबई, १९३५ ई०, पृ० १८८।
५. प्राकृत सर्वस्व, पृ० ५० तथा ६१।

है ।[१] देवीशतक के अन्तिम पद्य की टीका में कैयट ने भी इस कृति का उल्लेख किया है ।[२] इन पद्यों के आधार पर इतना ही कहा जा सकता है कि कृति मुक्तक पद्यों का संग्रह होगी ।

हरिविजय नामक कृति से ध्वन्यालोक में एक पद्य उद्धृत किया गया है[३] तथा हेमचंद्र ने अनेक काव्यगुणों से युक्त इसे बताया है, रचयिता का नाम हेमचन्द्र ने सर्वसेन दिया है ।[४]

रावणविजय महाकाव्य से हेमचन्द्र ने एक प्राकृत पद्य काव्यानुशासन में उद्धृत किया है[५] । हेमचन्द्र ने अनेक प्रकार के वर्णनों से युक्त उदाहरण के रूप में कृति का नामोल्लेख किया है ।

कुवलयाश्वचरित को स्वरचित महा 'प्राकृत' काव्य बताते हुए विश्वनाथ (१४ वीं शती ई०) ने साहित्यदर्पण में एक पद्य उद्धृत किया है ।[६] उनके अनुसार यह कृति आश्वासकों में विभक्त तथा स्कंधक और गलितक छंद बद्ध होनी चाहिये । उद्धृत पद्य स्कंधक ही है । विश्वनाथ का आदर्श सेतुबन्ध रहा होगा । इसी नाम के एक ग्रन्थ का उल्लेख हेमचन्द्र ने भी किया है ।[७] ध्वन्यालोक लोचन में अभिनवगुप्त ने एक पद्य अपने उपाध्याय भट्ट इन्दुराज का उद्धृत किया है ।[८] जिससे ऐसा प्रतीत होता है कि भट्ट इन्दुराज ने भी किसी प्राकृत कृति की रचना की थी ।

नायक नायिका भेद के विवेचन से युक्त एक मदन मुकुट नामक प्राकृत कृति के ८१ गाथा प्राप्त हुए हैं, कृति परिच्छेदों में विभक्त है । प्रथम परिच्छेद में पद्मिनी आदि चार प्रकार की नायिकाओं का वर्णन है । द्वितीय परिच्छेद में चन्द्रकलादि नायकों के लक्षणों के उल्लेख हैं । कृति के रचयिता सिंधुतट पर-

---

१. **ध्वन्यालोक, काव्यमाला, १९३५, पृ० ७६,१३६,१८८ तथा ३०३ ।**

२. **काव्यमाला, १८९३ ई० पृ० ३० ।**

३. **ध्वन्यालोक पृ० १५६. ।**

४. **काव्यानुशासन, काव्यमाला १९३४ ई० पृ० ४०५, विवेक पृ० ४०३, ४०४ ।**

५. **काव्यानुशासन, विवेक, पृ० ४०१, ४०५ ।**

६. **साहित्यदर्पण, निर्णयसागर संस्करण, १९३६, पृ० ३७५ ।**

७. **का० नु०, पृ० ४०५, विवेक, पृ० ४०२,४०४ ।**

८. **ध्वन्यालोक, पृ० २७९ ।**

स्थित माणिकपुर महापुरी के निवासी कोई गोसल विप्र थे। कृति महाराष्ट्री प्राकृत में प्रतीत होती है, कृति के रचनाकाल आदि का कुछ पता नहीं है। विषय की दृष्टि से कृति महत्वपूर्ण है।[१]

नाटकों की प्राकृत :

संस्कृत के अतिरिक्त नाट्यशास्त्र विशारदों ने रूपकादि में प्राकृतों के प्रयोग का भी विधान बनाया है। रूपकादि में प्राकृतों का प्रयोग पहिले होने लगा था या विधान बनने के पश्चात् प्राकृतों का प्रयोग प्रारम्भ हुआ यह स्पष्ट नहीं है। किन्तु, संभव ऐसा लगता है कि विधान की सृष्टि पीछे हुई।[२] नाट्यशास्त्र में विभिन्न पात्रों द्वारा सात भाषाओं के प्रयोग का उल्लेख है। मागधी, अवन्ती, प्राच्या, सूरशेनी, अर्ध मागधी, वाह्लीका और दाक्षिणात्या।[३] इनके अतिरिक्त शबरादि जाति के लोगों के लिये विभाषाओं के प्रयोग का नियम बनाया है।[४] दशरूपकादि परवर्ती नाट्य विधान संबंधी कृतियों में भारतीय नाट्य शास्त्र के नियमों का अनुगमन किया गया है। शारदातनय ने भाव प्रकाशनं में सभी मतों का संग्रह किया है और नाटकोपयोगी भाषाओं में उन्होंने पाँच, छः या सात भाषाओं को माना है। वे क्रमशः संस्कृत, प्राकृत, पैशाची, मागधी, शौरसेनी तथा अपभ्रंश सहित छः और अपभ्रंश से संबंधित भाषाओं सहित सात भाषाएँ हैं।[५] इसके अतिरिक्त अठारह देशभाषाओं तथा सात वैभाषिकों के लिये विभाषाओं का उल्लेख किया है।[६]

भरत के परवर्ती समस्त रूपककारों ने नियमानुकूल प्राकृतों का प्रयोग किया है। भरत के समसामयिक या पूर्ववर्ती अश्वघोष की नाट्य रचनाओं के प्राप्त अंशों में संस्कृत और प्राकृतों के प्रयोग मिलते हैं। इन प्राकृतों में कुछ विशेषताएँ हैं अतः उसको विशेषज्ञों ने 'प्राचीन मागधी, प्राचीन अर्ध मागधी और प्राचीन शौरसेनी, कहा है। प्राकृत काव्य की दृष्टि से यह अंश महत्वपूर्ण नहीं है किन्तु प्राकृत भाषा की दृष्टि से, उसके प्रयोग की दृष्टि से ई० पूर्व के यह प्रयोग महत्वपूर्ण

---

१. भारतीय विद्या, मार्च १९४२, श्री अगरचंद नाहटा का लेखः पृ० १९२।
२. कीथ : संस्कृत ड्रामा, पृ० २९२।
३. नाट्यशास्त्र, अध्याय १८, ३५, ३६, चौखंभा संस्करण, काशी।
४. वही, १८-४१-४९।
५. भावप्रकाशनं (बड़ौदा १९३० ई०), दशम अधिकार, पृ० ३१०, १५-२०।
६. वही, पृ० ३११-१२ और आगे।

है ।[1] भास और कालिदास की नाट्यकृतियों में भी नियमानुकूल प्राकृतों के प्रयोग मिलते हैं । दूतवाक्य के अतिरिक्त भास की सभी कृतियों में प्राकृत के प्रयोग मिलते हैं । शौरसेनी का प्राधान्य है । कर्णभार तथा बालचरित में मागधी के भी प्रयोग मिले हैं ।[2] कालिदास की कृतियों में गद्य के लिये शौरसेनी तथा स्त्रियों के गीतों में महाराष्ट्री का प्रयोग सामान्य रूप से हुआ है । अभिज्ञान शाकुन्तल में मछुए मागधी में बोलते हैं । विक्रमोर्वशीयं के चतुर्थ अंक में प्रयुक्त अपभ्रंश के पद्यों के संबंध में कालिदास कृत होने में संदेह है । शूद्रक का मृच्छकटिक प्राकृत के प्रयोगों की दृष्टि से महत्वपूर्ण है। पात्र नाट्यशास्त्र द्वारा निर्धारित नियमों के अनुकूल ही प्राकृत का प्रयोग करते है, शौरसेनी, आवन्ती, प्राच्या, मागधी, ढक्की, इन सभी प्राकृत भेदों को शौरसेनी, मागधी और ढक्की के अन्तर्गत रखा जा सकता है ।[3] आगे की सभी नाट्य-कृतियों में कृत्रिम रूप से प्राकृत का व्यवहार नियमानुकूल होता रहा । संस्कृत शब्दावली का प्राकृत रूपान्तर करके कदाचित् प्राकृत लिखी जाती रही होगी ।[4] इस रूढ़ि की पुष्टि तेरहवीं शती की हम्मीरमद-मर्दन तथा मोहराज पराजय[5] जैसी रचनाओं में पैशाची के प्रयोगों से भी होती है । नाटकों में प्राकृत के आंशिक प्रयोगों के अतिरिक्त कुछ सट्टक मिलते हैं जो प्राकृत में ही हैं । सब से प्राचीन उपलब्ध सट्टक राजशेखर (८८०-९२० ई०) की कर्पूरमंजरी[6] है । इसमें आद्योपान्त शौरसेनी प्राकृत का प्रयोग हुआ है । कर्पूरमंजरी के आधार पर कदाचित् अनेक सट्टकों की रचना पीछे होती रही, कुछ रचनाएँ निम्न हैं :

---

१. एच० ल्युडर्स : ब्रुखश्टुके बुधिष्टिशेर ड्रामेन, बर्लिन १९११ ई० ।
२. कीथ: संस्कृत ड्रामा, पृ० १२१ डब्ल्यू० प्रिंज, भासाज प्राकृत, १९२१ई० ।
३. कीथ: सं० ड्रामा, पृ० १४१-१४२, पीशेल: ग्रामाटिक परिच्छेद २५ तथा आगे ।
४. नाटकों में प्रयुक्त प्राकृत का अध्ययन तो प्रायः संस्कृत अनुवाद द्वारा ही होता है ।
५. गायकवाड्ज ओरिएंटल सीरीज, बड़ौदा, १९२० ई० और १९१८ ई० में प्रकाशित ।
६. इसके दो संस्करण हुए हैं दोनों संपादकों द्वारा इसकी भाषा का तथा अन्य विशेषताओं का अध्ययन किया गया है, कोनो, हरवर्ड ओरिएंटल सीरीज १९०१ तथा डा० मनमोहन घोष, कलकत्ता विश्वविद्यालय कलकत्ता, १९३९ ई० ।

१. नयचंद्र कृत रम्भामंजरी[1] की रचना ई० की १५वीं शती में हुई होगी।[2] इस कृति में नयचंद्र ने संस्कृत तथा मराठी का भी प्रयोग किया है।[3]

२. प्राकृत वैयाकरण मार्कण्डेय (१७वीं शती ई०) ने अपनी व्याकरण-कृति प्राकृत सर्वस्व में स्वरचित विलासवती सट्टक की चर्चा की है। एक पद्य उद्धृत किया है, कृति अनुपलब्ध है।[4]

३. रुद्रदास (१७वीं शती ई०), जो मालाबार प्रदेश के निवासी थे, ने चंद्रलेखा सट्टक की प्राकृत में रचना की है।

४. विश्वेश्वर (१८ वीं शती ई०) की कृति शृंगारमंजरी सट्टक की हस्तलिखित प्रतियाँ उपलब्ध हैं। इस कृति में आद्योपान्त प्राकृत का प्रयोग हुआ है।[5]

५. घनश्याम (१७००-१७५० ई०) कृत आनन्दसुन्दरी सट्टक भी प्राकृत में है।[6] घनश्याम ने आनन्दसुन्दरी, बैकुण्ठ चरित तथा एक अन्य सट्टक की रचना की थी। कथावस्तु, शैली सभी दृष्टियों से उपर्युक्त सभी उपलब्ध सट्टक कृतियाँ कर्पूरमंजरी से प्रभावित हैं। भाषा में जो देशी शब्दों के स्वतंत्र प्रयोग, सुभाषित तथा प्रवाह कर्पूरमंजरी में मिलता है वह अन्य सट्टकों में नहीं।

नाटक-साहित्य में प्राप्त प्राकृत, प्राकृत-साहित्य की महत्वपूर्ण धारा है जो अविच्छिन्न रूप से ई० पू० की शताब्दियों से १८वीं शती ई० तक मिलती है। पाँचवीं, छठवीं शती तक प्राकृत के प्रयोगों में प्राकृत भाषा की स्वाभाविकता हो सकती है, इसके पीछे की शतियों में केवल परंपरा का पालन हुआ होगा। कालिदास जैसे कलाकार के हाथ में प्राकृत भी संस्कृत के समान कोमल सूक्ष्म कल्पना को व्यक्त करने वाली हो गई है यथा अभिज्ञानशाकुन्तल का प्रथम गीत देखा जा

---

१. कीर्तने, बंबई, १८७९ ई०, इस समय अप्राप्य है।

२. चंद्रलेखा सट्टक : भारतीय विद्या भवन से प्रकाशित, डा० आ० ने० उपाध्ये द्वारा संपादित, बंबई १९४५ ई०, भूमिका पृ० ३५-३६।

३. ओड़ीसा में भी कुछ ऐसी संस्कृत नाट्य कृतियाँ मिलती हैं जिनमें ओड़िया भाषा के प्रयोग मिलते हैं।

४. चं० ले० सट्टक भूमिका पृ० ४३।

५. चं० ले० भूमिका पृ० ४३-४८।

६. डा० उपाध्ये द्वारा संपादित होकर बनारस से प्रकाशित, मोतीलाल बनारसीदास, बनारस १९५५ ई० भूमिका पृ० ४८-४९ और आगे।

सकता है 'ईसीसिचुम्बिआइँ ममरेहिं सुउमारकेसरसिहाई···। ऐसे कवियों की संस्कृत और प्राकृत में व्यक्त भाव और कल्पना में कोई अन्तर नहीं मिलता। प्राकृतों का प्रयोग नाटकों में विभिन्न पात्र पात्रियों की बोली की स्वाभाविकता प्रकट करने के लिये प्रारम्भ किया गया होगा, आगे इस नियम का रूढ़ि रूप से पालन होता रहा, प्राकृत जब बोलचाल की भाषा न रह गई तो भी उसका प्रयोग होता रहा अन्यथा उसके स्थान पर अन्य बोलियों का प्रयोग होना चाहिए था। प्राकृत के मृतभाषा या साहित्य की भाषा मात्र रह जाने पर संस्कृत छाया अनिवार्य रूप से रहने लगी और कहीं कहीं केवल छाया ही रह गई जो प्राकृतों के अज्ञान के कारण है।

उत्तर-पश्चिमी प्राकृत :

मो०, डूत्रल द रूहं ने सन् १८९२ ई० में खोटान में खरोष्ठी लिपि में लिखित धम्मपद के कुछ पत्र प्राप्त किए जो प्राकृत में थे। खरोष्टी लिपि में होने के कारण विद्वानों ने इसको 'खरोष्ठी धम्मपद' नाम दिया[1] तथा कुछ ने 'प्राकृत धम्मपद'।[2] विद्वानों ने इसकी भाषा को उत्तर पश्चिम देश की बोली का रूप बताया है।[3] सर औरेल स्टाईन ने चीनी तुर्किस्तान की यात्राओं (१९००-१, १९०६-७, १९१३-१४ ई०) में अनेक खरोष्ठी लेख प्राप्त किए जिनका अध्ययन श्रोडर, राप्सन, सेनार्त ने किया और क्रमशः १९२० ई०, १९२७ ई० तथा १९२९ ई० में 'खरोष्ठी इंस्क्रिप्शन्ज़' के नाम से प्रकाशित कराया।[4] उत्तर सीमान्त प्रदेश की प्राकृत के अध्ययन के लिये ये संग्रह महत्वपूर्ण सामग्री प्रस्तुत करते हैं। इनमें से अधिक अंशों के निय स्थान में प्राप्त होने के कारण इनकी प्राकृत को नियप्राकृत कहा जाता है।[5] इनका समय ई० की तीसरी शती विद्वानों ने अनुमित किया है।[6] धम्मपद की गाथाओं में कहीं कहीं कुछ सरल कल्पना मिल सकती है अन्यथा इस प्राकृत साहित्य में साहित्यिक कल्पना या भावात्मकता नहीं मिलती। साहित्य की दृष्टि से कम भाषा की दृष्टि से इस साहित्य का महत्व अधिक है।

---

१. एमील सेनार्त : खरोष्ठी धम्मपद, १८९७ ई०।

२. शैलेन्द्रनाथ मित्र तथा बेनीमाधव वरुआ : प्राकृत धम्मपद, कलकत्ता विश्वविद्यालय।

३. कात्रे : प्राकृत लैंग्वेजेज एन्ड देयर कन्ट्रीब्यूशन टु इंडियन कल्चर।

४. वही पृ० ३४।

५. वही, पृ० ३५।

६. वही, पृ० २५।

प्राकृत के प्रयोग और उसके प्रसार क्षेत्र की विशालता की सूचना नियप्राकृत के अंश देते हैं ।

शिलालेखों की प्राकृत :

प्राकृत में प्राप्त सबसे प्राचीन शिलालेख अशोक के हैं । शाहबाजगढी और मनसेहरा के लेख खरोष्ठी लिपि में हैं, ब्राह्मी लिपि में उत्कीर्ण लेख भारत के विभिन्न भागों में मिलते हैं । विभिन्न प्रान्तों के अनुसार इन शिलालेखों की भाषा में भी कुछ भेद मिलते हैं, पैशाची, महाराष्ट्री, शौरसेनी, प्राचीन मागधी, और अर्धमागधी सभी की विशेषताएँ देश भेदों के अनुसार इन लेखों में मिलती हैं ।[१] इन लेखों में सरल धर्मोपदेश हैं। भाषा के अध्ययन की दृष्टि से ये शिलालेख अत्यन्त महत्वपूर्ण सामग्री प्रस्तुत करते हैं, साहित्यिकता उनमें नहीं है । अशोक की धर्मलिपियों का जिस प्रकार अध्ययन हुआ है उस प्रकार प्राकृत में प्राप्त अन्य शिलालेखों का नहीं हुआ, न उनकी कोई सूची या संग्रह ही अलग हुआ है । सन् ईसवी के पूर्व की कुछ शतियों से लेकर ईसा की पाँचवीं शती तक के अनेक प्राकृत शिलालेख मिलते हैं जो पर्वतों की चट्टानों, गुहाओं, बर्तनों और सिक्कों पर उत्कीर्णित हुए मिलते हैं। प्राचीन शिलालेखों की प्राकृत प्रायः संस्कृत से प्रभावित प्रतीत नहीं होती, कहीं कहीं संस्कृत शैली का प्रभाव मिलता है,[२] काव्य गुण इस प्राकृत में नहीं मिलते, कहीं कहीं गीति तत्व या संस्कृत पदावली का अनुकरण करती हुई वाक्यावली मिलती है ।[3] परवर्त्तीकाल में प्राकृत पद्य-बद्ध

---

१. डा० बेनीमाधव वरुआ : अशोक एन्ड हिज इन्स्क्रिप्शन्ज, भाग २, कलकत्ता १९४६ पृ० ४८-६१ ।
तथा एम० ए० मेहेण्डले : हिस्टारिकल ग्रैमर अव् इंस्क्रिप्शनल प्राकृत्ज, पृ० २६९ और आगे, पूना १९४८ ।

२. सेलेक्ट इंस्क्रिप्शन्ज बेयरिंग आन इंडियन हिस्ट्री एन्ड सिविलिजेशन, प्रथम भाग, डा० डी० सी० सरकार द्वारा संपादित, कलकत्ता विश्व-विद्यालय, कलकत्ता १९४२ ई०, शिलालेख सं० २० पृ० २८७, तथा सं० ५७ पृ० ४०० ।

३. सीताबेंगा तथा जोगीमारा गुहाओं के शिलालेखों में कुछ गीतिपद्य मिलते हैं तथा नासिक के प्राकृत शिलालेखों पर स्पष्ट ही संस्कृत की काव्य शैली का प्रभाव लक्षित होता है । कीथ, संस्कृत ड्रामा, पृ० ५४, ८६,८९ ।

शिलालेख भी मिलते हैं।[१] काव्य की विभिन्न विशेषताओं, मानव भावानओं, काव्यरूपों, सामाजिक चेतनाओं आदि का दर्शन शिलालेखों की भाषा में नहीं मिल सकता। उसके लिये स्थान कम रहता है, यह भिन्न बात है कि कहीं कहीं समस्त कृतियाँ पत्थरों पर खुदी हुई मिलती हैं। इतिहास और भाषा की दृष्टि से उनका विशेष महत्व है। सभी प्रकार की प्राकृतों के अध्ययन के लिये शिलालेखों में विपुल सामग्री मिलती है।

इस समस्त प्राकृत साहित्य के अतिरिक्त बौद्ध और जैनों द्वारा लिखित कुछ संस्कृत कृतियाँ मिलती हैं जिन पर प्राकृत का प्रभाव है। इन कृतियों में शब्दों के रूप इस प्रकार बनाए गए हैं कि संस्कृत व्याकरण की दृष्टि से तो वे अशुद्ध हैं ही प्राकृत व्याकरण की दृष्टि से भी कदाचित् ही वे शुद्ध कहे जा सकते हैं। बौद्ध साहित्य में महायान शाखा की रचनाएँ महावस्तु, सद्धर्मपुंडरीक, ललितविस्तर, जातकमाला, अवदानशतक ग्रंथों की भाषा इसी प्रकार की है जिसे 'गाथा डाइलेक्ट या मिश्र संस्कृत' कहा गया है।[२] इसी प्रकार जैन संप्रदाय की कुछ कृतियों वरांग चरित[३], चित्रसेन पद्मावती चरित्र, प्रबन्ध चिन्तामणि,[४] हरिसेणाचार्य कृत कथाकोष[५], आदि कृतियों में जहाँ तहाँ प्राकृताभास मिलता है। इनके अतिरिक्त तंत्र और शैव संप्रदाय के ग्रंथ भी प्राकृत या अशुद्ध संस्कृत में लिखे गए हैं। साधनमाला जैसी तांत्रिक कृतियों में प्राकृत के पद्य मिलते हैं तथा शैव संप्रदाय के ग्रंथ महार्थमंजरी में प्राकृत को संप्रदाय की भाषा ही कहा गया है।[६] कौल ज्ञान निर्णय की भूमिका में अशुद्ध प्रयोगों के संबंध में एक

---

१. एपिग्रैफ़िका इंडिका, भाग ८, पृ० २४१ और आगे। धार में प्राप्त शिलालेखों की प्रतिलिपियाँ जिनमें गाथाबद्ध भोजकृत कही जाने वाली दो प्राकृत कविताएँ उत्कीर्णित मिली हैं।

२. एम० विंटरनित्स : हिस्टरी अव् इंडियन लिटरेचर, भाग २, पृ० २२६, ४०१।

३. भूमिका : डा० ए० एन० उपाध्ये द्वारा लिखित, माणिकचंद्र दिगंबर जैन ग्रंथमाला, बंबई।

४. सिंघी जैन ग्रंथमाला में प्रकाशित।

५. सिंघी जैन ग्रंथमाला में डा० उपाध्ये द्वारा संपादित होकर प्रकाशित।

६. 'प्राकृतभाषाविशेषत्वाच्च यथा सम्प्रदाय व्यवहार इत्युपदेशः' महार्थमंजरी (त्रिवेन्द्रम् १९१९ ई०, सं० त० गणपति शास्त्री) पृ० १९२-१९३।

मनोरंजक उद्धरण मिलता है, जिसमें कहा गया है कि 'साधु शब्द प्रयोग के अभिमान का नाश करने के लिये जान बूझ कर ऐसे भ्रष्ट प्रयोग किए गए हैं।'[1]

ऊपर के पृष्ठों में प्राकृत साहित्य की एक संक्षिप्त रूपरेखा प्रस्तुत की गई है जो प्राकृत साहित्य की सीमाएँ स्पष्ट करने के लिये पर्याप्त हैं। प्राकृतों का प्रयोग समस्त भारत तथा उससे संलग्न प्रदेशों में समझा जाता था, ई० पू० तीसरी शती से लेकर १८ वीं शती ई० तक उसमें भारत में कहीं न कहीं रचना होती रही। गद्य, पद्य, कथा, गीति, मुक्तक, प्रबन्ध, नाटक सभी प्रकार की रचनाएँ प्राकृत में उपलब्ध होती हैं। प्रबन्ध, कथा, मुक्तक प्राकृत में अत्यन्त उच्चकोटि के मिलते हैं। निस्सन्देह इस मनोरम साहित्य का रस लेने वाले, समझने वाले प्राकृत काव्य मर्मज्ञ भी किसी समय अनेक रहे होंगे और उन्हीं को सामने रखकर अनेक कवियों ने प्राकृत काव्य की सृष्टि की होगी। भारतीय जीवन और भारतीय साहित्य को इस साहित्य ने इस प्रकार अवश्य ही प्रभावित किया होगा। प्राकृत में प्राप्त गीति मुक्तकों में जो मौलिक धारा मिलती है[2], उससे संस्कृत साहित्य, अपभ्रंश और फिर क्रमशः हिन्दी साहित्य अवश्य प्रभावित हुए हैं। अद्वितीय कथाग्रंथ गुणाढ्य कृत वृहत्कथा[3] यदि वास्तव में पैशाची प्राकृत में थी तो यह कहने में किसे संदेह हो सकता है कि भारतीय कथा साहित्य प्राकृत से प्रभावित नहीं हुआ। संस्कृत

---

१. तेषांच सुशब्दवादिनाँ सुशब्दग्रहविनाशाय अर्थशरणतामाश्रित्य क्वचित् वृत्ते अपशब्दः . . . एवं टीकायाम् अपि सुशब्दाभिमाननाशाय लिखितव्यं मया अर्थशरणतामाश्रित्य इति, कौलज्ञाननिर्णय, कलकत्ता १९३४ ई० प्रिफ़ेस, पृ० ५-६।

२. गाथा सप्तशती के कुछ प्राचीन संस्करणों में पदों के रचयिताओं के नाम मिलते हैं। स्वयंभू छंद जैसी कृतियों में प्राप्त उद्धरणों के साथ भी कवियों के नाम दिए हैं। निश्चय ही इन कवियों ने एक दो पद्य ही नहीं रचे होंगे। इनकी अनेक रचनाएं होंगी और मुक्तक साहित्य प्राकृत में इस प्रकार विपुल परिमाण में रहा होगा। यह मुक्तक गीति लोक जीवन से प्रभावित हैं किन्तु रचना कौशल उनमें साहित्यिक है। गाथा में प्राप्त नामों के लिए दे० बेवर का संस्करण भूमिका, इं० हि० क्वार्टली १९४७, पृ० ३००-१० प्रो० वी० वी० मीराशी का लेख "द डेट अव् गाथा सप्तशती।"

३. लाकोत, एसाइ सुर गुणाढ्य ए ला बृहत्कथा, पारी, १९०८।

काव्य में जो विविधता मिलती है वही कुछ सीमित ढंग से प्राकृत में मिलती है, जो शैली, काव्यरूप, छंद संस्कृत में मिलते हैं वे प्राकृत में भी मिल जाते हैं और इन सब के अतिरिक्त प्राकृत में अपनी एक मौलिकता भी है, गाथा, स्कंधक आदि छंद उसके अपने हैं।[1] इस प्रकार प्राकृत में दो धाराएँ मिलती हैं, एक उन लेखकों की परंपरा है जिन्होंने संस्कृत काव्य की अनेक परंपराओं, शैलियों से प्रभावित होकर रचनाएँ कीं दूसरी धारा प्राकृतके मौलिक लेखकों की है जिन्होंने प्राकृत के छंदों, सीधे जीवन से संबंधित दृश्यों को अपनाया। गाथा सप्तशती, वज्जालग्ग, तथा अन्य स्फुट पद्यों में जो मुक्तक धारा मिलती है उसमें कला का अत्यन्त निखरा रूप, मर्यादा से कुछ दूर स्वतंत्र काव्योक्तियाँ और संक्षेप में अधिक कहने का प्रयास और अद्वितीय सरसता सब विशेषताएँ मिलती हैं, यह धारा क्रमशः अपभ्रंश में भी चलती रही भले ही वह संस्कृत के माध्यम से आई हो। हिंदी में भी वह प्राकृत के मूलस्रोत से ही आई। इसी प्रकार अन्य प्राकृत काव्य धाराओं का भी भारतीय साहित्य पर प्रभाव अवश्य पड़ा होगा किन्तु पूरे साहित्य के न मिलने से निश्चित शृंखला आज उपलब्ध नहीं हो रही है।

---

१. कुछ प्राकृत कृतियों में अनेक छंदों के प्रयोग हुए हैं जिनका नाम किसी छंद शास्त्र विषयक कृति में नहीं मिलता। यथा अजित शांतिस्तवन जैन संप्रदाय की एक छोटी सी रचना में खिज्जययं, भाभुरयं जैसे छंद मिलते हैं। कृति की एक प्रतिलिपि प्रस्तुत लेखक के पास है।

२

अपभ्रंश भाषा

प्रारम्भिक—संस्कृत के साधुशब्दों के अतिरिक्त शब्द रूपों को पतंजलि ने महाभाष्य में 'अपशब्द' या 'अपभ्रंश' (पतित) संज्ञा दी है।[1] आगे जिस साहित्यिक या बोली की भाषा का 'अपभ्रंश' नाम पड़ा उस भाषा से पतंजलि के उल्लेख का कोई सीधा संबंध नहीं प्रतीत होता। 'गाबी', 'गोणी' आदि जो अपशब्दों के उदाहरण उन्होंने उद्धृत किये हैं वे प्राकृतों में मिलते हैं। शब्दों के विकृत रूप मात्र को व्यापक अर्थ में 'अपभ्रष्ट' कहा गया है। भरतमुनि ने ऐसे शब्दों को 'विभ्रष्ट' संज्ञा दी है जो 'अपभ्रष्ट' की समानार्थी है ? भरतमुनि के उल्लेख से इतना स्पष्ट हो जाता है कि उनके समय में विभ्रष्ट शब्दावली से युक्त काव्य रचना भी होने लगी थी।[2]

भामह सबसे प्राचीन व्यक्ति हैं जिन्होंने अपभ्रंश का साहित्यिक भाषा के रूप में स्पष्ट उल्लेख किया है।[3] भामह के उल्लेख में, 'अपभ्रष्ट' शब्द में जो अनादर की भावना प्रतीत होती है, वह नहीं मिलती। अपभ्रंश भाषा के स्वरूप की भामह ने व्याख्या नहीं की है। दंडी ने पतंजलि और भामह दोनों के मतों का समावेश कर दिया है। अपभ्रंश को वाङ्मय की एक भाषा बताते हुए उन्होंने

---

१. भूयांसोऽपशब्दाः, अल्पीयाँसः शब्दा इति। एकैकस्य हि शब्दस्य बहवोऽपभ्रंशाः, तद्यथा गौरित्यस्य शब्दस्य गावी गोपी गोता गोपोतलिकेत्यादयो बहवोऽपभ्रंशः, महाभाष्य, निर्णयसागर संस्करण, १९३८ ई०, पृ० ३१।

२. दे० नाट्यशास्त्र, गायकवाड्ज़ ओरिएंटल सिरीज़ बड़ौदा, भाग २, अध्याय १७.३।

३. संस्कृतं प्राकृतं चान्यदपभ्रंश इति त्रिधा, काव्यालंकार, चौखम्बा संस्करण, काशी, १९८५ वि०, १.१६ तथा १.२८।

कहा है कि काव्य में आभीरादि की भाषा अपभ्रंश है और शास्त्रानुसार संस्कृत के अतिरिक्त सभी भाषाएँ अपभ्रंश हैं।[१] दंडी का अपभ्रंश के साथ आभीरों के संबंध का उल्लेख महत्वपूर्ण है। भरत ने आभीरों की बोली को एक विभाषा माना है।[२] पाणिनि ने 'विभाषा' का प्रयोग बोली के अर्थ में किया है।[३] दंडी द्वारा उल्लिखित 'आसारबन्ध'[४] अपभ्रंश काव्य तो उपलब्ध नहीं हुए किन्तु इससे यह निर्विवाद कहा जा सकता है कि उनके समय के बहुत पहले से ही अपभ्रंश में साहित्य रचना होने लगी थी। अपभ्रंश भाषा के स्वरूप, उसके भेदों आदि के संबंध में दंडी भी मौन हैं। काव्यालंकार के रचयिता रुद्रट और टीकाकार नमिसाधु (१०६९ ई०) ने अपभ्रंश के संबंध में कुछ अधिक विस्तृत उल्लेख किए हैं। देशभेदों के अनुसार रुद्रट ने अपभ्रंश के अनेक भेद होने का संकेत किया है। टीकाकार ने उपनागर, आभीर, और ग्राम्यत्व तीन भेदों का उल्लेख किया है। विशेष लक्षणों के लिए अपने समय के समाज की ओर संकेत किया है। नमिसाधु के उल्लेख से यह भी ज्ञात होता है कि वे अपभ्रंश को प्राकृतों से बहुत भिन्न नहीं मानते थे,[५] प्राकृत को ही अपभ्रंश समझते थे। लोक की बोली में अपभ्रंश के लक्षण देखने का उल्लेख भी महत्व का है। राजशेखर (८८०-९२० ई०) ने अपनी कृतियों में अपभ्रंश के संबंध में जो उल्लेख किए हैं उनसे प्रकट होता है कि उनके समय में अपभ्रंश पतित न समझी जाकर राजसभाओं तथा विद्वत्परिषदों में भी आदर पाने लगी थी।[६] अनेक वार राजशेखर ने अपभ्रंश की प्रशंसा की है और बाल रामायण में अपभ्रंश काव्य को 'सुभव्य' कहा है।[७] उन्होंने अपभ्रंश के भेदादि का उल्लेख नहीं किया है किन्तु सकल, मरु, टक्क, और भादानकवासी लोगों द्वारा अपभ्रंश के बोले जाने का उल्लेख किया है।[८]

---

१. काव्यादर्श भंडा० ओ० रि० इं० पूना १९३८, १.३२, १.३६-३७।

२. नाट्य० १७.५०, बड़ौदा १९३४।

३. अष्टाध्यायी के अनेक सूत्रों में 'विभाषा' शब्द का प्रयोग हुआ है।

४. काव्यादर्श १.३७।

५. २.१२ तथा टीका, निर्णयसागर, १९२८ ई०।

६. काव्यमीमांसा, बड़ौदा, १९३४ ई०, पृ० ६, १९, ३३, ४८, ५०, ५४-५ पर अपभ्रंश के संबंध में उल्लेख हैं।

७. बालरामायण १.१०। जिनमें अपभ्रंश को काव्य पुरुष की 'जघन' कहा है तथा राजसभाओं में अपभ्रंश के स्थान के संबंध में उल्लेख है।

८. का० मी० : सापभ्रंशप्रयोगाः सकलमरुभुवष्टक्कभादानकाश्च, पृ० ५१।

आनन्दवर्धन, मम्मट, भोज, वाग्भट,[१] विष्णुधर्मोत्तर के रचयिता,[२] रामचन्द्र, गुणचन्द्र,[३] जिनदत्त, अमरचन्द्र[४] तथा अनेक कवियों और प्राचीन लेखकों[५] ने अपभ्रंश का साहित्यिक भाषा के रूप में उल्लेख किया है और उसमें देशभेदों के अनुसार अन्तर होने के भी संकेत किए हैं। भोज ने एक विशेष सूचना यह दी है कि अपभ्रंश से गुर्जर तुष्ट होते हैं[६]। हेमचंद्र ने अपभ्रंश का विस्तृत व्याकरण लिखा है और अपभ्रंश के छंदों का भी विवेचन किया है। अपनी कृति काव्यानुशासन में अपभ्रंश काव्यग्रन्थों के भी नामोल्लेख किए हैं।[७] अपने व्याकरण में हेमचंद्र ने अपभ्रंश के भेदों का उल्लेख नहीं किया है किन्तु उन्होंने अनेक वैकल्पिक रूपों को स्वीकार किया है।[८] जिससे प्रतीत होता है कि सामान्य ढंग से अपभ्रंश के सभी भेदों का उन्होंने विवेचन किया है। काव्यानुशासन में अपभ्रंश के साथ ग्राम्य अपभ्रंश का भी उल्लेख किया है, किन्तु उसके लक्षण नहीं दिये। शारदातनय ने अपभ्रंश तथा उससे उत्पन्न भाषाओं को नाट्योपयोगी भाषा माना है। विशेष व्यवहार के अनुसार नागरक, उपनागरक और ग्राम्य तीन भेदों का उल्लेख किया है।[९] विक्रोमोर्वशीय में प्राप्त विवादग्रस्त अपभ्रंश पद्यों के अतिरिक्त किसी भी नाट्य कृति में अपभ्रंश का प्रयोग नहीं मिलता। संभव है, शारदातनय

---

१. वाग्भटालंकार : अपभ्रंशस्तु यच्छुद्धं तत्तद्देशेषु भाषितम् २.३।

२. अप० काव्यत्रयी, भूमिका, पृ० ९६।

३. देशस्य कुरु मगधादेरुद्देशः प्रकृतत्वं तस्मिन् सति स्वस्वदेशसम्बन्धिनी भाषा निबन्धनीयेति। नाट्यदर्पण, प्रथम भाग, बड़ौदा, १९२९ ई०, पृ० २०९।

४. दे० अप० का० त्र० भूमिका, पृ० १००, तथा ग० वा० तगारे: हिस्टॉरिकल ग्रेमर अव् अपभ्रंश, भूमिका, पृ० ३, पूना, १९४८।

५. वही, भूमिका पृ० ९६-९७।

६. अपभ्रंशेन तुष्यन्ति स्वेन नान्येन गुर्जराः सर० कंठाभरण, पृ० १२२-२३, निर्णय० १९२५ ई०।

७. काव्यानुशासन, अध्याय ८, पृ० ३९५ तथा ४०५। काव्यमाला, निर्णय सागर, १९३४ ई०।

८. यथा-सिद्धहैम के आठवें अध्याय के चतुर्थ पाद के सूत्र ३४१, ३६०, ३७२, ३९१, आदि में निर्धारित नियम उसी के दूसरे नियमों से मेल नहीं खाते।

९. भावप्रकाशनं, बड़ौदा १९३०, अपभ्रंशाह्वयां भाषां सप्तमीमपरे विदुः एता नागरकग्राम्योपनागरक भेदतः, पृ० ३१० दशमोधिकारः।

के सम्मुख कुछ ऐसी कृतियाँ होंगी जिनमें अपभ्रंश का प्रयोग हुआ होगा, अथवा उन्होंने किसी परंपरा से प्रचलित मत को संग्रह कर दिया होगा।

हेमचंद्र को अपभ्रंश काव्य की अंतिम सीमा माना जा सकता है। यद्यपि उनके पश्चात् भी अपभ्रंश में कृतियों की रचना होती रही किन्तु कदाचित् व्याकरण के अध्ययन द्वारा। अपभ्रंश के संबंध में जो उल्लेख विश्वनाथ आदि पीछे के काव्य समीक्षकों ने किए हैं उनसे ज्ञात होता है कि अपभ्रंश की स्वाभाविक धारा विस्मृत हो चुकी थी तथा उसके काव्यरूपों पर संस्कृत का प्रभाव पड़ने लगा था।[1]

उपर्युक्त उल्लेखों से अपभ्रंश के संबंध में निम्न निष्कर्ष निकलते हैं:—

१. पतंजलि और भरत के समय तक अपभ्रंश का कोई निश्चित स्वरूप नहीं था। संस्कृत-साधु शब्दों के अतिरिक्त सभी शब्दों को पंडितवर्ग विकृत, अपभ्रष्ट, अपभ्रंश, विभष्ट्र या अपशब्द कहता था। इस प्रकार के रूपों को संस्कृत पंडित सम्मान की दृष्टि से नहीं देखते थे। कदाचित् अपभ्रंश या अपभ्रष्ट (घृणित, पतित) नाम से भी यही ध्वनि निकलती है।

२. धीरे धीरे इन विभ्रष्ट शब्दों का प्रयोग काव्यों में भी होने लगा। भामह और दंडी (ई० छठी शती का प्रारंभ) के समय तक अपभ्रंश में काव्य रचना होने लगी थी। संस्कृत, प्राकृत के साथ अपभ्रंश को काव्य की भाषा के रूप में मान्यता मिलने लगी थी।

३. आगे, जैसा राजशेखर ने सूचित किया है, अपभ्रंश का विद्वन्मंडलियों, राजसभाओं में सम्मान होने लगा था। काव्य की भाषाओं में अपभ्रंश का सम्मान के साथ उल्लेख किया जाने लगा था।

४. आभीर और गुर्जरों से कभी अपभ्रंश का संबंध रहा होगा और इस अनुश्रुति का बहुत दिनों तक साहित्यिकों को स्मरण बना रहा।

५. अपभ्रंश के देशानुसार अनेक उपभेद थे। कुछ भेदों में साहित्य रचना भी होती थी।

उपर्युक्त निष्कर्षों में से कुछ अस्पष्ट हैं, जैसे अपभ्रंश और आभीर गुर्जरों का संबंध तथा अपभ्रंश के विभिन्न भेद। इन प्रश्नों पर किंचित् विस्तार से विचार करना उपयुक्त होगा।

---

१. विश्वनाथ ने साहित्य दर्पण में अपभ्रंश महाकाव्यों को 'सर्गबद्ध' बताया है। अपभ्रंश काव्यों का सर्गों में विभाजन निश्चित ही कृत्रिम और संस्कृत से प्रभावित प्रतीत होता है। वही ६.३२७, निर्णयसागर, १९३६ई०।

आभीर-गुर्जर और अपभ्रंश :

महाभारत,[१] महाभाष्य,[२] कामसूत्र,[३] वायुपुराण,[४] विष्णु पुराण,[५] पउम चरियं,[६] वृहत्संहिता[७], नासिक तथा प्रयाग के शिलालेखों में आभीरों के उल्लेख मिलते हैं। उन्हें यवन, म्लेच्छ, दस्यु बताया गया है। वे बड़े पराक्रमी थे। उन्होंने अपने पराक्रम से राज्य स्थापित कर लिये थे।[८] अमरकोष में आभीर शब्द को गोप, गोपाल, गोसंख्य, गोधुक् और वल्लव का पर्यायवाची कहा गया है और आभीरी को महाशूद्री एवं शूद्रों की भार्या कहा है,[९] एक अन्य स्थल पर गोपालों के ग्राम के लिए 'घोष-आभीर पल्ली' शब्द का प्रयोग हुआ है। प्राचीन भारतीय साहित्य में आए हुए आभीरों के उल्लेखों से अनुमान किया जा सकता है कि ईस्वी सन् के पूर्व की शतियों या प्रारंभ की शतियों में यह बाहर से आए थे। भिन्न कुल (शक-आभीरगुर्जरकुल) के होने के कारण ही कदाचित् उन्हें म्लेच्छ, वर्णसंकर सिद्ध करने का प्रयास किया है।[१०] इनका प्रधान केन्द्र पश्चिम प्रदेश, मथुरादि

---

१. महाभारत में आभीरों को पारदों की श्रेणी का, वृषल और पापकर्म में रत, लोभोपहत कहा गया है।
देे० सभापर्व ५१.११, आश्वमेधिक पर्व ९९.१५-१६, मौसल पर्व ७.४७ तथा ८.१६।

२. महाभाष्य में उनको शूद्रों की एक जाति कहा गया है—शूद्राभीरं, महा० १.२.७२।

३. एक आभीर राजा का उल्लेख हुआ है, कामसूत्र ५.५.३०।

४. वायुपुराण में यवनादि के साथ आभीरों का उल्लेख हुआ है, भाग २, अध्याय ३७.३५२।

५. आभीर अर्जुन को लूटते हैं, विष्णुपुराण, खंड ५, अध्याय ३८.१४-१५ आदि।

६. आभीर देश का उल्लेख हुआ है, ९८.४६।

७. वृहत्संहिता १४.१२, १८।

८. एपिग्राफिका इंडिका भाग ८, पृष्ठ ८८, तथा आर्केआलाजिकल सर्वे, वेस्ट इंडिया ४.१०३. तथा कोरपुस इंस्क्रि० इंडीकेरुम भाग ३, पृ० ८। आभीर सेनापति रुद्रमूर्ति का शिलालेख १८१ ई० का है, एपिग्रैफिका इंडिका, भाग १६, पृ० २३३ तथा आगे।

९. अमरकोष १८२१, ११००, ६३३ निर्णयसागर, १९४०।

१०. मनुस्मृति में आभीरों को अम्बष्ठ कन्या से उत्पन्न कहा गया है, १०.१५।

रहे हैं, पशुचारण इस जाति का प्रधान जीविका का साधन रहा है। आभीर जाति की प्रधानता के ही कारण उनकी भाषा की ओर भी कदाचित् ध्यान गया होगा। भरत ने आभीरों की बोली को विभाषा कहा है।[१] भरत ने हिमवत्, सिन्धु, सौवीर आदि पश्चिमी प्रदेशों की भाषा को उकार बहुला बताया है,[२] और आभीरों का क्षेत्र पश्चिम के प्रान्त ही रहे हैं अतः आभीरों का संबंध उकार बहुला बोली से स्थापित किया जा सकता है और अपभ्रंश की एक प्रधान विशेषता उकारबहुलता होना भी है। अमरकोष में आभीरों के पर्यायवाची ऐसे शब्द हैं जिनसे उनके गोचारक होने का संकेत मिलता है, पतंजलि ने जिन शब्दों को अपशब्द कहकर उद्धृत किया है वे भी गोचारक जातियों द्वारा व्यवहृत शब्द ही हैं, ऐसा लगता है कि प्रबल आभीर जाति द्वारा व्यवहृत शब्द ही वे अपभ्रंश शब्द हैं। आभीरों ने संस्कृत या आर्यभाषा का अपने ढंग से प्रयोग करके एक नया रूप दिया और पंडित-वर्ग ने उसे पतित कहकर अपभ्रंश नाम दिया। दंडी ने संभवतः इसी परंपरा का उल्लेख करते हुए आभीरादि की गिरा को अपभ्रंश बताया है। आभीर के साथ 'आदि' पदांश का अर्थ टीकाकारों ने गुर्जरादि किया है।[3] और भोज ने भी जो अपभ्रंश से गुर्जरों के तुष्ट होने की बात कही है वह निश्चय ही किसी प्राचीन परंपरा के आधार पर ही कही होगी।[४]

आभीरों के समान गुर्जर भी घुमक्कड़ शक कुल की एक जाति है। आभीर, गुर्जर, जाट आदि सभी एक कुल की जातियाँ हैं। पशुपालन, कृषि करनेवाली इन जातियों का सिंधु देश से मथुरा तक आधिपत्य रहा। इतिहास में गुर्जरों का प्राचीनतम उल्लेख ईस्वी की छठी शती में मिलता है जब कि हर्षवर्धन के पिता प्रभाकरवर्धन ने उनके विरुद्ध युद्ध किया था। इस प्रबल जाति ने कई राज्य भी स्थापित कर लिए थे। आभीर-गुर्जर कुल से अपभ्रंश के संबंध के उल्लेख बड़े ही ऐतिहासिक, अर्थगर्भित और व्यंजक प्रतीत होते हैं। पश्चिम, उत्तर भारत में फैली हुई ये जातियाँ संस्कृतीय भाषाओं का उच्चारण अपने ढंग से करती होंगी। लोक में प्रचलित व्याकरणादि पर भी उनके प्रयोगों का प्रभाव पड़ा होगा। पंडित वर्ग को यह उच्चारण, व्याकरण स्वातंत्र्य सभी खटकते होंगे और दूसरे कुल के होने के कारण और भी अधिक, इसी कारण आभीर गुर्जरों की भाषा

१,२. ना० शा० १७.५०, ६२।

३. काव्यादर्श : तरुणवाचस्पति की टीका, बिब्लियोथेका संस्करण।

४. सर० कं० २.१३।

को अपभ्रंश नाम दिया होगा। आभीर-गुर्जर अपभ्रंश में काव्य रचना भी करते होंगे और वह सरस तथा अपने ढंग का मौलिक साहित्य रहा होगा इसी से अपभ्रंश को साहित्यिक भाषाओं में स्थान मिल गया।

अपभ्रंश के भेद :

कुछ साहित्यशास्त्र रचयिताओं ने देश विशेष के अनुसार अपभ्रंश के अनेक भेद होने की बात कही है।[1] कुछ ने नागर, उपनागर, आभीर तथा ग्राम्य भेद गिनाए हैं।[2] इन कृतिकारों ने परंपरा के किसी अनुरोध से अपभ्रंश के भेदों का उल्लेख मात्र किया है, उनके विस्तार, क्षेत्र, लक्षण आदि का कोई उल्लेख नहीं किया है। कुछ प्राकृत वैयाकरणों ने भी कहीं कहीं अपभ्रंश का विवेचन करते समय भेदों की चर्चा की है।

पश्चिमी संप्रदाय के सबसे प्राचीन वैयाकरण हेमचंद्र हैं[3] जिनकी व्याकरण कृति प्राप्त है। सिद्धहेमशब्दानुशासन के आठवें अध्याय के चतुर्थ चरण (सूत्र ३२९-४४६) में हेमचन्द्र ने अपभ्रंश का विवेचन किया है। हेमचन्द्र ने अपभ्रंश के भेदों का उल्लेख नहीं किया है किन्तु हेमचन्द्र के व्याकरण में विवेचित अपभ्रंश एक ही प्रकार की नहीं है। सामान्य रूप से अपभ्रंश मात्र का उन्होंने विवेचन किया है, इसी कारण अनेक वैकल्पिक नियमों का उल्लेख किया है जो परस्पर विरोधी हैं।[4] उनके नियमों से प्रतीत होता है कि वे प्राकृत (महाराष्ट्री) और शौरसेनी अपभ्रंश के दो आधार मानते थे।[5] हेमचन्द्र के पूर्ववर्ती चंड (चौथी शती ई०) ने केवल एक सूत्र में अपभ्रंश की चर्चा की है।[6] सिंहराज (१३-१५वीं

---

१. भूरिभेदो देशविशेषादपभ्रंशः : काव्यालंकार, २.१२।

२. दे० पीछे शारदातनय का मत, साहित्यदर्पण पृ० ४८४, निर्णयसागर १९३६ ई०।

३. डॉ० ग्रियर्सन प्राकृत वैयाकरणों को पूर्वी और पश्चिमी दो वर्गों में विभक्त करते हैं और उनके मत का समर्थन याकोबी, वैद्य, आदि ने किया है। वाल्मीकि सूत्र बहुत पीछे के हैं। दे० वाल्मीकिसूत्र, ए मिथ, डा० उपाध्ये, भारतीय विद्या, भाग २, खंड २, पृ० १६०-१७६।

४. यथा रेफादि के संबंध में उनके नियम द्रष्टव्य हैं। सिद्ध हैम० ८.४, ३९८, ३९९।

५. जैसा कि सूत्र ८.४.३२९ की इस वृत्ति से प्रकट होता है—प्रायोग्रहणादस्यापभ्रंशे विशेषो वक्ष्यते तस्यापि क्वचित्प्राकृतवत् शौरसेनीवच्च कार्यं भवति, तथा सूत्र ३९६ तथा ४४५ दृष्टव्य।

६. न लोपोऽपभ्रंशेऽधोरेफस्य ३.४१, प्राकृत लक्षण, कलकत्ता १९२३ ई०।

शती ई०) ने भी एक सूत्र में 'शौरसेनीवत्' कहकर अपभ्रंश की चर्चा की है।[1] लक्ष्मीधर (१६ वीं शती ई०) ने हेमचन्द्र को आधार मानकर अपभ्रंश को प्राकृत का छठवाँ भेद कहकर व्याख्या की है[2] पश्चिमी वर्ग के वैयाकरणों ने प्रायः शौरसेनी को अपभ्रंश का आधार माना है। इस आधार पर कि आभीरों का पश्चिम प्रदेश में ही आधिपत्य रहा है। आभीरी को पश्चिमी अपभ्रंश, जिसका आधार शौरसेनी है, का पर्यायवाची माना जा सकता है। पश्चिमी वर्ग के वैयाकरणों ने अपभ्रंश के भेदों का उल्लेख नहीं किया है।

पूर्वीय वर्ग के प्राचीनतम वैयाकरण वररुचि ने अपभ्रंश का कहीं उल्लेख नहीं किया है। क्रमदीश्वर (ई० सन् १३ वीं शती के पश्चात्) ने छंदों के आधार पर अपभ्रंश के भेदों की मनोरंजक व्याख्या की है। उन्होंने व्राचट (व्राचड) को रेफयुक्त उच्चारण वाला बताया है और दोहादि की रचना उसमें होने का उल्लेख किया है, रासकादि में नागर का प्रयोग होता है। प्राकृत मिश्र गाथादि में उपनागर के व्यवहृत होने की सूचना दी है। हेमचन्द्र ने अपने व्याकरण में केवल दोहा छंदों को ही उद्धृत किया है, अतः क्रमदीश्वर के अनुसार उन्हें व्राचट अपभ्रंश माना जा सकता है। क्रमदीश्वर ने इन भेदों के प्रयोग होने वाले प्रान्तों का उल्लेख नहीं किया है और छंदों के उल्लेख से अनुमित किया जा सकता है कि केवल साहित्यिक अपभ्रंश का ही उन्होंने विवेचन किया है। उनके अनुसार व्राचट और नागर अपभ्रंश के प्रयोग का क्षेत्र पश्चिमी प्रदेश होना चाहिए क्योंकि दोहा और रासक छंदबद्ध रचनाएँ प्रायः पश्चिम प्रदेशों में ही प्रिय रही हैं।[3]

पुरुषोत्तमदेव[4] (१२वीं शती ई०) ने नागरक, व्राचट और उपनागरक अप-

---

१. प्राकृतरूपावतार, रा० ए० सो० १९०९ ई०।

२. षड्भाषाचन्द्रिका : के० पी० त्रिवेदी द्वारा संपादित, बंबई।

३. हेमचंद्र ने अपने व्याकरण में दोहे ही उद्धृत किए हैं। 'रासक' नामक अनेक रचनाएं पश्चिम में रची गईं। पूर्वीय प्रदेशों में 'रासक' नामक कोई रचना नहीं मिलती। संभव है ये रचनाएं पहिले 'रासक' छंद में ही रची जाती हों। कुछ रचनाएं एकही प्रकार के छंद में रची गई हैं। दे० भविसयत्त कहा (याकोबी) भूमिका, पृ० ७१। भोज ने सरस्वती० में अपभ्रंश को वस्तुबंध कहा है, पृ० १२५, काव्यमाला १९२५ ई०।

४. एल० नीत्ती दोलची द्वारा संपादित 'ल प्राकृतानुशासन द पुरुषोत्तम', पारी, १९३८ ई० तथा ए ग्रेमर अव् द प्राकृत लैंग्वेज, कलकत्ता विश्वविद्यालय १९४३ ई०, पृ० १०६ और आगे।

-भ्रंश भेदों की चर्चा की है और नागरक को प्रधान अपभ्रंश माना है। व्राचट को र, ऋ से युक्त होना बताया है तथा उपनागरक के नागरक तथा व्राचट दोनों के सांकर्य से बनने का उल्लेख किया है। इन तीन प्रधान भेदों के अतिरिक्त पांचालादि देशों के नामानुसार पांचाल, वैदर्भी, लाटी, औड्री, कैकेयी, गौडी, ढक्क, वक्कर, कुन्तल, पांड्य, सिंहलादि की भाषाओं के नाम दिए हैं किन्तु लक्षण नहीं दिए हैं। ध्यान देने योग्य बात यह है कि प्रधान अपभ्रंशों के प्रदेशों का उल्लेख नहीं किया है और अपभ्रंश को पुरुषोत्तम ने शिष्टों की भाषा कहा है।[1]

रामशर्मतर्कवागीश (१६वीं शती ई०) ने प्राकृतकल्पतरु[2] में २७ प्रकार की अपभ्रंशों के नाम दिए हैं और संक्षेप में उनकी विशेषताओं का भी विवेचन किया है। मार्कंडेय[3] (१७ वीं शती ई०) ने नागर, उपनागर और व्राचट को प्रधान मानते हुए अनेक सूक्ष्म भेदों के होने का संकेत किया है और २७ भेदों के नाम दिए हैं। उन्होंने नागर अपभ्रंश को मूल माना है,[4] व्राचट का नागर से सिद्ध होना कहते हुए उसे सिन्धु देश की भाषा कहा है[5] और टक्की, मालवी, पांचाली, वैदर्भी आदि को भी व्राचट के अन्तर्गत बताया है। तर्कवागीश और मार्कंडेय ने, संभव है, किसी प्राचीन आधार का सहारा लिया हो किन्तु उसका उन्होंने उल्लेख नहीं किया।

वैयाकरणों द्वारा किए गए अपभ्रंश के विवेचन से प्रतीत होता है कि पश्चिमीय वैयाकरण भेदों का उल्लेख नहीं करते। हेमचन्द्र ने ग्राम्य का उल्लेख मात्र किया है, किन्तु पूर्वीय वैयाकरणों ने ग्राम्य का कोई संकेत नहीं किया है। क्रमदीश्वर द्वारा कथित भेदों के लक्षण हेम व्याकरण में भी मिल जाते हैं। उनके तीन भेदों का हेमचंद्र द्वारा विवेचित अपभ्रंश में समाविष्ट किया जा सकता है, रेफ से युक्त होना भी हेम चंद्र ने अपभ्रंश का लक्षण माना है अतः हेमचंद्र की अपभ्रंश को व्राचट कह सकते हैं। उपनागर के प्राकृत मिश्र होने का लक्षण हेमचंद्र के 'शौरसेनीवत्' (४.४४६) में देखा जा सकता है। क्रमदीश्वर ने व्राचट को प्रधान अपभ्रंश माना है। बहुसंख्यक वैयाकरण व्राचट को पश्चिम विशेषकर सिन्धु देश

---

१. "शेषं शिष्टप्रयोगात्," ९० प्राकृतानुशासन।

२. इंडियन एन्टीक्वेरी, भाग ५१, ५२ में ग्रियर्सन द्वारा संपादित।

३. दे० प्राकृत सर्वस्व।

४. अपभ्रंशभाषासुमूलत्वेन प्रथमं नागरमाह, वही।

५. व्राचडो नागरात्सिद्धयेत तथा सिन्धुदेशोद्भवो व्राचडोपभ्रंशः, वही।

को अपभ्रंश मानते हैं। व्राचट शब्द के संबंध में विद्वानों ने कई प्रकार के अनुमान लगाए हैं। याकोबी व्राचड के ड को स्वार्थ प्रत्यय मानते हुए व्राच को ब्रज का परिवर्तित रूप बताते हैं और व्रच्च का व्राच को संस्कृताऊ रूप बताते हैं। ब्रज का अर्थ गोप[1] है। लासेन व्राच को व्रात्य[2] का रूपान्तर बताते हैं[3] और ग्रियर्सन भी इसी से सहमत हैं।[4] इस विवेचन से यह निष्कर्ष निकलता है:—आभीरों को भी व्रात्य (जातिच्युत) कहा है अतः व्रात्य और आभीर एक ही हो सकते हैं। इन दोनों की भाषाएँ एक ही रही होंगी। सभी ने इनकी भाषा को रेफ़ युक्त बताया है और उसको पश्चिमी प्रदेशों की भाषा भी कहा है। अतः व्राचट और आभीरी एक ही भाषा हो सकती है। दंडी ने आभीरों की बोली को प्रधानता दी है। आभीरों (=व्रात्यों) के प्रभावशाली होने के कारण व्राचड को प्रधानता मिली और उसमें साहित्य की भी रचना हुई होगी, इससे साहित्य रसिकों का उधर ध्यान गया।

नागरक, उपनागरक और ग्राम्य अपभ्रंशों के लिए किसी वैयाकरण ने देश विशेष में प्रयुक्त होने की सूचना नहीं दी है। संस्कृत काव्य विवेचकों ने वृत्तियों के नाम भी कहीं कहीं इसी प्रकार के दिए हैं। संभव है नागर, उपनागर और ग्राम्य विभिन्न श्रेणियों के व्यक्तियों की बोलियों के लिए प्रयुक्त हुए हों। नगर के निवासी या शिष्टजनों की बोली को नागर, नगर की सीमा के लोगों की बोली को उपनागर और सरल ग्रामीणों की बोली को ग्राम्य कहा गया होगा, और फिर पीछे यह प्रयोग रूढ़ि हो गए होंगे। क्रमदीश्वर ने नागर और रासक छंद का संबंध बताया है। रास या रासक एक प्रकार का लोक-गीत या ग्राम्य नृत्यनाट्य है, नाट्य शास्त्र में उपरूपक के एक भेद का नाम रासक मिलता है।[5] अभी तक रासक रचनाएँ अपभ्रंश या देशभाषाओं में ही मिली हैं संभव है इन साहित्यिक कृतियों के आधार पर ही नागर का रासक से संबंध जुड़ गया हो किन्तु यह अधिक संगत प्रतीत नहीं होता। याकोबी ने नागर को गुर्जर अपभ्रंश कहा है और भविष्यदत्तकथा तथा नेमिनाथचरित की भाषा को गुर्जर अपभ्रंश कहा है।[6] इस प्रकार

१. दे० कामसूत्र, व्रजयोषितः गोपी, पृ० १८४, चौखंभा संस्करण।
२. मनुस्मृति २.३९, व्रात्य=जातिच्युत।
३. भविसयत्त कहा, याकोबी का संस्करण, भूमिका पृ० ७३।
४. आन दमाडर्न इंडो एरियन वर्नाक्युलर्स, पृ० ३६।
५. दे० भावप्रकाशनम् बड़ौदा १९३० पृ० २६५।
६. भविसयत्त कहा, भूमिका पृ० ७८, याकोबी संस्करण।

नागर और व्राचड दोनों ही पश्चिमीय प्रदेश की भाषाएँ सिद्ध होती हैं। उपनागर सापेक्ष शब्द है और संभवतः नागर से अंतर प्रकट करने के लिए प्रयुक्त हुआ होगा। जो हो उपर्युक्त तीनों नाम पश्चिमीय अपभ्रंश के लिए प्रयुक्त हुए प्रतीत होते हैं।

अपभ्रंश के लिए अपभ्रंश के कवियों ने अन्य नामों का भी प्रयोग किया है। अवहंस (अपभ्रंशः),[1] अवहट्ट (सं० अपभ्रष्टः),[2] प्राकृत,[3] पटमंजरी, प्रथम मंजरी या पढमंजरी[4] के अतिरिक्त कुछ कवियों ने अपनी काव्य भाषा को देश भाषा या देसिलबयना (देशी वचन),[5] कहा है। इनमें से प्राकृत और पढमंजरी नाम भ्रम के कारण दिए गए प्रतीत होते हैं। पट मंजरी एक राग का नाम है[6] और किसी प्रकार की छंदबद्ध कविता के उसमें गाए जाने के कारण भ्रमवश पट-मंजरी उसकी भाषा मान ली गई होगी। देशी और अपभ्रंश नाम पर्यायवाची नहीं हैं। इनका किंचित् विस्तार के साथ विवेचन अप्रासंगिक न होगा।

अपभ्रंश और देशी :

भरत ने सर्वप्रथम कदाचित् 'देशभाषा' शब्द का प्रयोग किया है। विभिन्न देशों (प्रान्तों) की बोलियों को उन्होंने देशभाषा कहा है।[7] तरंगवती के संक्षिप्त-कर्ता ने बताया है कि देशी वचनों की बहुलता के कारण कृति को सब लोग नहीं

---

१. स्वयंभू ने अपनी कृति स्वयंभू छंद में अवहंस का अनेक बार उल्लेख किया है, ४.७, ४.१०, ४.३४ आदि। दे० जर्नल अव द् यूनीवर्सिटी अव् बाम्बे, नवंबर १९३६, पृ० ७२ और आगे। तथा अप. का. त्रयी भूमिका, पृ० ९७ पर उद्योतनाचार्य के ग्रंथ के उद्धरण द्रष्टव्य।

२. विद्यापति ने कीर्तिलता में 'अवहट्ट' का प्रयोग किया है, तथा प्राकृत पैगलं, पृ०३, कलकत्ता १९००।

३. बौद्धगान के संस्कृत टीकाकार ने मूल पद्यों की भाषा को प्राकृत कहा है।

४. चर्चरी के टीकाकार ने चर्चरी की भाषा को 'प्रथममंजरी' कहा है, चर्चरी प्रारंभ, पृ० १।

५. यथा, स्वयंभू ने अपभ्रंश को देशी भाषा कहा है, पउम चरिउ—सक्कय पामय पुलिणालंकिय। देसीभासा उभयतडुज्जल। पुष्पदन्त, विद्यापति आदि ने भी इसी प्रकार के उल्लेख किए हैं।

६. बौद्धसिद्धों के कुछ पद्यों का शीर्षक पटमंजरी राग है, दे० आगे सिद्धों का अपभ्रंश साहित्य।

७. ना० शा० १७.४८।

समझ सकते थे, देशी वचनों से तात्पर्य अप्रचलित शब्दों से प्रतीत होता है[१] अपभ्रंश से नहीं। कामसूत्र में ६४ कलाओं में से 'देशभाषाविज्ञान' को एक कला माना है,[२] इसी प्रकार कौटिलीय अर्थशास्त्र में भी 'भाषान्तरज्ञ' का उल्लेख मिलता है। दोनों का ही तात्पर्य देश विशेष की बोली से है, अपभ्रंश से नहीं हो सकता। विक्रमांकदेवचरित में 'जन्मभाषा'[३] तथा कुवलयमाला कथा (८३५ वि० सं०) में परिगणित अठारह देशी भाषाओं के उल्लेख भी इसी प्रकार के हैं।[४] कथासरित्सागर,[५] वृहत्कथामंजरी,[६] कविकंठाभरण[७] आदि में भी देशभाषा तथा देशभाषा काव्य के उल्लेख मिलते हैं। इस प्रकार अत्यंत प्राचीन समय से प्रदेश विशेष की बोलियों के लिए देशभाषा शब्द का प्रयोग मिलता है, देशभाषा से उनका तात्पर्य अपभ्रंश कदापि नहीं था। इन उल्लेखों के अतिरिक्त अपभ्रंश के कवियों ने अपभ्रंश को देशभाषा (=लोक में व्यवहृत भाषा) कहा है, लेकिन उससे उनका तात्पर्य किसी प्रान्त विशेष की भाषा से नहीं है। मध्ययुग में जिस प्रकार कवि अपनी भाषा को 'भाषा' कहते थे[८] उसी प्रकार उन अपभ्रंश कवियों ने अपनी भाषा को देशी भाषा कहा है। क्षेमेन्द्र ने देशोपदेश में कुछ देशी शब्दों के प्रयोग किए हैं और वे अपभ्रंश के शब्द नहीं हैं, विशेष प्रदेशों में प्रयुक्त होने वाले अप्रचलित शब्द हैं।[९] हेमचंद्र ने भी देशी शब्द का लक्षण 'विशेष अर्थ में प्रचलित, संस्कृत शब्द से न सिद्ध होने वाला' दिया है, जो अपभ्रंश शब्दों—संस्कृत के साधु

---

१. सनत्कुमार चरित, भूमिका, पृ० १८।
२. काम० १.३.१६, १.४.५० चौखम्भा, बनारस १९८६ वि०।
३. विक्रमांकदेवचरित १८.६।
४. अप० का० त्र० भूमिका, पृ० ९१-९३।
५. तरंग ७, १४८ निर्णयसागर १९०३ ई०।
६. वृहत्कथामंजरी १.३.५१ काव्यमाला, बंबई १९०१ ई०।
७. कविकंठा० पृ० १२३ काव्यमाला ४।
८. यथा, कबीर—संसकिरत है कूप जल भासा बहता नीर।
   तुलसी—भाखा भणिति मोर मति थोरी।
   केशव—भाषा बोलि न जानहीं जिनके घर के दास। रामचंद्रिका।
९. देशोपदेश में उन्होंने कहा है 'देशभाषापदैर्मित्रमघुनाक्रियते मया' पृ० २३, काश्मीर संस्कृत ग्रंथावलि, श्रीनगर, १९८० वि०, किन्तु देशी शब्द अपभ्रंश शब्द नहीं हैं।

शब्द रूपों के विकृत रूपों—तद्भवों—के लिए प्रयुक्त नहीं हो सकता।[1] इस संक्षिप्त विवेचन से स्वाभाविक निष्कर्ष यह निकलता है कि देशभाषाएँ अपभ्रंश से भिन्न प्रान्तीय बोलियाँ थीं और प्राचीन साहित्य में—नाट्यशास्त्र, कामसूत्र, कौटिलीय अर्थशास्त्र इत्यादि—इसी अर्थ में इस शब्द का प्रयोग हुआ है। अपभ्रंश तथा हिन्दी के प्राचीन कवियों ने 'देशभाषा' शब्द का प्रयोग अपभ्रंश या अपनी कविता की भाषा के लिए किया है।

अपभ्रंश नाम वैयाकरणों का दिया हुआ है और प्रारंभ में निश्चय ही उसमें अनादर का भाव निहित रहा होगा किन्तु अपभ्रंश के कवियों को इस नाम से कोई घृणा थी ऐसा प्रत्यक्ष उल्लेख नहीं मिलता। स्वयंभू, राजशेखर, हेमचंद्र, विद्यापति आदि ने अपभ्रंश की प्रशंसा की है। अधिक स्पष्ट करने के लिए अपनी भाषा को कुछ अपभ्रंश कवियों ने देश भाषा भी कहा है। अपभ्रंश काव्यभाषा के रूप में छठवीं शती विक्रम से ही प्रतिष्ठित हुई मिलती है जैसा कि भामह के उल्लेख से प्रकट होता है।[2] अपने अनेक रूपों के द्वारा किसी समय वह समस्त उत्तर आर्यावर्त की बोली थी और उसकी साहित्यिक भाषा के रूप में भी प्रतिष्ठा थी। जन बोली से ऊपर उठकर अपभ्रंश काव्यभाषा के रूप में बँध गई और देशभाषा के सरल रूपों ने, जिन्हें परिवर्तनयुगीन रूप कहा जा सकता है, बोली के क्षेत्र में उसका स्थान ले लिया। अपभ्रंश कविता में इन दोनों रूपों के दर्शन होते हैं। काव्यभाषा का रूप पुष्पदन्त जैसे कवियों की भाषा में मिलता है और सरल रूप का आभास हेमचंद्र द्वारा संकलित दोहों में। आगे के पृष्ठों में अपभ्रंश साहित्य का प्रारंभ से लेकर उसके उत्कर्ष और उसका स्थान आधुनिक आर्यभाषाओं के लेने तक अत्यन्त संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत किया गया है जिससे आधुनिक भाषाओं पर उसके प्रभाव तथा उसकी व्यापकता का अनुमान स्पष्टतापूर्वक लग सकेगा। अपभ्रंश की उत्पत्ति, विकास और अवसान का इतिहास उत्तरी भारत की आधुनिक भाषाओं के उदय के लगभग एक सहस्त्र वर्ष पूर्व का इतिहास है।

---

१. दे० देशीनाममाला १.३.४।

२. अपभ्रंश काव्य के प्रारंभकाल को प्राचीन सिद्ध करने के लिए विद्वानों ने प्रायः वलभी के राजा धरसेन द्वितीय के शक सं० ४०० के दानपत्र का उल्लेख किया है। शिलालेख में धरसेन के पिता गुहसेन को संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश प्रबन्ध रचना में निपुण कहा गया है। इं० ए० अक्टूबर १९८१ पृ० २८४। किन्तु यह शिलालेख जाली है और ७वीं शती ई० का है, अतः विशेष महत्व का नहीं है। दे० इ० ए० अक्टूबर १८८१, पृ० २७७ आदि।

३

अपभ्रंश साहित्य का वर्गीकरण

प्राकृत धम्मपद के उकारान्त शब्दरूपों,[1] पउमचरिय (तीसरी शती ई०) में प्राप्त होने वाले कुछ शब्दरूपों,[2] भरत द्वारा विवेचित उकार बहुला भाषा,[3] तथा ध्रुवागीतों में अपभ्रंश का प्रारंभ देखा जा सकता है। बाण ने भाषा कवि ईशान का उल्लेख किया है।[4] वसुदेव हिंडी (छठी शती वि०) में अपभ्रंश का प्रभाव मिलता है।[5] कालिदास की विक्रमोर्वशीय के विवादग्रस्त अपभ्रंश पद्य[6] भी अपभ्रंश के पर्याप्त प्राचीन प्रारंभ की सूचना देते हैं। विक्रम की आठवीं शती के पहिले अपभ्रंश में साहित्य रचा जाने लगा था। इसके निश्चित प्रमाण जिनदास महत्तर कृत नंदिसूत्र की चूर्णि (वि० सं० ७३३), कुवलयमाला (वि० सं० ८३५) में प्राप्त अपभ्रंश पद्यों में मिलते हैं। आगे शीलाँक विरचित सूत्रकृताँगवृत्ति (१० वीं शती वि०) में भी अपभ्रंश के पद्य यही सिद्ध करते हैं। विक्रम की आठवीं, नवीं, दशवीं शतियाँ अपभ्रंश साहित्य का उत्कर्ष युग कही जा सकती हैं। चतुर्मुख, द्रोण, स्वयंभू, पुष्पदन्त, योगीन्द्र तथा बौद्धसिद्ध इसी युग के प्रतिभाशाली कृतिकार हैं। साथ ही काव्य समीक्षात्मक कृतियों में भी अपभ्रंश के उद्धरण मिलने लगते हैं। इस विशाल साहित्य की रचना विदर्भ, गुजरात, राजस्थान, मध्यदेश, मिथिला, मगध में हुई। आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं का विकास अपभ्रंश

---

१. दे० पीछे प्राकृत अध्याय।

२. दे० परमात्मप्रकाश: भूमिका, पाद टिप्पणी पृ० ५६।

३. ना० शा० १७.६१।

४. हर्षचरित, निर्णयसागर, बंबई, १९३७, प्रथम उच्छ्वास, पृ० ४१।

५. वसुदेव हिंडि, प्रथम खंड, पृ० २८, भावनगर, १९३० ई०।

६. दे० परमात्मप्रकाश: भूमिका, पा० टि० पृ० ५६।

से हुआ है अतः प्रत्येक आ० भा० आर्य भाषा की पूर्ववर्ती अपभ्रंश का अस्तित्व रहा होगा किन्तु सभी भाषाओं का प्रतिनिधिस्वरूप अपभ्रंश साहित्य आज उपलब्ध नहीं है। संभव है सभी को साहित्यिक भाषा के पद पर पहुँचने का गौरव न मिला हो। शौरसेनी अपभ्रंश में सबसे अधिक साहित्य मिलता है। ब्राह्मण, जैन, बौद्ध, तथा पश्चिम, पूर्व, दक्षिण और मध्यदेश सभी स्थानों के कवियों ने शौरसेनी अपभ्रंश में साहित्य रचना की है। शौरसेनी अपभ्रंश ही संभवतः साहित्यिक भाषा थी, इसी कारण पूर्व के विद्यापति, तथा सिद्धों ने भी उसमें रचना की। बहुत थोड़ी सी रचनाएँ मागधी अपभ्रंश से भी प्रभावित मिलती हैं। तथा कुछ काश्मीरी से प्रभावित प्राप्त हुई हैं। जिन प्रदेशों में अपभ्रंश साहित्य की रचना हुई उनके आधार पर अपभ्रंश साहित्य का वर्गीकरण इस प्रकार किया जा सकता है :—

पश्चिमी प्रदेश—(शौरसेनी—हिन्दी और गुजराती का प्रतिनिधित्व करने वाली) कालिदास की विक्रमोर्वशीय के अपभ्रंश पद्य, स्वयंभू, योगीन्द्र, देवसेन, रामसिंह, धनपाल, नयनन्दि, भोज, धनंजय, जिनदत्त, लक्ष्मणगणि, हरिभद्र, हेमचंद्र, सोमप्रभ, अब्दुल रहमान, यशकीर्ति, रयधू, आदि कवि गुजरात, मध्यदेश की अपभ्रंश के प्रतिनिधि कहे जा सकते हैं।

महाराष्ट्र प्रदेश—(महाराष्ट्री का क्षेत्र)—पुष्पदन्त और कनकामर ने आधुनिक मराठी बोली के समीपवर्ती प्रदेशों में रहकर अपभ्रंश कृतियों की रचना की। इस कारण उनकी कृतियों में मराठी के शब्द मिल सकते हैं।[१] यों इनकी भाषा शौरसेनी क्षेत्र के कवियों से मूलतः भिन्न नहीं है।

पूर्वी प्रान्तों की अपभ्रंश—(मागध बोलियों का क्षेत्र—पूर्वी हिन्दी, मैथिली, बंगला आदि)—दोहाकोष, चर्यापद, डाकार्णव तंत्र तथा कीर्तिलता, कीर्तिपताका, प्राकृत पैंगलं के कुछ पद्य तथा सेकोद्देश टीका आदि के बिखरे पद्यों की रचना पूर्वी प्रान्तों में हुई। इसी कारण दोहाकोष, कीर्तिलता की भाषा यद्यपि शौरसेनी अपभ्रंश है तथापि मागधी के प्रयोग भी उसमें मिल जाते हैं।

उत्तरी प्रदेशों की अपभ्रंश—(पंजाबी, काश्मीरी भाषाओं का क्षेत्र)—गोरखनाथ के कहे जाने वाले कुछ अपभ्रंश पद्य तथा काश्मीर शैवों की अपभ्रंश मिश्रित कृतियों की इस प्रान्त में रचना हुई जो काश्मीरी से प्रभावित हैं।

---

१. पुष्पदन्त ने अपनी कृतियों की रचना मान्यखेट में की थी, दे० आगे पुष्पदन्त से संबंधित प्रकरण।

विभिन्न प्रदेशों में रचित इस विशाल अपभ्रंश साहित्य पर शौरसेनी अपभ्रंश का बहुत प्रभाव पड़ा, संभवतः वह काव्य की भाषा के रूप में प्रतिष्ठित थी। संप्रदायों को ध्यान में रखकर अपभ्रंश साहित्य का विभाजन जैन, ब्राह्मण, बौद्ध और शैवों की अपभ्रंशों में किया जा सकता है। इनमें से जैन और ब्राह्मण संप्रदायों की रचनाओं में साहित्यिकता मिलती है। बौद्ध तथा शैवों द्वारा रचित अपभ्रंश रचनाओं में साहित्यिक सरसता नहीं मिलती। संप्रदाय के सिद्धान्तों का ही विवेचन उनमें मुख्य है। उपलब्ध अपभ्रंश साहित्य में सबसे अधिक साहित्य जैन संप्रदाय के अनुयायियों द्वारा रचित मिलता है। इस प्रचुर साहित्य का प्रधान स्वर धार्मिक है, उसका बाह्य रूप काव्यमय है। धर्म के साथ-साथ काव्य-रस, समाज और मानव जीवन का चित्रण, कथा का मनोरंजकत्व सभी कुछ इसमें मिलता है। प्रदेशों के आधार पर किए गए वर्गीकरण और संप्रदायों के आधार पर किए गए वर्गीकरण में विशेष अंतर नहीं पड़ता। पश्चिम मध्यदेश, महाराष्ट्र प्रदेशों में रचित जो अपभ्रंश साहित्य मिलता है वह प्रधानतः जैनों द्वारा रचित है। उत्तरी प्रदेशों की अपभ्रंश शैवों की रचनाएँ हैं तथा बौद्ध सिद्धों ने पूर्व के प्रदेशों में रहकर रचना की। भावधारा की दृष्टि से संप्रदायों के आधार पर किया गया विवेचन अधिक संगत लगता है। अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से यही वर्गीकरण यहाँ अपनाया गया है। जैन अपभ्रंश साहित्य प्राचीन भी है और प्रचुर मात्रा में प्राप्त भी हुआ है अतः पहिले उसी का अध्ययन प्रस्तुत किया गया है।

४

जैन अपभ्रंश साहित्य

अपभ्रंश भाषा और साहित्य का गंभीर अध्ययन आगे और बढ़ने पर अवश्य ही 'जैन प्राकृतों' के समान 'जैन अपभ्रंश' की भी विशेषताएँ निश्चित की जा सकेंगी। भावधारा की दृष्टि से साधारणतः समस्त जैन साहित्य को—चाहे वह संस्कृत में हो, प्राकृतों में हो, अपभ्रंश में या विभिन्न प्रान्तीय भाषाओं में—एक श्रेणी में रखा जा सकता है। समस्त साहित्य में एक विशिष्ट संप्रदायगत धार्मिक वातावरण मिलता है। जैन कवि की अपनी विवशताएँ थीं, उसके सामने एक समाज रहा होगा और उसी को ध्यान में रखकर रचना करने के कारण धार्मिकता ने ही कहीं कहीं प्रधान स्थान ले लिया है। विक्रम की आठवीं शती से लेकर सोलहवीं शती तक जैन कवियों द्वारा निर्मित अपभ्रंश साहित्य की अविच्छिन्न धारा मिलती है। इस सुदीर्घ काल में जो प्रचुर साहित्य रचा गया होगा उसका केवल एक अंश इस समय प्रकाश में आया है। जैसा कि आगे प्रसंगानुसार संकेत किया गया है, धर्म और साहित्य का अद्‌भुत सफल मिश्रण जैन कवियों ने किया है। जिस समय जैन कवि काव्य रस की ओर झुकता है तो उसकी कृति सरस काव्य का रूप धारण कर लेती है और जब धर्मोपदेश का प्रसंग आता है तो वह पद्यबद्ध धर्म उपदेशात्मक कृति बन जाती है जो कभी-कभी नीरस भी हो जाती है। इस उपदेश प्रधान साहित्य में भी भारतीय जीवन के एक विशेष पक्ष के दर्शन होते हैं, और इस दृष्टि से वह महत्वपूर्ण हैं।

जैन अपभ्रंश साहित्य में भी प्राकृत के समान दो प्रकार की रचनाएँ मिलती हैं। एक प्रकार की विशालकाय वे रचनाएँ जो रामायण, महाभारत या पौराणिक ऐतिहासिक महापुरुषों के जीवन को आधार बना कर रची गई हैं। इन रचनाओं में कथा, धर्म, साहित्य सब कुछ मिला हुआ मिलता है। इनमें से कुछ कृतियों में आदि से अंत तक एक कथा शृंखला मिलती है और कुछ अनेक कथाओं का

संग्रह कही जा सकती हैं जैसे पुष्पदन्त का महापुराण। दूसरे प्रकार की इसी धार्मिक साहित्यिक शैली में रचित छोटी-छोटी कृतियाँ हैं। धर्म और काव्य दोनों का इनमें भी सम्मिश्रण मिलता है। इन कृतियों में किसी एक ही व्यक्ति के चरित्र का चित्रण मिलता है, अतः अधिक सुगठित हैं। आकार के अतिरिक्त और कोई विशेष भेद इन दो प्रकार की कृतियों में नहीं दिखता। दोनों ही प्रकार की रचनाओं में प्रबन्धात्मकता मिलती है। इन प्रबन्धात्मक रचनाओं के अतिरिक्त किसी तीर्थ या व्रत को लेकर लिखी गई अनेक छोटी छोटी पद्यबद्ध कथाएँ भी मिलती हैं जिनमें जैन श्रावक के लिए सामान्य उपदेश दिये जाते हैं। इन उपदेशप्रधान खंड काव्यों के अतिरिक्त जैन कवियों की कुछ ऐसी रचनाएँ भी मिलती हैं जिनमें रहस्यवादी भावधारा के दर्शन होते हैं। भारतीय रहस्यवादी साधना के इतिहास की दृष्टि से इन रचनाओं का महत्व बहुत अधिक है। जैन धर्म का परिचित धार्मिक वातावरण इन रहस्यवाद प्रधान कृतियों में एक प्रकार से बहुत कम मिलता है। अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से पहिले जैन रहस्यवादी धारा का विवेचन किया जा रहा है, फिर खण्ड-काव्यात्मक का और उसके पश्चात् प्रबन्धात्मक रचनाओं का विवेचन किया गया है।

१. मुक्तक काव्य धारा

अ. रहस्यवादी धारा :—

रहस्यवाद से संबंधित जो कृतियाँ मिलती हैं वे संख्या में कम हैं किन्तु बहुत ही महत्वपूर्ण हैं। योगीन्द्र, मुनि रामसिंह, सुप्रभाचार्य इस धारा के प्रमुख कवि हैं। निश्चित रूप से यह कवि जैन सम्प्रदाय से संबंध रखते थे किन्तु इनके द्वारा प्रचारित साधना-पथ उदार और व्यापक है। अन्य रहस्यवादियों से वह भिन्न नहीं है। बाह्य आचार, कर्मकांड, तीर्थव्रत, मूर्ति का बहिष्कार, देहरूपी देवालय में ही ईश्वर की स्थिति बताना, तथा अपनी देह में स्थित परमात्मा की अनुभूति पाकर परमसमाधि द्वारा सहजसुख प्राप्त करना इनकी साधना के मुख्य स्वर हैं। इन जैन संतों ने अत्यंत सरल, आडंबरहीन भाषा और शैली में अपने साधना पथ तथा उपदेशों को प्रकट किया है। इस धारा के ज्ञात कवियों में योगीन्द्र सबसे प्राचीन हैं।

योगींद्र : परमात्मप्रकाश और योगसार[1] दो कृतियाँ योगीन्द्र की प्राप्त हुई

---

१. डा० आ० ने० उपाध्ये द्वारा संपादित परमश्रुतप्रभावकमंडल बंबई से प्रकाशित १९९३ वि०, योगसार का एक दूसरा संस्करण ब्रह्मचारी सीतल प्रसाद

है। परमात्मप्रकाश दो महाधिकारों में विभक्त है। यद्यपि विषय दोनों में एक समान ही है। किसी भट्ट प्रभाकर शिष्य के ईश्वर, आत्मा, मोक्ष विषयक प्रश्नों का उत्तर देने के लिए योगीन्द्र ने कृति की रचना की है। परमात्मा को वे ज्ञानमय, नित्य, निरंजन रूप बताते हैं, योग, वेद, शास्त्रों से वह अनादि परमात्मा नहीं जाना जा सकता, वह निर्मल ध्यान का विषय है।[1] वह ब्रह्म देह में निवास करता है किन्तु मन, इन्द्रियादि के व्यापारों से वह भिन्न है। समाधि द्वारा उस परमात्मा के अनुभव से पूर्वसंचित कर्म नष्ट हो जाते हैं। वह समस्त जगत् में व्याप्त है किन्तु उसे हरि-हर भी नहीं जानते। वह निर्लिप्त है।[2]

आत्मा के संबंध में योगीन्द्र ने कहा है कि आत्मा सर्वगत है, जड़ भी है, चरम शरीर प्रमाण भी है और शून्य भी है।[3] जीव और कर्म दोनों योगीन्द्र के अनुसार अनादि हैं, कर्मों से आच्छादित जीव अपने शुद्ध स्वभाव को नहीं जान पाता। दुःख, सुख, बन्धन, मोक्ष, जीव के कर्मों से ही उत्पन्न होते हैं, आत्मा कुछ नहीं करता, वह देह से भिन्न अजर, अमर, ब्रह्मस्वरूप है, आत्मा के ध्यान से संसार का बंधन छूट जाता है। आत्मा ही शाश्वत मोक्षपद है, आत्मज्ञान से मिथ्या-दृष्टि दूर हो जाती है। आत्मा को छोड़कर न किसी तीर्थ में जाने की आवश्यकता है न गुरु सेवा की, आत्मा के ध्यान से क्षणभर में परम पद प्राप्त हो जाता है। इसी परब्रह्म में मन लगाने से निरंजन के दर्शन होते हैं, यह सुख अनुपम है। रागरंजित हृदय में इस परमसुखरूप शुद्धात्मा का दर्शन नहीं होता। यह अनन्तदेव न देवालय में है, न शिला में, न लिपि में, न चित्र में, वह अक्षय है, तथा ज्ञानमय, निरंजन, समचित्त को प्राप्त हुए योगियों के मन में रहता है, यह समरसीभाव ही मोक्ष का कारण है।[4]

दूसरे महाधिकार में तीन प्रश्नों के उत्तर दिए हैं:—मोक्ष क्या है? उसकी प्राप्ति के कारण और फल क्या हैं? योगीन्द्र मोक्षसुख को सर्वश्रेष्ठ बताते हैं, उसके सर्वोत्तम होने के ही कारण सब प्राणी मोक्ष की कामना करते हैं तथा जिन-

---

के हिंदी अनुवाद सहित सूरत से सन् १९३९ ई० में प्रकाशित हुआ था। दे० जो इंदु एन्ड हिज़ अपभ्रंश वर्क्स ए० भा० ओ० रि० इं० भाग १२ अंक २ पृ० १३२-६३।

१. परमात्मप्रकाश, पद्य ११-२४।

२. वही, पद्य २५-४९।

३. वही, ५०-५८।

४. वही, ६०-१२३।

देव मोक्ष को जाते हैं। वह तीनों लोकों से परे है, हरि-हर, ब्रह्म, जिन आदि परम-निरंजन को मन में धारण करके मोक्ष का चिन्तन करते हैं।[1] मोक्ष की प्राप्ति कर्म-क्षय से होती है, सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चरित्र मोक्ष के हेतु हैं। कर्म-क्षय होने पर ज्ञानी पुरुष उपशम भाव को प्राप्त होता है और सांसारिक बन्धन नष्ट हो जाते हैं, वह आत्मस्वरूप में लीन रहता है, प्रवृत्ति, निवृत्ति तथा पाप-पुण्य दोनों से वह दूर हो जाता है। मन की शुद्धता को योगीन्द्र ने बहुत प्रधानता दी है, शुद्ध जीवों के कर्म क्षीण हो जाते हैं और आनन्द की प्राप्ति होती है। ज्ञान का भी योगीन्द्र ने बड़ा महत्व बताया है, किन्तु देह में बसने वाले परमात्मा को जाने बिना शास्त्र ज्ञान को वे व्यर्थ बताते हैं, इसी तरह तीर्थ-भ्रमण भी व्यर्थ ही है।[2]

योगीन्द्र ने जीवों में भेद दृष्टि रखने वाले व्यक्तियों को मूढ़ कहा है। मूढ़ जीव धर्मादि के बहाने संसार को ग्रहण करता है और शिवपद (=मोक्ष) से पतित हो जाता है। ज्ञानी के लिए सभी जीव समान हैं। समभाव रखनेवाले निर्मलात्मा शीघ्र ज्ञान प्राप्त करते हैं। योगीन्द्र संसार के सभी पदार्थों—देवालय, देव, शास्त्र, गुरु, तीर्थ, वेद, काव्य को नाशवान् मानते हैं। विषय-सुख क्षणिक हैं, मन चंचल है और उसे वश में करने वाले अभिनन्दनीय हैं।[3] तृष्णा और चिन्ता से मुक्त होने पर ही शिवपद (=मोक्ष) का लाभ प्राप्त होता है। योगीन्द्र आत्मा और परमात्मा में कोई भेद नहीं मानते। कर्म विशेष के कारण यह आत्मा पराधीन रहता है, अपने स्वरूप को जान लेने पर आत्मा परमात्मा हो जाता है। आत्मा स्वभाव से ही निर्मल है, शुभाशुभ कर्मों से वह भिन्न है, देह से उसका कोई संबंध नहीं है। क्रोधादि को छोड़ने के योगीन्द्र ने अनेक उपदेश भी दिए हैं।[4]

परमसमाधि इस खंड का दूसरा आलोच्य विषय है। परमसमाधि में मग्न होने से संसार के अशुद्ध कर्म नष्ट हो जाते हैं। समस्त विकल्पों, के विलय को योगीन्द्र ने परमसमाधि कहा है,[5] उसकी प्राप्ति से सब शुभाशुभ भाव छूट जाते हैं। परमसमाधि के बिना गूढ़ शास्त्र-ज्ञान और घोर तप से भी शिव और शान्ति-पद की प्राप्ति संभव नहीं है। परमसमाधि को धारण करके भी जो परब्रह्म को नहीं

---

१. परमात्म प्रकाश, द्वि० (द्वितीय) म० (महाधिकार), पद्य १-१०।
२. वही, द्वि० म० पद्य ११-८५।
३. वही, द्वि० म० पद्य ८६-१५३।
४. वही, द्वि० म० पद्य १५४-१८७।
५. वही, द्वि० म० पद्य १९०।

जानते वे नाना दुखों को अनंतकाल तक संसार में सहते हैं तथा उसके विपरीत जो समस्त कर्मों को लय कर देता है वह जीव-मोक्ष पद में बसता हुआ अर्हत् हो जाता है तथा समस्त लोकों को जानता है एवं परमानन्दमय हो जाता है। यह केवल ज्ञानमय परमानन्द स्वभाव जीव ही परमपद परमात्मा है।[१]

कृति के अंतिम पद्यों में 'परमात्मप्रकाश' (कृति का नाम भी है) की व्याख्या की है 'समस्त कर्म और दोषों से रहित जिनदेव ही परमात्म प्रकाश हैं। मुनि जन उसी जिनदेव को परमात्मा, परमपद, हरि, हर, ब्रह्म, बुद्ध और परमप्रकाश कहते हैं। ध्यान से कर्म क्षय करके मुक्तात्मा ही अनंत जिनदेव तथा महान् सिद्ध कहलाते हैं। कृति की समाप्ति योगीन्द्र ने कृति का माहात्म्य बताते हुए और अपनी त्रुटियों के लिए क्षमायाचना करते हुए की है।[२]

परमात्मप्रकाश में योगीन्द्र ने आध्यात्मिक गूढ़वाद तथा नैतिक उपदेशों को सहज ढंग से व्यक्त किया है, योगियों को अपने पद्यों में योगीन्द्र ने अनेक बार संबोधित किया है।[3] तथा कहीं कहीं गृह-वास को पाप-निवास भी बताया है[४] किन्तु कुछ गूढ़वादियों के समान[५] स्त्री-वर्ग या गृहस्थाश्रम के प्रति कटुता का योगीन्द्र के पद्यों में कहीं आभास भी नहीं मिलता। उन के पद्यों में कहीं भी अन्य गूढ़-वादियों के समान अस्पष्टता नहीं मिलती।[६] योगीन्द्र के पद्यों में आडंबरहीन सरल वातावरण मिलता है। सामान्य जीवन के बीच से जैसे दर्पण, पंगु, ऊँट (पद्य २ १३६) उपकरण चुनकर गूढ़वाद को स्पष्ट किया है। सहज रूप से प्रयुक्त उपमा, उत्प्रेक्षा, दृष्टान्त उनके प्रिय अलंकार कहे जा सकते हैं। योगीन्द्र बड़े ही उदार प्रतीत होते हैं, वे जैन संप्रदाय के थे किन्तु कहीं भी जैन संप्रदाय के प्रति विशेष आग्रह नहीं दिखता। कुछ स्थलों पर प्रयुक्त विशिष्ट शब्दों के प्रयोगों को छोड़कर[७] सम्पूर्ण कृति में सामान्य साधना का रूप प्रकट हुआ है। योगीन्द्र के जिन-देव जैन संप्रदाय मात्र के ही देव नहीं हैं, सबके देव हैं, उनका स्वरूप व्यापक

---

१. परमात्म प्रकाश, द्वि० म० पद्य १८८-१९७ ।

२. वही, द्वि० म० पद्य १९८-२१४ ।

३. वही, प्र० म० पद्य १. ९६.९९, १०४, तथा २.१४९, १७० आदि ।

४. वही, पद्य, १.८३, २.१११, ११५ इत्यादि ।

५. यथा—कबीर आदि संतों का स्त्री समाज के प्रति दृष्टिकोण ।

६. कबीर की उल्टवासियाँ, बौद्ध सिद्धों के पदों में अस्पष्ट उक्तियाँ मिलती हैं ।

७. परमात्म प्रकाश, २.१६-२६ इत्यादि ।

है। योगीन्द्र में संतों के समान कोमलता, विनय, निस्पृहता, तथा उचित बात को कहने की निर्भीकता मिलती है।

परमात्मप्रकाश में ३४५ पद्य हैं जिनमें पाँच प्राकृत गाथाएँ हैं[१] तथा एक स्रग्धरा वृत्त तथा एक मालिनी वृत्त भी प्राकृत में हैं।[२] शेष पद्यों की भाषा सरल अपभ्रंश है। यह सभी पद्य दोहा छंद में हैं।[३]

योगसार[४]––परमात्मप्रकाश के समान ही योगसार का विषय भी अध्यात्म प्रधान है। प्रारंभ में आत्मा के तीन भेदों––परमात्मा, अन्तरात्मा और वहिरात्मा का निरूपण करते हुए परमात्मा के ध्यान करने का आग्रह किया है। आगे पाप-पुण्य दोनों ही प्रकार के कर्मों को त्याग कर आत्मध्यान को मोक्ष प्राप्ति का साधन बताया है। आत्मा का निरूपण करते हुए योगसार में कहा है कि वह सर्वव्यापक है। उसे देवालय, पत्थर-मूर्तियों, तीर्थों में खोजना व्यर्थ है, वह देह में रहता है। शास्त्र-ज्ञान आदि निस्सार हैं, इसी प्रकार संसार के सभी बन्धन दुःखदायी हैं। सांसारिक बन्धनों तथा पाप-पुण्यादि को त्याग करने वाले जीव सच्चे ज्ञानी हैं। आत्मस्वरूप में रमने वाला योगी निर्वाण प्राप्त करता है और मोक्ष प्राप्त करता है। मोक्षसुख का स्वरूप एक पद्य में इस प्रकार बताया है:––

वज्जिय सयल वियप्पहं परम समाहि लहंति।
जं विदहि साणंदु कवि सो सिव सुक्ख भणंति ॥९७॥

'सकल विकल्पों को त्याग कर जो परमसमाधि प्राप्त करते हैं और आनंद का अनुभव करते हैं उसे मोक्ष-सुख कहते हैं।' आगे योगीन्द्र ने समभाव की व्याख्या की है जो समस्त जीवों को ज्ञानमय समझने तथा रागद्वेष रहित होने पर प्राप्त होता है। हिंसादिक के त्याग, सूक्ष्म चारित्र्य तथा आत्मा की व्यापकता इत्यादि का उल्लेख करके कृति समाप्त हुई है।

योगसार के पद्यों की रचना मोक्ष की कामना करने वालों के आत्मसंबोधनार्थ हुई है,[५] अतः पद्यों में कोई क्रमबद्ध विवेचन नहीं मिलता। अनेक पद्यों में एक

---

१. परमात्मप्रकाश १.६५.१, २.६०, २.१११.२-३, तथा २.११७।
२. वही, २.२१३, २१४।
३. वही, पद्य २.१७४ प्रज्झटिका छंद में है। दोहों के चरणों में क्रमशः १४,१२, १४,१२ मात्राएं मिलती हैं।
४. डा० आ० ने० उपाध्ये द्वारा संपादित परमात्मप्रकाश के साथ प्रकाशित।
५. वही, पद्य ३ और १०८ में उल्लेख भी मिलते हैं।

ही भाव की पुनरावृत्ति मिलती है। परमात्मप्रकाश के मोक्षाधिकार तथा योगसार में विवेचित विषयों में पर्याप्त समानता मिलती है।

योगीन्द्र की दोनों कृतियों का विषय एक ही है। विचारों की उदारता उनकी दोनों ही कृतियों में मिलती है। जैन संप्रदाय के होने के कारण कुछ पद्यों में जैन धर्म के प्रति आस्था अवश्य जहाँ तहाँ प्रकट की है[1] लेकिन किसी संप्रदाय के प्रति विशेष आग्रह प्रतीत नहीं होता और न किसी के प्रति कटुता का ही आभास उन्होंने दिया है। देवालय, तीर्थ, शास्त्र-ज्ञान के प्रति योगीन्द्र के हृदय में कोई श्रद्धा नहीं प्रतीत होती किन्तु उनका खंडन करते समय अक्खड़पन या तीव्रता उनकी वाणी में नहीं मिलती। राग-द्वेष से ऊपर उठे हुए अत्यंत उदार सच्चे मर्मी संत के रूप में योगीन्द्र के दर्शन उनकी रचनाओं में होते हैं। एक-दो स्थलों पर गृहस्थाश्रम को उन्होंने पाप-वास कहा है किन्तु वे साधना के लिए उसे पूर्ण-रूपेण बाधक नहीं समझते, गृहस्थी के धन्धों में पड़कर भी मोक्ष की साधना हो सकती है।[2] कुछ अन्य गूढ़वादियों के समान योगीन्द्र हठयोग को साधना के लिए आवश्यक साधन नहीं समझते। नैतिक आदर्शों का पालन और निस्पृह भावना से कर्मक्षय के लिए कर्म करना उनकी साधना के मूल आधार हैं। कर्म-क्षय से ही संसार नष्ट हो सकता है। परमात्मा, आत्मा और बहिरात्मा के भेद योगीन्द्र ने अपने ढंग से किए हैं। आत्मा की सर्वव्यापकता तथा परमात्मा और आत्मा का एकत्व सामान्य भारतीय आध्यात्मिक सिद्धान्त हैं, आत्मा को पुरुषाकार देहाकार मानना जैन संप्रदाय का दृष्टिकोण है। समरसी भाव, परमसमाधि शब्दों का परमानन्द के लिए प्रयोग मध्ययुग के सभी मर्मियों की एक सामान्य विशेषता है जो योगीन्द्र में भी मिलती है।

योगीन्द्र की कृतियों का प्रधान छंद दोहा है। योगसार के १०८ पद्यों में से केवल तीन पद्य अन्य छंदों में हैं।[3] योगीन्द्र ने अपनी कृति के दोहाबद्ध होने का उल्लेख भी किया है।[4] दोहा के लक्षण के विषय में छंद ग्रंथों में दो मत मिलते हैं। एक वर्ग के अनुसार दोहा के पहिले और तीसरे चरण में १३-१३ मात्राएँ होनी चाहिए और दूसरे तथा चौथे चरण में ११ मात्राएँ होती हैं[5]

---

१. दे० योगसार, पद्य २, ४३, ९४ इत्यादि।

२. योगसार—पद्य ६५।

३. वही, पद्य ३९, ४७ सोरठा में है तथा पद्य ४० प्रज्झटिका छंद में है।

४. वही, पद्य १०८।

५. छंदकोश २१, प्राकृत पैंगलं १.६६, कविदर्पण २.१५।

और दूसरे वर्ग के अनुसार चार चरणों में क्रमशः १४, १२, १४,१२ मात्राएँ होनी चाहिए[१]। योगीन्द्र की कृतियों में प्रयुक्त दोहों में प्रथम वर्ग के अनुकूल अर्थात् चार चरणों में क्रमशः १३,११ मात्राएं मिलती हैं, सभी चरणों की अंतिम मात्रा को दीर्घ पढ़ने से मात्राओं की संख्या दूसरे वर्ग के अनुसार भी ठीक हो सकती है। दोहा अपभ्रंश का बहुत ही प्रिय छंद है। कृतियों की अपभ्रंश को शौरसेनी अपभ्रंश कहा जा सकता है। हेमचंद्र द्वारा वर्णित अपभ्रंश तथा प्रस्तुत कृतियों की भाषा में अनेक समानताएं मिलती हैं। हेमचंद्र के व्याकरण में अनेक पद्य इन कृतियों से भी उद्धृत हुए मिलते हैं।[२] और कुछ असमानताएँ भी मिलती हैं,[३] योगीन्द्र की अपभ्रंश लोकभाषा का रूप प्रस्तुत करती है, शास्त्रीय और साहित्यिक अपभ्रंश का नहीं; जिसमें यत्र तत्र देशी प्रयोग भी मिल जाते हैं।[४]

कृतिकार ने एक पद्य में अपना नाम 'जोगिचंद्र' दिया है।[५] परमात्मप्रकाश के टीकाकार ब्रह्मदेव ने कवि का नाम योगीन्द्रदेव बताया है। भाषा टीकाकार पं० दौलतराम ने योगीन्द्राचार्य नाम दिया है।[६] चंड और हेमचंद्र की व्याकरण कृतियों में योगीन्द्र की कृतियों से पद्य उद्धृत हुए मिलते हैं। चंड का समय आठवीं शती ईस्वी माना जाता है। अतः यह तो निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि कम से कम चंड के द्वारा उद्धृत पद्य की रचना आठवीं शती में हो चुकी थी। योगीन्द्र के काल की एक सीमा आठवीं शती मानी जा सकती है। सिद्धों, काश्मीर शैवों आदि की भावधारा से योगीन्द्र की भावधारा का बहुत साम्य है। इस गूढ़वाद का काल सामान्यतः सातवीं, आठवीं शती माना जा सकता है और इस प्रकार योगीन्द्र का समय निश्चित प्रमाणों के अभाव में हेमचंद्र के पूर्व मान सकते हैं जो दसवीं शती ईस्वी है। योगीन्द्र-रचित अनेक ग्रंथ कहे जाते हैं[७] किन्तु परमा-

---

१. छंदोनुशासन ६.१००, वृत्तजातिसमुच्चय ४.२७, स्वयंभू छंद ६.११३ के अनुसार चार चरणों में मात्राएं क्रमशः १३, १२, १३, १२ होनी चाहिए।

२. परमात्मप्रकाश २, ११७, १३९, १४०, १४७।

३. 'ऋ' तथा 'र' के साथ संयुक्त व्यंजनों के प्रयोगों का अभाव, संबंध कारकान्त विभक्ति 'हो' का अभाव आदि।

४. जैसे अवक्खड़ी, पद्य १.१२५; खडिल्लउ, वही, २.१३९।

५. योगसार, १०८।

६. टीका, प० प्र० पृ० १,५।

७. नौकार श्रावकाचार, अध्यात्म संदोह, सुभाषित तंत्र, तत्वार्थ टीका, दोहा पाहुड, अमृताशीति और निजात्माष्टक, अंतिम दो माणिकचंद्र दिगंबर ग्रंथमाला

त्मप्रकाश और योगसार के समान भावधारा उनमें नहीं मिलती तथा कुछ का कर्त्तृत्व बहुत कुछ निश्चित है। परमात्मप्रकाश के योगीन्द्रकृत होने में सभी टीकाकार एकमत हैं और योगसार परमात्मप्रकाश के समान है तथा एक पद्य में योगीन्द्र का कृतिकार के रूप में नाम भी मिलता है। योगीन्द्र ने अपने संबंध में इन कृतियों में कुछ भी नहीं कहा है, यत्र-तत्र नम्रता अवश्य प्रकट की है। परमात्मप्रकाश के प्रारम्भ में भट्टप्रभाकर ने प्रश्न पूछे हैं,[1] वे योगीन्द्र के शिष्य प्रतीत होते हैं, इसके अतिरिक्त उनके विषय में कुछ ज्ञात नहीं है।

रामसिंह मुनिः मुनि रामसिंह की कृति पाहुड दोहा (प्राभृत=उपहार दोहों का) काभी प्रधान विषय आध्यात्मिक रहस्यवाद ही है। कृति में क्रमबद्ध रूप से विषयविवेचन नहीं मिलता। कृति के विवेच्य विषय का अध्ययन कुछ शीर्षकों द्वारा प्रस्तुत किया जा सकता है :

गुरु—मुनि गुरु को साधनपथ का मार्ग दर्शन कराने के लिए अत्यंत आवश्यक मानते हैं। सूर्य, चंद्र, दीपक, देव गुरु सब कुछ हैं क्योंकि वह आत्मा और पर के भेद को प्रकट करता है, गुरु द्वारा बोध प्राप्त हुए बिना लोग भ्रम में पड़े रहते हैं। योग्य गुरु मन के द्वैतभाव को नष्ट कर देता है तथा मन की व्याधि को शांत कर देता है।[3]

आत्मसुख—आत्मसुख सर्वश्रेष्ठ है। विषयों का भोग करते हुए भी जो निर्लिप्त रहते हैं वे शाश्वत सुखप्राप्त करते हैं। विषयसुखों में लिप्त रहने वाले नरकगामी होते हैं। मन की शुद्धि और निश्चलता से परलोक प्राप्त होता है।[4]

आत्मा और देह—वर्णादि भेद देह के हैं। आत्मा अजरामर ज्ञानमय, संत,

---

में प्रकाशित हो चुके हैं, प्रथम देवसेन कृत सिद्ध हो चुका है और दोहा पाहुड मुनि रामसिंह कृत है। दूसरे और तीसरे के विषय में कुछ ज्ञात नहीं है, चतुर्थ किसी अन्य योगदेवकृत है। निजात्माष्टक आठ प्राकृत पद्यों का ग्रंथ है, उसके तथा अमृताशीति में रचयिता के संबंध में निश्चय के साथ कुछ भी नहीं कहा जा सकता।

१. प० प्र० १.८।

२. अंबादास चावरे सीरीज़ में डा० हीरालाल जैन द्वारा संपादित, कारंजा, १९९० वि०।

३. पा (हुड) दो(हा), पद्य १,८०-८१, १६६, १७४, २१०।

४. पा० दो० पद्य २-१९।

आत्मा को जान लेने पर और कुछ जानने को नहीं रहता, वह परमात्मा, अनन्त और त्रिभुवन का स्वामी है।[१]

समरसी भाव——मन के परमेश्वर से मिल जाने की दशा को मुनि ने समरस दशा नाम दिया है[२], जिस प्रकार लवण पानी में विलीन हो जाता है उसी प्रकार चित्त परमात्मा में विलीन होकर समरस हो जाता है[३] मन की चंचल वृत्ति मिट जाने पर योगियों को सर्वत्र आत्मा दिखने लगती है, मन सब व्यापारों से मुक्त हो जाता है, मन के व्यापार टूट जाने पर रागद्वेष भाव भग्न हो जाते हैं, आत्मा परमात्मा-परमपद में मिल जाता है इसको मुनि ने निर्वाण कहा है। यही शून्यस्वभाव है, पाप-पुण्य सबसे आत्मा मुक्त हो जाता है[४]।

मोक्ष, विषय और कर्म——विषयों का त्याग, कर्मों का क्षय एवं विषयोन्मुख मन को निरंजन (आत्मा) में लगाना ही मोक्ष का कारण है। इन्द्रिय-सुख-निरत व्यक्ति को शाश्वत मोक्ष की प्राप्ति दुर्लभ है। देह में बसनेवाले देव को जान लेने पर सब विषय छूट जाते हैं, और सब कर्म नष्ट हो जाते हैं। शुभ-अशुभ सभी संकल्प नष्ट हो जाते हैं और जन्ममरण से मुक्ति मिल जाती है। विषयों की अनेक स्थलों पर तीव्र निंदा की गई है[५]। शास्त्र, तीर्थ, मूर्ति पूजा की भी निंदा मुनि ने की है[६]।

इस सामान्य मानव धर्म के साथ ही अनेक पद्यों में जैन संप्रदाय से संबंधित प्रसंग मिलते हैं[७]। योगमार्ग की शब्दावली तथा सिद्धान्तों के भी उल्लेख मिलते

---

१. पा० दो० पद्य २३-४१, ५४-५९, ९४, १०७-१०८, १२२, १२८-१३०, १४१, १८६।
२. वही, पद्य० ४९।
३. वही, पद्य १७६।
४. वही, पद्य १३, २०३-२०४, २०६, २१२।
५. वही, पद्य ६२-६३, ७७-७८, ८०-८१, ८३, ८७-९०, ९२-९३, ९६, १११-११२, ११८-१२०, १२३, १५६, १८९, १९४-२०२ इत्यादि।
६. वही, पद्य १६२-१६३, १७८-१७९, १३०-१३१, १८०, १८६, १८७ इत्यादि।
७. वही, पद्य २०, ३९-४०, ५८-१४१, १९७, १९८, २०१, २०७, २१४, २०८-९, २१०, २११।

हैं ।[1] एक दृष्टव्य बात इन पद्यों में स्त्रीपरक रूपकों के सहारे मोक्षादि का वर्णन है । मुक्ति को स्त्री, मन को प्रियतम, देह को महिला, आत्मा को प्रिय जैसी कल्पनाओं में साधना के प्रेममय मधुर रूप की झलक देखी जा सकती है ।[2] यों महिलाओं से सतर्क रहने का उपदेश दिया गया है और साधन पथ के लिए उन्हें बाधक बताया गया है ।[3] पाहुड दोहा के पद्यों में अनेक बार एक ही विषय की पुनरावृत्ति हुई है ।[4] परमात्मप्रकाश के समान ही इन पद्यों में एक निश्चित विचारधारा मिलती है और उसके साथ साथ उपदेश, खंडन-मंडन और सुभाषितादि से युक्त पद्य भी मिलते हैं । आडंबरहीनता और सरलता पद्यों की एक सामान्या विशेषता है ।

पाहुड दोहा के २२२ पद्यों में से १२ पद्य प्राकृत में हैं ।[5] तीन पद्य संस्कृत में हैं,[6] शेष पद्य अपभ्रंश में हैं, जिनमें से १६ पद्यों को छोड़कर शेप दोहा छंद में है ।[7] कृति की अपभ्रंश 'शौरसेनी अपभ्रंश' कही जा सकती है, प्रस्तुत कृति के कुछ दोहे किंचित परिवर्तन के साथ हेमचन्द्र के व्याकरण में उद्धृत हुए हैं ।[8]

कृति की कुछ हस्तलिखित प्रतियों की पुष्पिकाओं में रचयिता मुनि रामसिंह कहे गए हैं, कुछ में योगीन्द्र[9] दोनों ही की रचनाओं में वहुत भावसाम्य और कहीं शब्दसाम्य मिलता है ।[10] पाहुड दोहा के एक पद्य में मुनि रामसिंह का

१. पाहुड दोहा, दे० पद्य २६८ में अनाहद्नाद, १८१ में ब्रह्मरंध्र, इडा, पिंगला, शशि रवि के उल्लेख पद्य १८१-१८२, २१९-२२१ में, तथा योग की दशा के संकेत पद्य २०३-२०४ में ।

२. वही, पद्य ४२, ४५, ६४,१०० ।

३. वही, पद्य ४३, १५६ ।

४. वही, पद्य २६ और ३०, ७७ और १९३ ।

५. वही, पद्य १९, २३, ८२, ९८, १३८, १४१, १४२, १९५, २०३, २०४, २१२ और २१३ ।

६. वही, पद्य २१८, २२१, २२२ ।

७. वही, पद्य ४२, ५०, ८३, ८५, ९९, १२२,१३५-१३६, १३९, १४०, १४४, १६५-१६८, २०६ । इनमें से पद्य ४२, ९९ द्विपदी छंद में हैं, पद्य ५० सोरठा लगता है, पद्य ८३ चतुष्पदी है, अन्य पद्धडिया छंद में हैं ।

८. वही, भूमिका पृ० २२-२३ ।

९. वही, भूमिका पृ० २६ तथा परमात्मप्रकाश, भूमिका पृ० ६२ ।

१०. पाहुड दोहा, भूमिका पृ० १९-२० ।

रचयिता के रूप में नाम भी आता है ।[1] भावसाम्य के कारण, ऐसा प्रतीत होता है, प्रतिलिपिकारों ने योगीन्द्र का नाम रचयिता के रूप में प्रचारित किया होगा । पाहुड दोहा एक संग्रह-कृति है, अतः संभव है, मुनि रामसिंह ने कुछ पद्य योगीन्द्र की कृतियों से भी लिए हों और इन पद्यों की उपस्थिति के कारण भी योगीन्द्र को पाहुड दोहा का रचयिता माना जाने लगा हो। कवि ने कहीं भी अपने संबंध में कोई उल्लेख नहीं किया है और न अन्य कोई रचना ही उनकी मिलती है । 'करभ' जैसे शब्दों का बार-बार प्रयोग मिलता है जिसके आधार पर उन्हें पश्चिम प्रदेश का निवासी माना जा सकता है । कवि के काल के संबंध में भी कोई निश्चित प्रमाण नहीं मिलते हैं । योगीन्द्र के पश्चात् मुनि रामसिंह का समय होना चाहिये क्योंकि योगीन्द्र की कृति से उनकी कृति में पद्य उद्धृत हुए हैं ।[2] हेमचंद्र से रामसिंह का समय पहिले होना चाहिए क्योंकि हेमचन्द्र ने कुछ पद्य पाहुड दोहा से उद्धृत किए हैं।[3] कुछ पद्यों का रूप देवसेन की कृति सावयधम्म दोहा तथा पाहुड दोहा में एकसा ही मिलता है[4] और देवसेन का समय विक्रम की दशवीं शती का उतरार्द्ध माना जाता है,[5] अतः देवसेन और हेमचंद्र के समय के बीच में मुनि रामसिंह का समय मान सकते हैं । डॉ० हीरालाल जैन मुनि का समय सन् १००० ई० के लगभग मानते हैं जिसमें, जब तक कोई निश्चित प्रमाण न मिले, संदेह के लिए स्थान नहीं है ।[6] मुनि रामसिंह जैन थे जैसा कि कृति में प्राप्त जैन सम्प्रदाय से संबोधित अनेक उल्लेखों से स्पष्ट ही प्रतीत होता है ।[7]

सुप्रभाचार्य : ७७ पद्यों की एक छोटी सी रचना 'वैराग्य सार[8]' मिलती

---

१. पाहुड दोहा, पद्य २११ ।
२. वही, भूमिका, पृष्ठ २१ और आगे ।
३. वही, भूमिका पृ० २२-२३ ।
४. वही, भूमिका, पृ० २१ और आगे ।
५. दे० आगे देवसेन का प्रकरण।
६. वही, भूमिका, पृ० २८-३३ ।
७. वही, भूमिका पृ० २७ ।
८. प्रो० एच० डी० वेलंकर द्वारा संपादित 'वैराग्यसार अव् सुप्रभाचार्य', ए० भा० ओ० रि० ई० पूना भाग ९, पृ० २७२-२८० । इसी कृति की एक हस्तलिखित प्रति 'सुप्रभाचार्य दोहा' नाम से लेखक को दिल्ली के श्री पन्नालाल जी जैन अग्रवाल से प्राप्त हुई थी ।

है जिसके रचयिता सुप्रभाचार्य हैं। वैराग्यसार के पद्यों में वैराग्यपूर्ण वातावरण मिलता है। प्रारंभ में ही उन्होंने जगत के दुःख-सुख से बचने के लिए वैराग्य भाव अपनाने का आदेश दिया है।

इक्कहि घरे बधामणा अण्णहिं घरि धाहहि रोविज्जई।
परमत्थइ सुप्पउ भणइ किम वइरायभाउण किज्जइ॥

'एक घर में बधावा है अन्य में हाहाकार रुदन है, सुप्रभ परमार्थ कथन करते हैं, वैराग्य भाव क्यों धारण नहीं करते।' और आगे धनसंपत्ति की क्षणिकता, विषयों की निंदा, मानव देह की नश्वरता, संसार के संबंधों के मिथ्यात्व को बताया है। मन और माया से आत्मा की रक्षा करने का सुप्रभ ने उपदेश दिया है :

मण-चोरह माया निसिहि जिय रक्खहि अप्पाणु।
जिम होही सुप्पउ भणइं, णिम्मलु णाणु विहाणु॥४२॥

'रे जीव, माया रात्रि में मन-चोर से आत्मा की रक्षा करो, जिससे ज्ञान का प्रभात हो' संसार को मिथ्या मानते हुए भी सुप्रभाचार्य प्रवृत्ति मार्ग की निंदा नहीं करते। गृहस्थ को दान धर्म में रत और परोपकारी होने का वे आदेश देते हैं। ऐसा संभव न होने पर उसे संसार छोड़कर आत्मचिंतन करना चाहिये, आत्मा को जानने से दुःख नष्ट हो जाता हैं। आत्मा को जाने बिना निर्वाण प्राप्त नहीं होता।[1] सुप्रभाचार्य सब देवों से भाव को प्रधान मानते हैं।[2] भाव और ध्यान द्वारा आत्मानुभूति से समरसीभाव या समरस ज्ञान का स्फुरण होता है।[3] अनेक पद्यों में विषयों से विरक्त रहने, मन को मारने का उपदेश दिया है।[4] गृह-वास को वे निर्मल धर्म के पालन करने पर ही उचित समझते हैं अन्यथा उसे नचानेवाला समझते हैं।[5]

सुप्रभाचार्य के दोहों में माया, ममता के त्याग और वैराग्य सेवन को सार (उच्च) बताया गया है। गृहस्थाश्रम को भी वे उचित मानते हैं यदि वह अनुचित व्यवहार से युक्त न हो। रचयिता उदार साधक के रूप में इन पद्यों में हमारे सामने आता है। वह किसी संप्रदाय विशेष का पक्षपाती या विरोधी प्रतीत नहीं होता। यत्र-तत्र जैन धर्म के प्रति आग्रह से रहित साधारण उल्लेख

१. सु० दो० पद्य ५६।
२. वही, पद्य ५७।
३. वही, पद्य ५९।
४. वही, पद्य ६०, ७३-७४।
५. वही, पद्य ७६।

मिलते हैं लेकिन उसके प्रति कोई मोह प्रतीत नहीं होता।[1] पद्य कवि-कल्पना से मुक्त हैं। सर्वत्र सहज सुबोध शैली मिलती है, मन के लिए चोर, माया के लिए रात्रि-अंधकार, मोह के लिए नट जैसे सरल उपमानों का प्रयोग किया है। कुछ पद्यों में सुप्रभ संसार में फंसे जीवों को सावधान करने के लिए व्याकुल से प्रतीत होते हैं।

यथा, रोवंतह सुप्पउ भणइ रे जीव दुःख कि जाइ (५८)।

सुप्रभ के ७७ पद्यों में से ७२ दोहवद्ध हैं।[2] अनेक दोहे त्रुटिपूर्ण हैं, संभव है इसका कारण लिपिकारों का प्रमाद हो। कुछ पद्यों में १४, ११, १४, ११ के बिराम से मात्रा क्रम मिलता है कुछ में क्रमशः १३, ११, १३, ११ मात्रा क्रम मिलता है। सुप्रभ के पद्यों की भाषा सरल अपभ्रंश है जो पुष्पदन्त आदि की शास्त्रीय साहित्यिक अपभ्रंश की अपेक्षा सहज है।

अनेक पद्यों में कवि का नाम सुप्रभ (सुप्पउ) मिलता है तथा हस्तलिखित प्रतियों की पुष्पिकाओं में भी सुप्रभाचार्य का नाम रचयिता के रूप में मिलता है। कुछ पद्यों में जैन संप्रदाय से संबंधित शब्दावली का प्रयोग मिलता है जिससे सुप्रभाचार्य दिगंबर जैन संप्रदाय के प्रतीत होते हैं[3]। सुप्रभाचार्य के काल और देश के विषय में कुछ भी निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। भावधारा के आधार पर उन्हें योगीन्द्र, मुनि रामसिंह की परंपरा में माना जा सकता है और अपभ्रंश भाषा का जो परिवर्तनकालीन रूप उनके पद्यों में मिलता है उसके आधार पर उनका काल १००० ई० के आसपास माना जा सकता है।

महानंदि—महाणंदि या आनंद द्वारा रचित या संग्रहीत ४३ पद्यों का एक संग्रह 'आनंदा'[4] नाम से मिलता है। इन पद्यों में संप्रदायविशेष के भेद भाव

---

१. दोहा ३९ में जिन स्तुति का उपदेश है, पद्य ४३, २, ७, ९ में भी इस प्रकार के उल्लेख मिलते हैं।

२. पाँचपद्य १, ६८, ६९, ७० तथा ७७ भिन्न छंदों में हैं। इनमें से प्रथम पद्य द्विपदी है, पद्य ६८, ६९, ७० प्रज्झटिका छंद में हैं। पद्य ७७ के सभी चरण विषम हैं जिनमें क्रमशः १४, ९, १३, १६ मात्राएं हैं।

३. वही, पद्य ३९, तथा ४३।

४. प्रस्तुत कृति की हस्तलिखित प्रति आमेर भंडार जयपुर में है। उक्त भंडार में रहकर ही लेखक ने इस लघुकृति का अध्ययन किया था। आमेर भंडार ग्रन्थ सूची में प्रस्तुत कृति का नाम 'आनंदास्तोत्र' दिया गया है।

से परे साधना का एक व्यापक और सहज रूप मिलता है। देह में बसनेवाले परब्रह्म की आराधना का इन पद्यों में उपदेश दिया गया है और समस्त तीर्थ, वाह्याचार, जप, तप आदि को व्यर्थ कहा गया है।

अट्ठसट्ठि तीरथ परिभमई, मूढ़ा मरइ भमंतु ।
अप्पविंदु ण जाणहि, आणंदा रे, घटमहिं देव अणंतु ।
वेणी संगम जिण मरहु, जलणिहि झंप मरेहु ॥४॥
झाणग्गिहि तणु जालि करि, आणंदा रे, कम्मपटल खउलेहु ॥६॥

आत्मा देह में वास करता है—इसका उल्लेख इस प्रकार सरल कल्पना का सहारा लेकर किया है—

जिम वइसाणर कट्ठ महिं, कुसुमइ परिमलु होइ ।
तिहं देहमइ बसइ जिव, आणंदा, बिरला बूझइ कोइ ॥१३॥

"जिस प्रकार काष्ठ में वैश्वानर, पुष्प में परिमल रहता है उसी प्रकार देह में जीव निवास करता है, कोई विरला ही जानता है।'

देह में बसने वाला परमात्मा गुरु की कृपा से ही प्राप्त होता है।

हरि-हर वंभु वि सिव णही, मणु बुद्धि लक्खिउ णजाही ।
मध्य सरीरहे सो बसइ, आणंदा, लीजहिं गुरुहिं पसाई ॥१८॥

"हरि, हर, ब्रह्म, शिव भी उसे नहीं जानते, मन और बुद्धि के द्वारा वह नहीं देखा जा सकता, वह शरीर में बसता है। आनंद कहते हैं गुरु के प्रसाद से उसे प्राप्त करो।'

सद्गुरु ही उस ईश्वर के स्वरूप को बता सकता है, वह रूप, रस, गंध, स्पर्श से विहीन है।

फरसरस गंधवाहिणी, रूवविहूणउ सोई ।
जीवसरीरहं बिणु करि, आणंदा, सदगुरु जाणई सोई ॥१९॥

'स्पर्श रस, गंध से बाहर है और वह रूपविहीन है, जीव और शरीर भिन्न हैं, सद्गुरु उसे जानते हैं। गुरु की महिमा अपार है, वह आत्मा और परमात्मा के भेद को दिखाता है।'

गुरु जिणवरु गुरु सिद्धसिद्ध, गुरु रयणत्तय सारु ।
सो दरिसावइ अप्पपरु, आणंदा, भवजल पावइ पारु ॥३६॥

गुरु जिनवर है, सिद्ध है, शिव है और रत्नत्रय का सार है, वही आत्मा और पर को दर्शाता है और उसकी कृपा से ही भव जल का पार पा सकते

हैं, आत्मबोध से कर्म क्षय हो जाते हैं। उस आत्मा को सहजसमाधि के द्वारा जाना जा सकता है––

'सो अप्पा मुणि जीव तुहुं, अप्पहं करि परिहारु।
सहज समाधिहिं जाणियई, जाणंद, जे जियसासणि सारु ॥२२॥

'रे जीव, तू उस आत्मा को जान, अन्य का परिहार कर। आनंद कहता है कि जिन-शासन के सार को सहज समाधि द्वारा जाना जा सकता है,

प्रस्तुत कृति में प्रतिपादित साधन मार्ग योगीन्द्र और रामसिंह द्वारा प्रतिपादित साधन पथ के समान ही है। प्रस्तुत कृति के कुछ पद्य परमात्मप्रकाश तथा पाहुड दोहा में किंचित परिवर्तन के साथ मिल जाते हैं।[१] संभव है आनंदा ने इन पद्यों को लिया हो वा दोनों ने ही किसी एक तीसरे स्रोत से लिया हो। आनंद ने अपनी कृति में प्रयुक्त छंद को 'हिंदोला' छंद कहा है।

हिंदोला छंदि गाइयइं, आणंदितिलकु जिणाउ।
महाणंदि दह वालियउ, आणंदा, अवहउ सिवपुरि जाई ॥४२॥

कृति में प्रयुक्त पद्यों के अंतिम चरण में 'आणंदा' या 'आणैदारे' पद प्रयुक्त मिलता है जिससे ६ मात्राएँ अधिक हो गई हैं। इन मात्राओं को निकाल देने पर छंद दोहे हैं। कृति के रचयिता महानंदि थे क्योंकि प्रारंभ तथा अंतिम पद्यों में उन्होंने अपना नाम दिया है।[२] और अंत में दी हुई पुष्पिका में भी यही नाम मिलता है।[३] कृतिकार जैन अवश्य थे जैसा कि अनेक उल्लेखों से स्पष्ट प्रतीत होता है।[४] लेखक के काल, देशादि के संबंध में कहीं कोई उल्लेख नहीं मिलता है। उनकी भावधारा अन्य जैन रहस्यवादियों से बहुत साम्य रखती है अतः उनका काल १००० से १४०० ई० के बीच में कभी हो सकता है।

---

१. परमात्मप्रकाश १.९३ तथा आनंदा के २३ वें पद्य एक से हैं। तथा ऊपर उद्धृत पद्य ३६ पाहुड दोहा में मिलता है।

२. यथा––चिदानंदु सो णंदु जिणु सयल सरीरइं सोई।
महाणंदि सो पूजियई, अणंदा रे गगणिमंडलु थिरु होई ॥१॥
देखिए, ऊपर उद्धृत पद्य ४२ में 'महाणंदि' नाम।

३. जयपुर की प्रति में निम्न पुष्पिका मिलती है, 'सदगुरुचारणि जउ हउ मणइ महाग्रणंदि। इति आणंदा समाप्ता ॥

४. यथा 'जिणु' पद्य १, केश लोचन पद्य ९, रात्रिभोजनादि ११, जिणवर की पूजा, 'जिणवरु', पुज्जउ गुरु थुणहिं...१३, इत्यादि।

महचंद—मुनि महचंद कृत ३३३ दोहों का एक संग्रह आमेर भंडार में सुरक्षित है ।[1] दोहे ककारादि क्रम से लिखे गए हैं । कृति का विषय रहस्यवादियों के समान ही है । पंचव्रत धारण करने का उपदेश, कुदेव, कुगुरु की निंदा, स्त्री निंदा, एवं विषयों की निंदा की गई है और फिर आत्मा के स्वरूप की व्याख्या की गई है, वर्ण, भेद सब शरीर के हैं आत्मा के नहीं । पुद्गल विचार, शास्त्रज्ञान की निरर्थकता आदि कृति के अन्य विवेचित विषय हैं । कृति के रचयिता मुनि महचंद के संबंध में कुछ भी ज्ञात नहीं है । अपना नाम उन्होंने कुछ पद्यों में अवश्य दिया है । उन्होंने अपने को वीरचंद का शिष्य बताया है ।[3] इन वीरचंद के विषय में भी कुछ ज्ञात नहीं है । कृतिकार के जैन होने में कोई संदेह नहीं है, किन्तु उनके काल के संबंध में कुछ ज्ञात नहीं है । प्रति का लिपिकाल सं० १६०२ है अतः इससे पूर्व महचंद का काल अवश्य ही होना चाहिए । भाषा और भावधारा की तुलना 'सावयधम्म दोहा' या 'पाहुड दोहा' से भलीभाँति की जा सकती है । और उसी के आसपास प्रस्तुत कृति का रचनाकाल माना जा सकता है ।

जैन रहस्यवादी कवियों की जिस परंपरा का इन कवियों में दर्शन होता है वह बहुत महत्वपूर्ण है । इस परंपरा का बहुत साहित्य रहा होगा, और भी अनेक साधकों ने अपनी साधना का रूप वाणियों के रूप में लिपिबद्ध किया होगा किन्तु वह या तो अभी ग्रंथ भंडारों में पड़ा है या नष्ट होगया है । इस धारा का महत्व और अस्तित्व सिद्ध करने के लिए उपर्युक्त रचनाएं पर्याप्त हैं । इस प्रकार की भावधारा अन्य कृतियों में भी मिलती है ।[3] निष्कर्ष रूप में इस धारा की सामान्य विशेषताओं का यहाँ सिंहावलोकन किया जा सकता है :—

---

१. जयपुर आमेर भंडार में प्रस्तुत कृति का अध्ययन लेखक ने किया था । वहाँ से प्रकाशित ग्रंथसूची में कृति का नाम 'दोहा पाहुड' दिया है जो उचित ही है ।

२. यथा १. महयंदिण भवियायणहो, णिसुणहु थिरमणि थक्क ।
    २. भव दुक्खइ निविण्णएण, वीरचंद सिस्सेण ।
       भवियह पडिकोहण कया, दोहा कव्वमिसेण ॥२॥
    ३. मुणिमहयंदिण भासियउ, .., ... ॥६॥
    ४. तिम मुणि महयंदिण कहिय .... ॥३४॥

कृति के अंत में दी हुई पुष्पिका में 'जोइयमहयंदेण' प्रयुक्त आ है ।

३. आमेर भंडार में इस प्रकार की अन्य कृतियाँ भी लेखक ने देखी हैं जैसे

१. जैन संप्रदाय से प्रेम और परिचय होते हुए भी ये साधक बहुत उदार हैं। किसी संप्रदाय विशेष या सिद्धान्त के प्रति प्रेम या द्वेष इनकी वाणियों में नहीं मिलता। जैन संप्रदाय के अति सामान्य नैतिक आचारों के उल्लेखों तक ही इनकी सांप्रदायिकता सीमित है।

२. सभी प्रकार की रूढ़ियों और परंपराओं के ये साधक विरोधी हैं, किन्तु इनके स्वर में कटुता या अखण्डता नहीं मिलती। मंदिर, तीर्थ, शास्त्र ज्ञान, मूर्ति, वेष, जाति, वर्ण, मंत्र, तंत्र, योग आदि किसी भी संस्था को यह नहीं मानते। चारित्रिक शुद्धता को ये साधक के लिए एक आवश्यक वस्तु मानते थे। गृहस्थाश्रम की, साधना का बाधक होने के कारण, निन्दा की है। धर्मपालन करते हुए गृहस्थाश्रम को त्याज्य नहीं बताया। इसी प्रकार स्त्री वर्ग के प्रति इन साधकों में कटुता नहीं मिलती। जहाँ तक वे साधन पथ में बाधक हैं वहीं तक उनकी निंदा की है।

३. आत्मानुभव को इन साधकों ने चरम प्राप्तव्य कहा है और वह शरीर में रहता है। आत्मा को जानने के लिए शुभाशुभ कर्मों का क्षय करना आवश्यक है। आत्मा और परमात्मा एक ही है। आत्मा के जान लेने पर और कुछ जानने के लिए नहीं रहता। आत्मानंद को ही समरसी भाव, सहजानंद कहा है। तथा आत्म सुखलीन अवस्था को परम समाधि कहा है। यही मोक्ष या निर्वाण है। यह सुख सर्वोपरि और अनुपम है। अपने साधन पथ की व्याख्या करने के लिए इन साधकों ने जहाँ तहाँ प्रेम भावना के द्योतक प्रिय-प्रियतम की कल्पना का भी सहारा लिया है।

४. इन साधकों की रचनाएँ सरल हैं। भाषा के बाह्य सौंदर्य की ओर इनका ध्यान नहीं था। अनलंकृत, आडंबररहित सरल भाषा में सहज ढंग से अपने भावों को इन्होंने व्यक्त किया है। अत्यंत प्रचलित दोहा छंद इनका सर्वप्रिय छंद है। इसके अतिरिक्त प्रज्झटिका छंद का भी व्यवहार किया है। इनकी भाषा सरल आधुनिक आर्यभाषाओं की प्रारंभिक सीमाओं को छूती हुई लोक प्रचलित अपभ्रंश है।

देह में विद्यमान आत्मा को ढूँढने का उपदेश देने वाली यह धारा मध्ययुग में बहुत ही व्यापक थी। बौद्ध, जैन, ब्राह्मण, शैव, सभी संप्रदायों में न्यूनाधिक रूप से इसका प्रभाव पड़ा। श्रमण संस्कृति के अनुयायी सभी संप्रदायों में यह

जोगेन्द्र देव लक्ष्मीचंद्र कृत दोहाबद्ध अपभ्रंश द्वादशानुप्रेक्षा। दे० आमेर ग्रंथ भंडार सूची जयपुर १९४८ ई०।

मान्य थी। आगे परवर्ती काल में यही धारा साधकों की लोक भाषाओं में रचित वाणियों में मिलती है। नाथ पन्थ, सिद्ध पंथ, जैन रहस्यवादी धारा, निरंजनी, कबीरपंथी सब संप्रदाय इसी देह देवालय में बसने वाले देव को ढूँढने का उपदेश देते हैं।

आ. उपदेशात्मक धारा :

जैन प्राकृत साहित्य में जिस प्रकार श्रावक धर्म की व्याख्या करनेवाली पद्य-वद्ध लघु कृतियाँ मिलतीं हैं या तीर्थ, व्रत आदि से संबंधित रचनाएँ मिलती हैं उसी प्रकार जैन अपभ्रंश में इस प्रकार की पद्यवद्ध रचनाएँ मिलती हैं। इस प्रकार की रचनाओं में किसी एक निश्चित विषय का प्रतिपादन नहीं मिलता। सामान्य गृहस्थों के लिए धर्म और नीति विषयक उपदेश कुछ रचनाओं में मिलते हैं, और कुछ में किसी व्रत से संबंधित उपदेश या गुरु की स्तुति मिलती है। यहाँ इस प्रकार की कुछ रचनाओं का अध्ययन प्रस्तुत किया जा रहा है। इस प्रकार की रचनाएँ जैन शास्त्र भंडारों में अभी बहुत मिलेंगी। यहाँ जो परिचय दिया जा रहा है वह जैन अपभ्रंश साहित्य की इस पुष्ट धारा का स्वरूप स्पष्ट करने के लिए पर्याप्त है। जैन प्राकृत रचनाओं के समान अपभ्रंश की इन रचनाओं में गद्य का प्रयोग नहीं मिलता। सभी रचनाएं पद्यबद्ध रूप में ही मिलती हैं।

देवसन—इस स्फुट परंपरा में देवसेन का सावयधम्म दोहा[1] (श्रावक-धर्म-दोहा) सबसे महत्वपूर्ण कृति है। प्रारंभ में पंचगुरुओं की वंदना, दुर्जनों का स्मरण, मनुष्य जन्म की दुर्लभता और अर्हत द्वारा प्रतिपादित धर्म की श्रेष्ठता की ओर संकेत किया है[2]। इस लघुभूमिका के पश्चात् श्रावक धर्म के ग्यारह भेदों का विवेचन किया है। सम्यक्त्व हीन जीवों को इस धर्म की प्राप्ति नहीं होती। सम्यक्त्व प्राप्ति के लिये अनेक दोषों का त्याग, रात्रि-भोजनादि का त्याग, जिन पूजा, अहिंसा व्रत-पालन आदि को आवश्यक बताया है[3]। गृहस्थ के लिए दान देने का महत्व बताते हुए दान देने योग्य पात्रों की चर्चा की है। कवि ने धन की उन्नति धर्म से बताई है, एक पद्य में धर्म की व्याख्या करते हुए बताया है कि जो अपने लिए प्रतिकूल है उस कार्य को दूसरों के लिए न

---

१. प्रो० डा० हीरालाल जैन द्वारा संपादित, करंजा जैन सिरीज, कारंजा बरार १९३९ ई०।

२. सावयधम्म दोहा पद्य १.५।

३. वही, पद्य ६-७६।

करना ही धर्म का मूल है[1]। कवि इस भ्रम का निराकरण करता है कि धन से ही धर्म बढ़ता है। मन, वचन और काय की शुद्धि से भी धर्म बढ़ता है। शास्त्रों के संबंध में कवि ने कहा है कि विपरीत बुद्धि व्यक्ति को शास्त्र धर्म-रत नहीं बना सकता[2]।

सामान्य व्रतापि ध्यान, कीर्तन, संयम, नियम, इंन्द्रियनिग्रह का पालन आवश्यक मानते हुए क्रोध-त्याग, लोभ-त्याग, तथा क्षमा, मार्दव, संतोष, स्वाध्याय, सुसंगति, माधुर्य, त्याग, पौरुष तथा कवित्व और मौन भोजन के पालन को अभिवृद्धि के लिए आवश्यक बताया है।[3] अन्यायों से बचने का देवसेन ने उपदेश दिया है। अन्याय से प्राप्त लक्ष्मी ठहरती नहीं। अन्याय से बलवान भी क्षय को प्राप्त होते हैं। कुसंग और पिशुन संग को देवसेन ने त्याज्य बताया है। दान-प्रसंग का स्मरण कराते हुए प्रसंगानुसार तीर्थंकर के जन्मादि, पूजाविधि आदि का वर्णन करते हुए जिन मंदिर निर्माण और जिन प्रतिमा की प्रतिष्ठा कराने का महत्व वर्णित किया है। बिना श्रद्धा के इन कार्यों के करने से कोई फल नहीं मिलता अपितु दर्शन और सम्यक्त्व का नाश हो जाता है।[4] पाप न करने की देवसेन ने कड़ी चेतावनी दी है। लघुतम पाप भी बड़ी पुण्यराशि को नष्ट कर देता है। कर्मों के फल में निस्पृह भावना का होना आवश्यक है। भोग की इच्छा से किए गए कर्मों को देवसेन हेय बताते हैं। पाप और पुण्य दोनों ही बंधन हैं। पूजा, जिन प्रतिमा का ध्यान, पंच परमेष्ठी मंत्र जप की महिमा, मनुष्य जन्म की दुर्लभता, ग्रंथ महात्म्य आदि प्रसंगों का उल्लेख एवं सबके सुख की कामना करते हुए देवसेन की रचना समाप्त हुई है।[5]

देवसेन ने एक आदर्श चरित्र गृहस्थ के लिए सभी करणीय सामाजिक, धार्मिक कर्मों का पालन आवश्यक बताया है। ब्राह्मण, शूद्र, ऊँच, नीच का भेद सावयधम्म दोहा के पद्यों में नहीं प्रतिपादित किया गया है। देवसेन उस चरम आदर्श निर्माण के लिए उत्सुक दिखते हैं जो पाप पुण्य में समभाव रखता है। प्रवृत्ति मार्ग द्वारा ही वे धर्म के पालन द्वारा मोक्ष प्राप्ति संभव मानते हैं। देवसेन ने वक्तव्य विषय को स्पष्ट करने के लिए अतिपरिचित वस्तुओं को अप्रस्तुत

---

१. सा० दो० पद्य १०४।
२. वही, पद्य ७७-१०७।
३. वही, पद्य १०८-१४३।
४. वही, पद्य, १४४-२०६।
५. वही, पद्य २०७-२२४।

उपकरणों के रूप में अपनाया है जैसे हल, बैल, जुआ, नौका, वृक्ष, कूप, खारी जल, धतूरा इत्यादि ।[1] कृति में दोहा छंद का ही प्रयोग हुआ है, एक पद्य में छंद का उल्लेख भी हुआ है।[2] दोहे के चरणों में मात्रा क्रम क्रमशः १३, ११, १३, ११ है । अन्त्यनुप्रास (दूसरे तथा चौथे चरणान्त में) का प्रायः पालन हुआ है ।[3]

सावयधम्म दोहा की हस्तलिखित प्रतियों की पुष्पिकाओं में से कुछ में रचयिता लक्ष्मीचंद्र कहे गए हैं, कुछ में योगीन्द्र को रचयिता कहा गया है, कुछ में लक्ष्मी-चंद्र को पंजिकाकार कहा गया है । एक प्रति में कृति को 'देवसेन उपदिट्ठ' (देवसेन द्वारा उपदिष्ट) कहा गया है । लक्ष्मीचंद्र को भ्रम से रचयिता मान लिया गया प्रतीत होता है, वे पंजिकाकार रहे होंगे । योगीन्द्र और देवसेन की भावधारा में बहुत अन्तर है अतः देवसेन ही कृति के कर्ता ठहरते हैं ।[4] देवसेन की जो कृतियाँ प्रकाश में आ चुकी हैं[5] उनमें से भावसंग्रह तथा प्रस्तुत कृति में पर्याप्त भाव साम्य मिलता है जिसको आकस्मिक नहीं कहा जा सकता । और इस आधार पर देवसेन ही 'सावयधम्म दोहा' के कर्त्ता ठहरते हैं। दर्शनसार में देवसेन ने कहा है कि धारा नगरी में उन्होंने सं० ९९० में उसकी रचना की ।[6] धारा नगरी में विक्रम संवत का प्रचलन रहा है[7] अतः इसी के आसपास देवसेन ने सावयधम्म दोहा की रचना की होगी । दिगंबर संप्रदाय के थे जैसा कि उनके अन्य ग्रंथों से प्रकट होता है । देवसेन ने संस्कृत, प्राकृत तथा अपभ्रंश में कृतियों की रचना की ।[8] अपने संबंध में देवसेन ने कहीं कोई उल्लेख

---

१. ऐसी सरल कल्पनाओं के लिए दे० सा० दो०, पद्य ३, ४६, ७६, ८७, १३५ इत्यादि ।

२. वही, पद्य २२२ ।

३. कुछ पद्यों में शिथिलता मिलती है यथा पद्य २९, ८१, १४५, १६९ इत्यादि ।

४. दे० सा० दो० की भूमिका, पृ० १४ और आगे ।

५. दर्शनसार, आराधनासार, तत्वसार, नयचक्र, आलाप पद्धति, तथा भावसंग्रह प्रकाशित हो चुकी हैं । दर्शनसार को छोड़कर अन्य कृतियाँ माणिक्यचंद्र दिगंबर जैन ग्रंथमाला में प्रकाशित हुई हैं ।

६. दे० सा० दो० भूमिका, पृ० १९ ।

७. दर्शनसार में कवि ने स्वयं विक्रम संवत्सर का उल्लेख किया है, वही, भूमिका, पृ० १९ ।

८. संस्कृत में आलाप पद्धति, प्राकृत में दर्शनसार, आराधनासार, तत्वसार,

नहीं किया। उनकी कृतियों में प्राप्त वर्ण्य विषय के आधार पर उनकी अत्यंत संयमी साधुचरित व्यक्ति के रूप में कल्पना की जा सकती है।

जिनदत्तसूरि—चर्चरी, उपदेश रसायन रास, और काल स्वरूप कुलक तीन छोटी छोटी अपभ्रंश कृतियाँ जिनदत्तसूरि कृत प्रकाशित हुई हैं।[1] चर्चरी के ४७ पद्यों में अपने गुरु जिनवल्लभसूरि की प्रशंसा तथा उनके कार्यों का वर्णन किया है। चैत्यगृहों के नियमों के पालन का उपदेश देते हुए कृति के अंतिम पद्यों में अपनी गुरु परंपरा दी है। उपदेश रसायनरास के ८० पद्यों में मनुष्य जन्म का महत्व और आत्मोद्धार का उपदेश दिया है। सुगुरु की सहायता के बिना संसार को पार करना कठिन है अतः सुगुरु की महिमा का कुछ पद्यों में उल्लेख हुआ है। आगे धार्मिक जनों की प्रवृत्ति तथा चैत्यगृहों में निषिद्ध कर्मों की चर्चा की है। आगे सूरि और युगप्रधान के लक्षणों का कथन है। इसी प्रसंग में संघ के विरोधियों की दुष्प्रवृत्तियों का उल्लेख करके संघ के लक्षणों का संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत किया गया है। कृति के अंतिम पदों में गृहधर्म विषयक सुंदर उपदेश मिलता है जिसमें कहा है कि कुटुम्व में ज्येष्ठ व्यक्ति की मान्यता होनी चाहिए तथा माता, पिता के अन्य धर्मावलम्बी होने पर भी उनका आदर करना चाहिये। अपनी कृति के श्रोताओं को अजरामर होने की सूचना दे कर कवि ने सुंदर रचना समाप्त की है। जिनदत्तूसरि ने काल स्वरूप कुलक[2] के प्रारंभ में एक भयंकर दुष्काल की चर्चा की है किन्तु आश्चर्य के साथ कवि ने कहा है कि उस भयंकर समय में भी विपरीत बुद्धि के कारण लोगों का मन धर्मवार्ता, जिन-वाणी तथा सुगुरुओं की वाणी में नहीं लगता था। गुरु वचनों में श्रद्धा रखने

नयचक्र, और भावसंग्रह तथा अपभ्रंश में सावयधम्म दोहा तथा भावसंग्रह के कुछ पद्यों की रचना की। भावसंग्रह में तीन अपभ्रंश पद्य वस्तु छंद में मिलते हैं पद्य २१६, २५४ और २५५ जिनमें से एक में स्त्री वर्ग से सतर्क रहने का उल्लेख है तथा दो में ब्रह्मा, कृष्ण और रुद्र के सृष्टि कर्त्तृत्व का न्यायपूर्ण खंडन है।

१. 'अपभ्रंश काव्यत्रयी, नाम से लालचंद भगवानदास गांधी द्वारा संपादित होकर, गायकवाड्स ओरिएंटल सीरीज़ बड़ौदा से प्रकाशित १९२७ ई०,

२. कुलक एक ही क्रिया से संबंधित एक विषय से संबंधित अनेक पद्यों के संग्रह को कहते हैं। इस दृष्टि से कृति का नाम 'कुलक' उपयुक्त नहीं है। कृति में अनेक विषयों से संबंधित पद्य हैं।

का महत्व बताते हुए कुगुरु से सावधान रहने का उपदेश दिया है। सुगुरु और कुगुरु के स्वरूपों की कवि ने विस्तार से चर्चा की है और अंत में कौटुम्बिक संबंधों की एकता, माता पिता के प्रति अनुराग, आदि से सुख प्राप्त होने का उल्लेख किया है। गुरु महिमा, कुटुम्ब का संगठन, संक्षेप में कृति के प्रिय और महत्वपूर्ण विषय हैं।

जिनदत्तूसरि की कृतियों में विरक्तों के लिए उपदेश नहीं है। उनका प्रधान उद्देश्य श्रावक श्राविकाओं के चरित्र का संगठन करना तथा संघ के आध्यात्मिक स्तर को ऊँचा उठाना है। परलोक सुधार की ओर नहीं, सूरि का इस लोक में ही एक आदर्श समाज की स्थापना करना प्रधान लक्ष्य है अतः उन्होंने गृहस्थों को संबोधित करते हुए अपनी कृतियों की रचना की है और इसी कारण सरल कल्पना का कवि ने प्रयोग किया है।[1]

जिनदत्तसूरि की कृतियों में से चर्चरी में अर्द्धसमचतुष्पदी मात्रिक छंद का प्रयोग हुआ है जिसके प्रत्येक चरण में २१ मात्राएँ हैं। कृति के संस्कृत टीकाकार जिनपाल (सं० १२९४ वि० सं०) ने कृति के छंदों को वस्तु छंद का कुद भेद बताया है।[2] चर्चरी के प्रत्येक छंद के चार चरणों में से प्रथम और द्वितीय तथा तृतीय और चतुर्थ चरणों में अन्त्यनुप्रास (यमक) का प्रयोग मिलता है। प्रत्येक चरण में १२ मात्रा के पश्चात् प्रायः यति मिलती हैं तथा चरणान्त में त्रिलघु मात्रिक गण मिलता है। सभी छंद प्रायः निर्दोष है। शेष दो कृतियों में प्रज्झटिका छंद का प्रयोग हुआ है। जिनदत्त की कृतियों की भाषा साहित्यिक पश्चिमी अपभ्रंश (शौरसेनी) है। टीकाकार ने चर्चरी की भाषा को 'मंजरी

---

१. कुछ अप्रस्तुत विषय इस प्रकार हैं, कुगुरु की अर्क के दूध से समता, का० स्व० कु० पद्य १०, धतूरे से समता वही, १२ इत्यादि।

२. दे० चर्चरी टीका पद्य १, चर्चरी का नृत्यगीत के रूप में उल्लेख विक्रमोर्वशीय रत्नावली आदि में मिलता है। हेमचंद्र ने छंदानुशासन ७.४७ में चर्चरी नामक एक छंद का विवेचन किया है जो प्रस्तुत चर्चरी के छंदों से भिन्न है। समरादित्यकथादि ग्रंथों में भी चर्चरी का उल्लेख मिलता है। कुछ अन्य रचनाओं का नाम भी चर्चरी मिलता है दे० पत्तन भंडार सूची पृ० ४३, २६७-६८। चर्चरी एक ताल का भी नाम है, दे० संगीत मकरंद, पृ० ३४ जायसी ने चांचर का उल्लेख किया है, दे० पद्मावत नागरी प्रचारिणी सभा १९३५ ई०, पृ० १६८-२२।

'भाषा' कहा है तथा उपदेश रसायन रास की भाषा को प्राकृत भाषा कहा है।[1] दोनों ही उल्लेख अस्पष्ट हैं।

जिनदत्तसूरि का अनेक कृतिकारों ने उल्लेख किया है, और उनका जीवन वृत्त भी दिया है[2] जिसके अनुसार उनका जन्म सं० ११३२ वि० में हुआ था। इनका नाम सोमचंद्र था। जिनवल्लभसूरि के अवसान के पश्चात् (सं० ११६७ वि०) चित्रकूट में सूरि पद पर उनको प्रतिष्ठित किया गया और वे जिनदत्तसूरि के नाम से प्रसिद्ध हुए। उन्होंने मरुस्थल, अजमेर आदि प्रदेशों की यात्रा की तथा अनेक शिष्य बनाये। सं० १२१० वि० में अनशन द्वारा अजमेर में सूरि ने देह विसर्जित की। उपर्युक्त अपभ्रंश रचनाओं के अतिरिक्त सूरि ने अनेक प्राकृत और संस्कृत कृतियों की रचना की। सूरि श्वेताम्बर संप्रदाय के खरतरगच्छ के अत्यंत प्रसिद्ध युगप्रधान आचार्य थे।

महेश्र सूरि—संयम आदि की महत्ता से संबंधित ३५ दोहों की एक छोटी सी रचना 'संयम मंजरी' महेश्वर सूरि कृत प्राप्त हुई है,[3] जिसमें संयम को सर्वोपरि साधन बताया है, उसे मोक्ष का द्वार बताया है और उसके अनेक भेदों का उल्लेख किया है। संयम के पालन से मोक्ष की प्राप्ति होती है जहाँ निरंतर सुख ही सुख रहता है। महेश्वर सूरि ने अपनी छोटी सी रचना में बड़ा क्रमबद्ध विवेचन किया है किन्तु शास्त्रीय शुष्कता से कृति को बचाने का प्रयत्न किया है। काव्यरस पद्यों में बिल्कुल नहीं है। पद्य दोहा छंद में लिखे

---

१. दे० चर्चरी का प्रारंभ 'इयं च प्रथममंजरी भाषया नृत्यद्भिर्गीयते', तथा, दे० उपदेश रसायनरास का प्रारंभ 'प्राकृतभाषया धर्मरसायनाख्यो रासकश्चक्रे', और भी इस प्रकार के भ्रामक उल्लेख देख सकते हैं। 'गोयम सुत्तचरित्त कुलक' की भाषा को 'पटमंजरी' भाषा कहा है दे० पत्तन कैटेलाग बड़ौदा, पृ० २६७, तथा 'बौद्ध गान वो दोहा' की भाषा को टीकाकारों ने पटमंजरी भाषा कहा है। संभव है इन रचनाओं के पटमंजरी राग में गाई जाने के कारण इनकी भाषा को भ्रमवश पटमंजरी कहा गया होगा।

२. अप० का० त्रयी, भूमिका, पृ० ५३ तथा आगे तथा परिशिष्ट २।

३. ए० भं० ओ० रि० इं० पूना, भाग १, पृ० १५७-१६६ में प्रकाशित तथा भविसयत्तकहा, बड़ौदा संस्करण १९२३ ई०, भूमिका पृ० ३७-४१ में उद्धृत और पत्तन कैटेलाग, बड़ौदा १९३७ ई०, पृ० ६८-६९, १६२ तथा १९३ में अन्य प्रतियों का उल्लेख है।

गए हैं ; क्रमशः चरणों में मात्राक्रम १३,११,१३,११ मिलता है। भाषा उपदेश के अनुकूल सरल लोकप्रिय शौरसेनी अपभ्रंश है।

कृति के अंतिम पद्य में महेश्वर सूरि का नाम मिलता है, जिसके आधार पर महेश्वर सूरि को पद्यों का रचयिता माना जा सकता है।[1] पद्य ३२ में 'गुरुजन' विशेषण से युक्त जिनचन्द्र का उल्लेख हुआ है, अतः वे महेश्वर सूरि के गुरु या कोई अन्य प्रिय श्रद्धाभाजन व्यक्ति हो सकते हैं।[2] कालकाचार्य कथानक के रचयिता एक और महेश्वरसूरि हुए हैं किन्तु ऐसा कोई निश्चित प्रमाण नहीं मिलता जिसके आधार पर दोनों को एक ही माना जा सके।[3] संजम मंजरी की हस्तलिखित प्रति, जिसके साथ हेमहंस सूरि की टीका भी है, सं० १५६१ वि० की मिलती है अतः रचयिता और टीकाकार दोनों ही इससे प्राचीन सिद्ध होते हैं। भाषा और भावधारा की तुलना सावयधम्म दोहा जैसी रचनाओं से की जा सकती है अतः दशवीं से बारहवीं शती तक महेश्वर सूरि का समय मान सकते हैं।[4] कृति के प्रारंभ में पार्श्ववेदना, सूरि उपाधि से कवि के श्वेताम्बर जैन होने की सूचना मिलती है।

जयदेव मुनि—कडवक बद्ध ६२ पद्यों की लघु रचना 'भावना संधि प्रकरण'[5] जयदेव मुनि कृत एकमात्र रचना प्रकाशित हुई है। अपनी कृति में संसार को इन्द्रजाल बताते हुए संसार के संबंधों को मिथ्या बताया है और मनुष्य जन्म की दुर्लभता तथा विषयों के दुष्परिणामों का विरतिकर वर्णन किया है। संसार के दुःख जिनवर कथित धर्मपालन से ही छूट सकते हैं। सुकृत करने और दुष्कृत त्याग करने का उपदेश देते हुए सब जीवों के साथ मैत्रीभाव रखने का उपदेश देकर कृति समाप्त की है। नैतिक और धार्मिक उपदेश ही कृति के प्रधान विषय

---

१. पद्य इस प्रकार है : णह भूषण गयवसणं संजममंजरि एह।
सिरि महेसर सूरि गुरु कन्नि कुणंत सुणेह ॥३५॥
महेश्वर सूरि के लिए सिरि (श्री) तथा गुरु का प्रयोग होने से ऐसा लगता है कि उनके किसी शिष्य ने पीछे यह दोहा जोड़ दिया होगा।

२. यथा, जिणचंदगुरुजणविणउ तवु संजमु उवजारु।

३. ए० भं० रि० इं० वही पृ० १५७।

४. हेमचंद्र के दोहों से भाषा की समता की जा सकती है और अपभ्रंश की स्वाभाविकता तथा प्राचीन रूपों के प्रयोग इस काल की विशेषताएं हैं।

५. ए० भं० ओ० रि० इं० पूना ११, खंड १, पृ० १-३१, एम० सी० मोदी एम० ए० द्वारा संपादित।

हैं। कृति में अनेक प्राचीन ऐतिहासिक पुरुषों के उल्लेख मिलते हैं।[1] सुभाषितों का कृति में अच्छा प्रयोग हुआ है।[2]

कृति में छः कडवक हैं। प्रत्येक कडवक में १० पद्य हैं, अंतिम कडवक में ११ पद्य हैं। कडवक १, ३ तथा ५ प्रज्झटिका छंद में हैं। प्रारंभ में तथा कडवकान्त में घत्ता का प्रयोग मिलता है। कडवक २, ४ और ६ में प्रत्येक चरण में पाँच मात्राओं के चार गण हैं। प्राकृत पैंगलं में इससे मिलता निशिपाल छंद है।[3] प्रयुक्त घत्ता षट्पदी वर्ग के हैं, १०, ८, १३ मात्राओं पर यति का ध्यान रखकर ३१ मात्राएं प्रति पंक्ति में मिलती है। कृति की भाषा व्याकरणसम्मत पश्चिमी अपभ्रंश है।[4]

कृति के अंतिम पद्य में रचयिता ने अपना नाम जयदेव मुनि दिया है। वह शिवदेव सूरि का प्रथम शिष्य था। कृति में मालव नरेन्द्र तथा मुञ्ज (१०५४ वि० मृत्युकाल) के उल्लेख मिलते हैं जिनके आधार पर जयदेव के काल की एक सीमा निश्चित की जा सकती है। इस आधार पर जयदेव का काल ग्यारहवीं शती के पीछे माना जा सकता है। इस नाम के अन्य कृतिकार भी हुए हैं किन्तु उनका काल भी अनिश्चित है।[5]

विजयचंद्रमुनि कृत दो छोटी छोटी रचनाएँ कल्याणकरासु और चूनड़ी मिलती हैं।[6] चूनड़ी में धार्मिक भावनाओं और आवरणों से रंगी चूनड़ी पहनने का उपदेश दिया गया है। ३१ पद्यों की इस कृति की भाषा सरल और शैली सहज है। पद्धडिया और द्विपदी छंद का प्रयोग हुआ है। प्रस्तुत कृति एक लोक-

---

१. यथा मालव नरेन्द्र, पृथ्वीचंद्र पद्य ५, अंगारदाह २०, शालिभद्र, भरत, सगर २२ आदि।

२. यथा पद्य ५७ में 'घर में आग लगने पर कुआ खोदना' आदि।

३. प्राकृत पैंगलं, कलकत्ता १९०२ ई०, पृ० ४८८।

४. ए० भं० वही, पृ० ३ और आगे।

५. पत्तन भंडार कैटलाग आव् मन्युस्क्रिप्ट्स, बड़ौदा, १९३७ ई०, पृ० ५१ तथा १८६। भावना नामक कृतियों के लिए दे० वही, पृ० २९, ३०, ५८, ९०, १२०, १६१ इत्यादि।

६. नागरी प्रचारिणी पत्रिका भाग ५०, संख्या १, २, पृ० १११ तथा जैन हिंदी साहित्य का संक्षिप्त इतिहास पृ० ७०, तथा अनेकान्त वर्ष ५, खंड ६, ७, में दीपचंद्र पांड्या का लेख 'चूनड़ी ग्रंथ'।

गीति जैसी लगती है। रचयिता ने अपने गुरु का नाम बालचंद्र मुनि दिया है। णिज्झर पंचमी विहाण कथानक प्रस्तुत लेखक की एक अन्य कृति भी मिलती है।[1]

ऊपर धर्म, उपदेश, नीति, स्तुति से संबंधित जिन थोड़ी सी कृतियों की चर्चा की गई है वह इस धारा की प्रमुख प्रवृत्तियों का परिचय देने के लिए पर्याप्त हैं। यह उपदेश प्रधान धारा गृहस्थों को सम्मुख रखकर प्रवाहित हुई है इस कारण मंदिर, पूजा, देवादि का खंडन न करके सुचारु रूप से उनको प्रतिष्ठित करने का उपदेश दिया गया है। इन रचनाओं में संसार में विधिपूर्वक गार्हस्थ्य जीवन व्यतीत करते हुए निर्वाण तक पहुंचने का मार्ग बताया है। प्रवृत्तिमार्ग को प्रशस्त बनाने वाले ये उपदेशक संसार में रहते हुए उससे निर्लिप्त रहने का उपदेश देते हैं। कुटुम्ब की सुव्यवस्था और सामंजस्य को ठीक रखने पर इस धारा के कवियों ने बहुत बल दिया है। घर के सब से बड़े सदस्य की प्रधानता तथा माता पिता, चाहे वे अन्य धर्मावलम्बी ही क्यों न हों, की सेवा, उनकी आज्ञा मानना कौटुम्बिक व्यवस्था के प्रमुख आधार हैं जिनकी ओर इन उपदेशकों ने बार बार ध्यान आकर्षित करने की चेष्टा की है। स्त्री वर्ग की अकारण भर्त्सना कहीं ये नहीं करते। जाति, वर्ग के संबंध में इनके विचार बहुत उदार हैं। अन्य मतावलम्बियों के संग-त्याग का बड़े मृदु ढंग से संकेत किया है। त्यागप्रधान, अहिंसा में विश्वास रखने वाली इस प्रवृत्तिमार्गी धारा को जैनाचार्यों ने बड़े ही सरल ढंग से जीवित रखने का प्रयत्न किया है। प्राकृत, अपभ्रंश और आगे चलकर विभिन्न लोक भाषाओं में यह धारा प्रवाहित होती रही। सरल आडंबरहीन भाषाशैली, लोकप्रिय छंद और सामान्य लोक के अतिपरिचित अप्रस्तुत वातावरण आदि का प्रयोग इनकी सामान्य विशेषताएँ हैं, इस धारा की इन प्रवृत्तियों का अवश्य ही हिंदी की उपदेश-वैराग्य-प्रधान धारा पर प्रभाव पड़ा होगा, ऐसा इस साहित्य के आधार पर बहुत दृढ़ता के साथ कहा जा सकता है।

---

१. हस्तलिखित प्रति अलीगंज (एटा) के श्री कामता प्रसाद जी जैन के पास है।

५

जैन अपभ्रंश : प्रबन्धात्मक रचनाएँ

अनेक अपभ्रंश कृतियाँ इस प्रकार की मिलती हैं जिनमें आदि से अंत तक एक ही कथा मिलती है। सर्गबद्धता मिलती है। एक या कभी कभी अनेक व्यक्तियों की कथा ग्रथित रहती है। काव्य के अनुरूप वर्णनादि भी मिलते हैं। प्रबन्ध काव्य की सभी विशेषताएँ न्यूनाधिक रूप में इन कृतियों में मिलती हैं। सर्ग या अध्याय के लिए ऐसी अपभ्रंश कृतियों में सन्धि का प्रयोग मिलता है। प्रत्येक सन्धि अनेक कडवकों से मिलकर पूर्ण होती है। कडवक के प्रधान भाग में कोई एक छंद प्रज्झटिका या अन्य रहता है और अंत में प्रायः घत्ता या अन्य कोई छंद अवश्य रहता है। सन्धियों में कडवकों की संख्या एक समान निश्चित नहीं रहती है। सन्धि के प्रारम्भ में ध्रुवक के रूप में एक घत्ता प्रायः रहता है जिसमें बहुत ही संक्षेप में सन्धि की कथा का संकेत रहता है। इन कृतियों का प्रधान स्वर धार्मिक है, किन्तु पुष्पदन्त जैसे कवियों की कृतियों में उच्च साहित्यिक छटा भी कम नहीं है। इन महाकाव्यों की भाषा साहित्यिक अपभ्रंश है। अपभ्रंश भाषा इन काव्यों में अपनी उन्नततम अवस्था को पहुँची हुई दिखती है। भाषा, छंद, कवित्व सभी दृष्टियों से यह रचनाएँ अपभ्रंश साहित्य के उत्कर्ष की सूचक हैं। इस धारा में सबसे प्राचीन कवि स्वयंभू हैं जिनकी कृतियाँ उपलब्ध हो सकी हैं। स्वयंभू की भाषा, तथा प्रौढ़ता को देखकर सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है कि उनके बहुत पहले इस धारा का प्रारंभ हुआ होगा, और अपनी कृतियों में उन्होंने इस प्रकार के उल्लेख भी किए हैं।

स्वयंभू—स्वयंभू ने अपनी कृतियों में अपने पूर्ववर्ती अनेक अपभ्रंश कवियों का उल्लेख किया है। यद्यपि उनकी कृतियाँ इस समय उपलब्ध नहीं हैं तथापि स्वयंभू के उल्लेखों से यह स्पष्ट हो जाता है कि जडिल, चतुर्मुख, द्रोण आदि कवि स्वयंभू के पूर्व अपभ्रंश में प्रबन्धात्मक काव्यों की रचना कर चुके

थे।[1] स्वयंभू के अभी तक तीन ग्रंथ उपलब्ध हुए हैं; पउमचरिउ, रिट्ठणेमिचरिउ, और स्वयंभू छंद ।[2]

पउमचरिउ (पद्मचरित)—जैन साहित्य में रामकथा की अविच्छिन्न धारा मिलती है। प्राकृत में विमलसूरि का 'पउमचरिय' तथा संस्कृत में रविषेणाचार्य का पद्मपुराण प्रसिद्ध प्रतिनिधि कृतियाँ हैं। स्वयंभू की कृति पाँच कांडों में

---

१. छंदडिय दुवइ धुवएहि जडिय, चउमुहेण समप्पिय पद्धडिय। रिट्ठणेमि चरिउ तथा स्वयंभू छंद में चतुर्मुख ४.३, ७१, ८३, ८६, ११२, धूर्त ४.६ माउरदेव ४.९, धनदेव ४.११, आर्यदेव ४.१३, छइल्ल ४.१५, गोइन्द ४.१७, १९, २१, २४, २६, शुद्धशील ४.१८, तथा जिनदास ४.२८ के पद्य उद्धृत किए हैं। कृष्ण कथा से संबंधित कुछ अन्य पद्य भी उद्धृत किए हैं जिनके रचयिताओं का नाम नहीं दिया है। लेकिन ऐसा लगता है कि वे प्रबन्धात्मक रचनाओं में से लिए गए हैं। वही, ८.१९ इत्यादि। जर्नल, बंबई यूनी० नवंबर १९३६।

२. क. दे० प्रो० डा० हीरालाल जैन का लेख 'स्वयंभू एन्ड हिज़ टू पोयम्स इन अपभ्रंश' नागपुर यूनीवर्सिटी जर्नल, अंक १, दिसंबर १९३५, पृ० ७०-८४।

ख. भारतीय विद्या वर्ष १, अंक ३, पृ० २५३-२९४ पउमचरिउ की प्रथम दो संधियाँ प्रो० मधुसूदन चिमनलाल मोदी द्वारा संपादित होकर प्रकाशित हुई हैं।

ग. भा० वि० वर्ष १, अंक २ पृ० १५७-१७८ "चतुर्मुख स्वयंभू अने त्रिभुवन स्वयंभू'।

घ. वही, भाग २, अंक १, पृ० ५६-६१, 'चतुर्मुख और स्वयंभू दो भिन्न कवि हैं।

ङ. तथा वही, भाग २, अंक ३, पृ० २४१-२६६ में पं० नाथूराम प्रेमी ने दोनों कृतियों के प्रारम्भ तथा अन्त के कुछ अंश उद्धृत किए हैं, यही लेख उद्धरणों सहित 'जैन साहित्य और इतिहास,' बंबई १९४२ पृ० ३७०-३९५ में प्रकाशित हुआ है।

च. अपभ्रंश पाठावली में पृ० ३–८० में पउम चरिउ तथा रिट्ठणेमिचरिउ से कुछ अंश प्रकाशित किए हैं, संस्कृत छाया सहित अहमदाबाद १९३५ ई०।

विभक्त है, विद्याधरकांड, अयोध्याकांड, सुन्दरकांड, युद्धकांड और उत्तरकांड। कृति ९० सन्धियों में समाप्त हुई है कृति का परिमाण १२००० श्लोक के बराबर है। गुरु और आचार्यों को वंदना करके कवि रामकथा प्रारंभ करता है।

इय चउवीस वि परम जिण पणवेप्पिणु भावे।
पुणु आरंभिय रामकह, रामायण कावें। १.२

आगे कवि ने रामकथा की परंपरा का उल्लेख किया है।

एह रामकहसरि सोहंती, गणहरदेवहिं दिट्ठवहंती।
पच्छइ इंदभूइ आयरिएं पुणु धम्मेण गुणालंकरिएं।
पुणु पहवें संसाराराएं कित्तिहरेण अणुत्तरवाएं।
पुणु रविसेणायरिय पसाएं बुद्धिए अवगाहिय कइराएं। १.३

उपर्युक्त उद्धरण से स्पष्ट है कि स्वयंभू ने रविषेणाचार्य द्वारा ग्रहीत रामकथा-परंपरा का अनुसरण किया है। मूलकथा का प्रारम्भ अन्य जैन कृतियों के समान ही हुआ है। मगधदेश के राजा श्रेणिक जिनवर से रामकथा के संबंध में लोक में प्रचलित अनेक भ्रान्तियों का निराकरण कराना चाहते हैं। उनकी भ्रान्तियाँ इस प्रकार हैं :

जइ रामहो तिहुअणु उवरे माइ तो रावणु कहिं तिय लेवि जाइ।
... ...
किह तियमइ कारणे कविवरेण घाइज्जइ बालि सहोयरेण।

छ. स्वयंभू छंद के प्रथम चार अध्याय जर्नल अव् द रायल एशियाटिक सोसाइटी बांबे ब्रांच १९३५ में तथा शेष चार जर्नल अव दि यूनीवर्सिटी अव् बाम्बे, नवंबर १९३६ पृ० ४१-९३ में प्रकाशित हुए हैं संपा० प्रो० एच० डी० बेलंकर।

ज. पउमचरिउ तीन भागों में प्रो० ह० भायाणी द्वारा संपादित होकर भारतीय विद्या भवन से प्रकाशित हो चुका है।

झ. कवि की रचनाओं से कुछ उद्धरण हिन्दी काव्य धारा में दिए हैं, संपा० राहुल सांकृत्यायन, इलाहाबाद, १९४५।

ञ. पउम चरिउ का हिंदी अनुवाद भारतीय ज्ञानपीठ काशी से प्रकाशित हो रहा है।

२. पउमचरिउ की प्रथम ३७ सन्धियों की हस्तलिखित प्रति लेखक को आमेर शास्त्र भंडार, जयपुर से प्राप्त हुई थी।

किह वाणर गिरिवर उव्वहंति बंधेवि मयरहरु समुत्तरंति ।
किह रावणु दहमुहु वीसहत्थु अमराहिव भुववंधण समत्थु ।
—इत्यादि १.१०

'यदि राम त्रिभुवन के ऊपर हैं या यदि राम के उदर में तीनों लोक व्याप्त हैं तो रावण उनकी स्त्री को कैसे ले गया। स्त्री के कारण सहोदर कपि के द्वारा बालि क्यों मारा गया। पर्वतों को उठाकर सेतु बाँध कर बानर कैसे पार हुए। दशमुख और वीस हाथों वाला रावण अमराधिप को बाँधने में कैसे समर्थ हुआ।'

इसी प्रकार की कुछ और शंकाओं के निवारणार्थ गोतम गणधर कथा प्रारंभ करते हैं। सृष्टि वर्णन, जंबूद्वीप की स्थिति, कुलकरों की उत्पत्ति, काल का उल्लेख करके अयोध्या में ऋषभदेव की उत्पत्ति तथा उनके संस्कारादि और उनके जीवन की कथा दी है[1]। आगे इक्ष्वाकुवंश, लंका में देवताओं, विद्याधरों के वंशादि के वर्णन दिए हैं। और फिर जैन संप्रदाय में प्रचलित परिवर्तनों के साथ रामकथा दी गई है। सभी प्रधान पात्र जिन भक्त हैं। कृति में महाकाव्य के अनुरूप अनेक भव्य वर्णन हैं। स्वयंभू की अलंकार प्रियता का भी परिचय कृति के अनेक स्थलों से मिलता है व्यतिरेक का एक उदाहरण इस प्रकार है :
'क्या श्रेणिक त्रिनेत्र शिव है। नहीं नहीं वे विषमचक्षु हैं। क्या यशधर। नहीं नहीं वह एक पक्ष है। क्या दिनकर। नहीं नहीं वह डहनशील है....इत्यादि।'

किं तिणयणु णं णं विसमचक्खु, किं ससहरु णं णं इक्क पक्खु ।
किं दिणयरु नं नं डहणसीलु किं हरि नं नं कम भुअणलीलु ।
किं कुंजरु नं नं निच्च मत्तु किं गिरि णं णं ववसायचत्तु ।
किं सायरु नं नं खार नीरु किं वम्महु नं नं हयसरीरु । १.६

कृति के पांच कांडों की संधि संख्या इस प्रकार है विद्याधर कांड १–२० संधियां, अयोध्या कांड २२ संधियाँ, सुन्दरकांड १४ सन्धियाँ, युद्धकांड २१ संधियाँ, और उत्तरकांड १३ संधियां। कृति की अंतिम आठ संधियाँ कवि के पुत्र त्रिभुव ने लिखकर जोड़ दी हैं।

रिट्ठणेमिचरिउं[2] (रिष्टनेमिचरित) अरिष्टनेमिचरित या हरिवंश-

---

१. पउमचरिउ संधि १-३ ।
२. सं० १६१५ की एक हस्तलिखित प्रति लेखक को भांडारकर ओरिएंटल रिसर्च इंस्टिट्यूट पूना से प्राप्त हुई थी। तथा दूसरी प्रति, जो अधिक प्राचीन तथा शुद्ध है आमेर भंडार जयपुर से। कृति का संपादन प्रस्तुत लेखक कर रहा है।

पुराण[1] परिमाण में पउमचरिउ से ड्योढ़ा है[2]। कृति का प्रारंभ नेमि तीर्थंकर की वंदना से हुआ है। हरिवंश की गहनता से चिंतित कवि को सरस्वती आकर धैर्य बँधाती है और उत्साहित होकर कवि हरिवंश की रचना के लिए प्रस्तुत होता है; प्रसंग की पंक्तियाँ इस प्रकार हैं––

चिंतवइ सयंभु काइ करमि, हरिवंस महन्नउ के तरम्मि।
गुरुवयण तरंडउ लद्धु न वि जम्महो वि ण जोइउ को वि कवि।
णउ णाइउ वाहत्तरि कलउ एकु वि ण गंधु भोवकलउ।
तहि अवसरि सरसइ धीरवइ करि कव्वु दिणमइ विमलमइ।
... .

पारंभिय पुणु हरिवंसकहा ससमय परसमय वियार सहा। १

'स्वयंभू चिंता करते हैं, हरिवंश महार्णव को कौन पार कर सकता है? गुरुवचन नौका भी नहीं प्राप्त हुई, जन्म से भी किसी कवि को नहीं देखा। बाहत्तर कलाओं को नहीं जाना, न एक भी ग्रंथ देखा, उसी समय सरस्वती ने धैर्य बंधाया, कि दिनमति विमलमति! काव्य करो। और हरिवंश कथा कवि ने प्रारंभ की'। पउम चरिउ के समान हरिवंश के प्रारंभ में भी श्रेणिक ने गणधर से महाभारत की कथा के संबंध में अनेक शंकाएं की हैं।[2] कृति की प्रथम तेरह सन्धियों में कृष्ण के जन्म, बाललीला, विवाह एवं प्रद्युम्न आदि की कथाएं हैं और नेमिजन्म कथा है। कवि ने इस कथाभाग को यादव कांड नाम दिया है।[3] इन सन्धियों में नारद का प्रवेश कलहप्रिय साधु के रूप में हुआ है। वे ही कृष्ण के अनेक विवाहों की तैयारी कराते हैं। शेष समस्त कृति में महाभारत और हरिवंश के आधार पर कथा मिलती है। कुरुकांड में कौरव पाँडवों के जन्म, बाल्यकाल, शिक्षा की कथा और उनके परस्पर के वैमनस्य, युधिष्ठिर के जुए में सब कुछ हारने और पांडवों के द्वादश वर्ष बनवास की कथा है। कौरव पाँडवों में आगे होने वाले युद्ध की पृष्ठभूमि इस कांड में पूर्ण रूप से कवि ने प्रस्तुत कर दी है। युद्धकांड में कौरव पाँडवों के युद्ध और कौरवों के पराभव का वर्णन है। कृति में

१. स्वयंभू ने कृति का नाम हरिवंश भी दिया है।
'हरिवंस महन्नउ के तरम्मि' तथा 'पारंभिय पुणु हरिवंस कहा' संधि १।
२. पउमचरिउ में १२६९ कडवक हैं, हरिवंश पुराण में १९३७ कडवक हैं।
३. पउमचरिउ के समान 'रिट्ठणेमिचरिउ' को भी कांडों में विभक्त किया है। यादवकांड में १३ सन्धियाँ हैं, कुरुकांड में १९ सन्धियाँ हैं और युद्ध कांड में ६० सन्धियाँ हैं।

यत्र तत्र, कदाचित् समसामायिक प्रभावों के कारण, नवीन प्रसंग भी मिलते हैं। एक स्थल पर कनक ताँत्रिक का प्रवेश इसी प्रकार का प्रसंग है।[1]

हरिवंशपुराण में कथा की वर्णनात्मकता का प्राधान्य है। युद्धकाँड में युद्ध के अनेक वर्णन एक ही प्रकार के हैं। यत्र तत्र धार्मिक- प्रसंग भी है[2]। इस विशाल ग्रंथ में कवि की प्रतिभा तथा काव्य वर्णन और सुरुचि का परिचय देनेवाले अनेक स्थल हैं। कवि की साहित्यिक कल्पना का वैभव इस प्रकार के एक वर्णन में देखा जा सकता है, वनवासी युधिष्ठिर का वर्णन कवि ने इस प्रकार किया है।

साहीण महागयतुरयथट्ट मायरकिंकर अखलिय पट्ट।
अपमेयइं चमरीचामराइं णिग्गलइं णिवायइं लयहराइं।
खज्जंति फलइं णिरुणिरुवमाइं पिज्जंति जलइं अमिओवमाइं।
अपमाण महामणिमहिहरेंहिं रवि किरण णिवारिय तरुवरेंहिं।
वण सइहिमि णिम्मिय फुल्लगंध वरकेसरधूसररायपंथ।
साहीणइं पण्णइं फुप्फलाइं सेवउ करंति सावयवलाइं।
सुप्पइं पल्लव पत्थरणे रम्मे ....२४-१७।

"राजा युधिष्ठिर की राज्यश्री में 'स्वाधीन गज, तुरंगों के समूह हैं और सिंहासनासीन राजा के सेवक भाई हैं। चमरी गौएं अनुपम चामर धारिणी हैं, जो लतागृहों से निकलती हैं। निरुपम फलों को खाते हैं और अमृतोपम जल का पान करते हैं। अनेक महीधरों की अप्रमाण रत्नराशि उनका भंडार है, वृक्ष रवि-किरणों का निवारण करते हैं। पुष्प सुगंधि वन में स्वनिर्मित है, वरकेशर से धूसरित पथ ही राजपथ है . . .।'

प्रकृति चित्रण में कहीं कहीं परंपरानुसार केवल नामावली देकर ही कवि ने संतोष किया है, किन्तु छंद की लय में पर्याप्त संगीत प्रवाह है—

जत्थ रत्तंदणा चंदणावंदणा, ताल हिंताल ताली तमालंजणा।
हिंगु कप्पूर कक्कोलि एलाचवी, केयई अव्वई मालई माहवी।

---

१. सन्धि २८, दुर्योधन को प्रसन्न करने के लिए कनक कृत्या को सिद्ध करता है किन्तु कृत्या उसे ही नष्ट कर देती है।
द्रौपदी के स्वयंवर में मत्स्यवेध प्रतिज्ञा के स्थान पर धनुष चढ़ाने की प्रतिज्ञा में जैन संप्रदाय की अहिंसा का प्रभाव देखा जा सकता है।

२. यथा, संधि ३४ में दुर्योधन को समझाते समय।

णीम णेवालिया सत्तली पाउली, रोहिणी राइणी तारणी पुप्फली।

चिंचिणी कंगुणी माहुलिंगी महू, दक्ख रुदक्ख योमक्ख रुक्खावहू। २६.४

कृति में जहाँ तक संभव हो सका है स्वयम्भू ने भावों का भी सरस चित्रण किया है। कथा के आग्रह और धार्मिक दृष्टिकोण के कारण ऐसे स्थल कम हैं। स्वयंभू की भाषा साहित्य, व्याकरण से अनुशासित अपभ्रंश है। जहाँ तहाँ ध्वयात्मक अनुरणनात्मक शब्दों के प्रयोग मिलते हैं जो अपभ्रंश कवियों की एक सामान्य विशेषता है। कहीं कहीं कम प्रचलित शब्दों के प्रयोग भी मिल जाते हैं।[१] स्वयंभू की कृतियों में उनके प्रिय छंद पज्झटिका का प्रयोग हुआ है,[२] अन्य छंद भुजंगप्रयात, कामिनीमोहन,[3] नाराचक,[४] द्विपदी, हेला, धत्ता आदि के प्रयोग हुए हैं। स्वयंभू ने छंदशास्त्र पर कृति लिखी है। अत: उनके छंदों के निर्दोष होने का सहज अनुमान किया जा सकता है।

स्वयंभू ने अपनी कृतियों में कुछ उल्लेख किए हैं जिनसे उनके संबंध में कुछ सूचनाएं मिलती हैं। पउम चरिउ के प्रारम्भ में चतुर्मुख, दंती और भद्र के काव्य कौशल की प्रशंसा की गई है और उनके समान ही स्वयंभू की प्रतिभा को बताया है और उनको एक व्याकरण का रचयिता भी कहा गया है।[५] इसी प्रकार का एक उल्लेख पउमचरिउ में त्रिभुवन के संबंध में मिलता है।[६] यह उल्लेख प्रशंसात्मक है और संभव है पीछे किसी कवि ने जोड़ दिए होंगे। पउम-चरिउ में कवि ने अपने संबंध में कहा है कि वे मारुत और पद्मिनी के पुत्र थे, स्थूल काय, चौड़ी नाक और विरलदंतवाले थे।[१] त्रिभुवन ने भी इसकी पुष्टि की है।[२] एक दो स्थलों पर स्वयंभू की पत्नी के संबंध में भी उल्लेख मिलते

---

१. जैसे देहे जो जंतहो देहें गमइ सर, २१.७।

२. स्वयंभू ने पद्धडिया का स्वयं उल्लेख किया है छंदडिय दुवइ धुवएहि जडिय। चउमुहेण समप्पिय पद्धडिय संधि १

३. रिट्ठ० २६.४।

४. वही २९.७।

५. ना० यू० ज० वही, पृ० ७९।

६. वही, पृ० ८०.८१।

७. पउमिणि जणणि गब्भसंभूएं मारुयएव-रूव-अणुराएं।
अइतणुएण पईहरगत्तें छिव्वर णासें पविरल दंतें। पउम० १.३।

८. मारुयसुय-सिरि वइराय-तणय-कय-पोमचरिय-अवसेसं।
ना० य० ज० पृ० ८१।

हैं जिनमें कहा गया है कि उन्होंने अयोध्या काँड की रचना में स्वयंभू की सहायता की थी, उनका नाम आदित्य देवी था।[1] त्रिभुवन कवि के पुत्र का नाम था और कवि की अपूर्ण कृतियों को त्रिभुवन ने पूर्ण किया था अथवा कुछ सन्धियाँ जोड़ दी थीं। वे स्वयंभू के छोटे पुत्र थे। कुछ उल्लेखों से प्रतीत होता है कि वे कवि के एकमात्र पुत्र थे।[2] अपनी दो बृहत्कृतियों की पुष्पिकाओं में कवि ने अपने आश्रयदाताओं के भी नाम दिए हैं। पउमचरिउ की रचना धनंजय तथा हरिवंश की रचना धवल के आश्रय में की थी। इन व्यक्तियों के साथ राजादि किसी विशेषण का उल्लेख नहीं है अतः यह कोई श्रेष्ठि रहे होंगे। इतिहास में इनका कोई उल्लेख नहीं मिलता। इसी प्रकार त्रिभुवन के आश्रयदाता 'वंदइय' के भी संबंध में इतिहास मौन है। त्रिभुवन की कोई स्वतंत्र कृति नहीं मिलती, उन्होंने अपने पिता की सभी रचनाओं में कुछ अंश अवश्य जोड़े थे। स्वयंभू की अनुपलब्ध कृति 'पंचमीचरिउ' में भी उन्होंने कुछ अंश जोड़े थे[3]। स्वयंभू, उनकी पत्नी और पुत्र सभी कविप्रतिभा संपन्न थे। त्रिभुवन ने स्वयंभू की अनेक कवि उपाधियों का उल्लेख किया है जैसे छंदचूडा-

---

१. धुवरायवत इयलु अप्पणत्ति सुयाणुपाढेण। णामेण सामियव्वा सयंभु घरिणी महासत्ता। तीए लिहावियमिणं वीसहिं, आसासएहिं पडिबद्धं। सिरि विज्जाहर कंडं कंडंपिव कामएवस्स। पउम० संधि २० का अंत तथा आइच्चु-एवि पडिमोवमाए आइच्चंवियाए। बीयउ उज्झाकंडं सयंभु घरिणीए लेहवियं पउमचरिउ संधि ४२

इन दो उल्लेखों के अनुसार दो भिन्न नाम मिलते हैं संभव है उनके दो नाम ही हों।

२. वंदइआसिय-महकइ-सयंभु लहु-अंगजाय विणिबद्धो।

तथा-तिहुयण-सयंभु णवरं एक्को कइराय-चक्किणुप्पण्णो। ना० यू० ज० पउमचरिउ-भूमिका पृ० १२३।

पउमचरिउ की अंतिम आठ सन्धियाँ ८३-९० और हरिवंश की ९९-१०८ संधियाँ त्रिभुवन रचित हैं जैसा उनकी पुष्पिकाओं से ज्ञात होता है।

हरिवंश में अंतिम चार सन्धियाँ १०९-११२ यशकीर्ति रचित हैं और संधि ९९ की पुष्पिका में धवल का भी नाम मिलता है अतः संभव है वह उनकी रचना हो।

३. दे० ना० यू० ज० वही, पृ० ८०-८१।

मणि,[1] कविराज, तथा कविराज चक्रवर्ती। स्वयंभू महाकवि थे किन्तु अपने संबंध में उन्होंने जो उल्लेख किए हैं उनसे उनकी महज्जनोचित विनम्रता, सरलता का आभास मिलता है[2]। स्वयंभू के काल की सीमाएँ निश्चित करना बहुत कठिन नहीं है। व्यासादि के साथ स्वयंभू ने भामह, दंडी, वाण तथा श्रीहर्ष का भी स्मरण किया है[3]। और, अपभ्रंश के कवियों में से पुष्पदन्त और हरिषेण ने स्वयंभू का आदरपूर्वक उल्लेख किया है। पुष्पदन्त का समय ई० दशवीं शती है[4] और हरिसेण ने धर्म-परीक्षा की रचना सं० १०४० वि० में की[5]। अतः स्वयंभू का समय नागानंद-कार श्रीहर्ष (८वीं शती ई०) और पुष्पदन्त के बीच में ठहरता है। पुष्पदन्त के समय से उनका काल लगभग एक शती पूर्व अवश्य होना चाहिए और इस प्रकार ८०० और ९०० ई० के बीच में स्वयंभू वर्तमान रहे होंगे।

पुष्पदन्त—महापुराण, णायकुमारचरिउ (नागकुमारचरित) और जसहर-चरिउ (यशोधर चरित) तीन कृतियाँ पुष्पदन्त की प्रकाशित हो चुकी हैं[6]।

महापुराण—दिगंबर जैन संप्रदाय में महापुराणों का स्थान बहुत ऊँचा है। पुष्पदन्त ने महापुराण में चौबीस तीर्थंकर, बारह चक्रवर्ती, नौ वासुदेव, नौ बल-देव तथा नौ प्रतिवासुदेवों की कथा प्रस्तुत की है[7]। इस वृहत् ग्रंथ के प्रथम भाग

---

१. छंदशास्त्र की स्वयंभू ने रचना भी की है।

२. यथा, वुहयण सयंभु पइ विन्नवइ, मइं सरिसउं अण्णु णत्थि कुलइ। पउम० १.३

३. यथा, इंदेण समप्पिउ वायरणु, रसु भरहें वासें वित्थरणु।
पिंगलेण छंद पय पत्थारु। भम्महं दंडिणिहिं अलंकारु।
वाणेण समप्पिउ घणघणउं। तं अक्खरडंवरु अप्पणउ।
सिरि हरसेंणि यणिउणित्तणउं...........हरिवंश० १.२

४. दे० आगे पुष्पदंत का विवरण।

५. दे० आगे धर्म परीक्षा का विवेचना।

६. महापुराण तीन खंडों में डा० पी० एल्० वैद्य द्वारा संपादित होकर माणिक्य-चंद्र दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला में प्रकाशित हुआ है बंबई, १९९३, १९९६ और १९९८ वि०; नागकुमारचरित देवेन्द्रकीर्ति जैन सीरीज में प्रो० हीरालाल जी जैन द्वारा संपादित होकर प्रकाशित हुआ है; करंजा १९३३ ई०; यशो-धरचरित संपा० डा० पी० एल्० वैद्य, करंजा १९३१ ई०।

७. जैन संप्रदाय में ६३ महापुरुष माने गए हैं। शीलांक आदि ने ९ बलदेवों की

आदिपुराण की ३७ सन्धियों में प्रथम तीर्थंकर ऋषभ तथा प्रथम चक्रवर्ती भरत की कथा है। भूमिका के रूप में कृति के प्रारंभ में जिन वंदना, दुर्जन, सज्जन स्मरण है। दुर्जनों की निंदा के डर से कवि कविता नहीं करना चाहता था किन्तु अपने प्रिय आश्रयदाता भरत के आग्रह से उसने कविता प्रारंभ की। श्रेणिक महाराज (बिंबिसार) की जिज्ञासा के फलस्वरूप महावीर के परमशिष्य गौतम गणधर पुराण कहते हैं। ऋषभ का जन्म अयोध्या में होता है, अनेक कलाएँ मनुष्य को पहिले पहल उन्होंने सिखाईं। फिर उनके त्याग, तपस्या और अंत में कल्याण प्राप्त करने के, भव्य कवि प्रतिभा की पूर्ण गरिमा से युक्त वर्णन हैं आदि पुराण में कवि को कथा कहने की आतुरता नहीं है अतः मानवीय रस और कल्पना का वैभव इस अंश में बहुत मिलता है। आगे की ३१ सन्धियों (३८-६८) में अजितादि तीर्थंकरों की कथाएँ हैं। यह अंश कथात्मक हैं। संधि ६९-७९ तक आठवें बलदेव, वासुदेव प्रतिवासुदेव राम, लक्ष्मण और रावण की कथा है। रामादि के पूर्व जन्मों का कवि ने वर्णन किया है। सीता विद्याधर रावण और उसकी पत्नी मंदोदरी की पुत्री थी। राम लक्ष्मण के अनेक विवाह होते हैं। सीता को रावण वाराणसी से अपहृत करता है जब उनका राम से विवाह हो चुका था और वे क्रीड़ा कर रहे थे। वानर रूपधारी विद्याधरों की सहायता से राम रावण पर चढ़ाई करते हैं और लक्ष्मण के हाथ से रावण मारा जाता है। राम लौटकर राज्य सँभालते हैं। हिंसारत लक्ष्मण कालान्तर में मरकर नरक जाते हैं, और राम जिन भक्ति के प्रताप से केवल ज्ञान प्राप्त करके मोक्ष प्राप्त करते हैं और कालान्तर में लक्ष्मण भी शिव पद प्राप्त करते हैं।

बीच में नमि की कथा (संधि ८०) के पश्चात् नेमि तीर्थंकर तथा नवें बलदेव और वासुदेव श्रीकृष्ण और बलराम की कथा है। (संधि ८१-९२) कौरव, पांडव और यादवों का वर्णन करते समय व्यास को अलीक कवि कहा है। कंस और उग्रसेन में वैर पूर्व जन्म के कर्मों के अनुसार था। कृष्ण की बाल लीला का कवि ने संक्षिप्त किन्तु आकर्षक वर्णन किया है। कृष्ण का पूरा चरित्र महापुराण में काव्य की दृष्टि से उत्कृष्टतम अंश कहा जा सकता है। कृष्ण अंत में विरक्त होकर तपस्या करते हैं और एक भील के बाण से मारे जाते हैं। प्रेम विह्वल बलदेव कृष्ण को स्नान कराकर वस्त्रों से सुसज्जित कर कंधे पर रखकर छै महीने तक उन्मत्त की तरह भ्रमण करते रहते हैं। बोध होने पर कृष्ण

गणना महापुरुषों में नहीं की। पुष्पदन्त के पुराण का पूरा नाम 'तिसट्ठि-महापुरिसगुणालंकार' है।

की दाह क्रिया करते हैं। हिंसा करने के कारण कृष्ण की आत्मा को कुछ दिन नरक में जाना पड़ता है। बलदेव स्वर्ग प्राप्त करते हैं। कृष्ण की मृत्यु से पांडव दुःखित होते हैं और तप करते हुए सद्‌गति प्राप्त करते हैं। कृति की अंतिम संधियों में पार्श्व नाथ (९३-९४), महावीर (९५-९७), जंबूस्वामी (१००), प्रीतिंकर (१०१) की कथाएँ हैं। अंतिम संधि में महावीर के निर्वाण का वर्णन और ग्रंथकार की अंतिम प्रशस्ति है।

महापुराण में प्रत्येक महापुरुष की कथा अपने आप में पूर्ण है। आदिपुराण स्वतंत्र कृति जैसी है और इसी प्रकार रामायण और हरिवंश की कथा से संबंधित अंश भी अपने आप में पूर्ण हैं। पुष्पदन्त ने अपनी कृति को 'महापुरिसगुणालंकार' कहने के साथ 'महाकाव्य' भी कहा है।[1] इस विशाल कृति में प्रबन्धकाव्य—महाकाव्य—की श्रृंखला—बद्धता नहीं मिलती और पौराणिकता प्रधान है किन्तु जीवन का कदाचित् ही ऐसा कोई पक्ष हो जिसके संबंध में पुष्पदन्त की सरस अभिव्यक्ति न मिलती हो। परंपरागत कथा में जहाँ कहीं भी कोई सरस स्थल आया है पुष्पदन्त ने उसे अपनी कवित्व शक्ति से मनोरम बनाकर ही रखा है। ऐसे प्रसंगों में प्रधान स्थान नगर, प्रदेश, वन प्रान्तादि के वर्णनों का है। महापुरुषों के जन्मस्थानों, विजय यात्राओं, तपोभूमियों, मृगयाभूमि, और राजा तथा रानियों के रूप वर्णनों में पुष्पदन्त ने अपनी कवि-कल्पना और प्रतिभा का अच्छा परिचय दिया है। इनमें से प्रकृति से संबंधित वर्णनों में कवि अधिक तन्मय हुआ दिखता है। साहित्यिक कल्पना-वैभव के साथ ग्राम्य सरलता का मौलिक योग पुष्पदन्त के वर्णनों की एक असामान्य विशेषता है। मगधदेश के वर्णन से कतिपय पंक्तियाँ इस प्रकार देखी जा सकती हैं :

सीमारामासार्माहिं, पविउलगार्माहिं गज्जंतहिं धवलोहहिं ।
सोहइ हलहरसत्थहिं दाण समत्थहिं, णिच्चंचियणिल्लोहहिं ॥
अंकुरियइं णवपल्लवघणाइं कुसुमियफलियइं णंदणवणाइं ।
जहिं कोइलु हिंडइ कसणपिंडु वणलच्छिहे णं कज्जलकरंडु ।

.. .. ..

जहिं उच्छुवणइं रस गब्भिणाइं णावइ कव्वइं सुकइहिं तणाइं ।
जुज्झंत महिसवसहुच्छवाइं मंथामंथियमंथणि रवाइं ।
चवलुद्ध पुच्छ वच्छाउलाइं कीलिय गोवालइं गोउलाइं । १.१२ ।

---

१. संधियों की पुष्पिकाएं इस प्रकार हैं : 'इय महापुराणे तिसट्ठिमहापुरिस गुणालंकारे महाकइ पुप्फयंतविरइए महाभव्वभरहाणुमण्णिए महाकाव्ये....'

'वह मगधदेश सीमास्थित हरित उपवनों, ग्रामों और गर्जते हुए वृषभ समूहों तथा दान-समर्थ, निर्लोभ व्यक्तियों एवं हल से युक्त कृषकों से शोभित है। नवअंकुरित सघन पल्लवों से पुष्पित और फलों से युक्त नंदन वन हैं, जहाँ कृष्ण वर्ण कोकिलें भ्रमण करती हैं मानो वन लक्ष्मी का काजल हो। जहाँ रस गर्भित ईख के वन हैं मानो सुकवि के सरण काव्य का विस्तार हो, उमंग भरे महिष और वृषभ जहाँ लड़ रहे हैं, रव करती हुई गोपियाँ दही मथ रही हैं, तथा चपल पूँछों को उठाए हुए बछड़े गोकुलों में क्रीड़ा कर रहे हैं।'

इसी प्रकार के रम्य वन प्रदेशों, भयावह निविड वनों, नदी, पर्वतों के अनेक सजीव और आकर्षक वर्णन मिलते हैं।[१] ग्रामीण गोपियों और वन प्रदेश में रहने वाले शबरों एवं पशुओं के वर्णन भी सजीव हैं।[२] ऋतुओं के परिवर्तन के कारण जो एक नवीन उल्लास प्रकृति में आता है कवि की सतर्क आँखों ने उस सौंदर्य को भी देखा है, शरद्, वसंत, वर्षा[३] के अनेक स्वाभाविक वर्णन मिलते हैं, वसंत का एक वर्णन इस प्रकार प्रारम्भ होता है:—'वीणा वज रही है, पान पिये जा रहे हैं, प्रिय मनुष्यों के चित्त स्वाधीन हैं, सप्त स्वर लहरी से युक्त गान हो रहा है,जो अविकसित किन्तु दृढ़ प्रेम को प्रसारित करता है। प्रचुर पुष्पित मल्लिकादाम में वद्ध परिमल ने नायिकाओं को पोषित किया। गन्धादि द्रव्यों से लतामंडप आर्द्र किया जा रहा है और नूपुरों के कलरव को सुनकर मयूर नृत्य कर रहे हैं।'[४]

उषाकालीन आशा भरे और अस्ताचलावलंबी अवसादपूर्ण सूर्य की शोभा का भी कवि ने निरीक्षण किया है।[५] प्रकृति निरीक्षण के समान ही कवि ने मानव

---

१. ऐसे वर्णन महापुराण में अनेक हैं, संधि १२.११, २०.५-६, ३८, ६-८, ४१.२, ४२.२, ४३.५, ४७.२, ४८.२, ४९.२, ५०.१, २, ९३.२, ९५.२, नदियों के वर्णन, सिंधु १३.९, गंगा वर्णन १२.८, यमुना ९५.२, २९.७-८, समुद्र वर्णन १२.१३-१५।

२. गोपियों का वर्णन महा० १२.११, शबर० वही १२.१२ पशुओं के वर्णन मृग ५२.४, गर्जसिंह ९५.१२-१३।

३. वही, शरद वर्णन, १२.१, वसंत० ७०.१४-१५, वर्षा ८५.१५-१६।

४. वही, ७०.१५।

५. वही, १६.२३-२६, १३.८, ७३.१-२।

सौंदर्य का भी निरीक्षण किया है। मरुदेवी,[१] सीता,[२] स्वयंप्रभा,[३] तथा कृष्ण[४] के नखशिख वर्णन इस प्रकार के वर्णनों में से कुछ हैं। मानव जीवन के अनेक प्रसंगों का भी चित्रण मिलता है : राज वैभव ,जन्मोत्सव, प्रेम प्रसंग, बाललीला वर्णन[५] आदि जीवन के अनेक पक्षों का सरस निरूपण मिलता है। प्रेम-प्रसंग में चित्र दर्शन तथा प्रत्यक्ष दर्शन दोनों द्वारा प्रेम का प्रारंभ दिखाया है। अनेक बार विवाहों के लिए हुए युद्धों का भी विस्तृत चित्रण कवि ने किया है।[६] जैन कवि प्रणय व्यापार को पूर्व जन्म के कर्मों से संबंधित कर देता है। विवाह के अतिरिक्त देश या राज्य विजय के लिए भी युद्धों के वर्णन किए गए हैं।[७] इस प्रकार के वीर---रसात्मक स्थलों के साथ अंत में वीभत्स रस के स्थल भी मिलते हैं।[८] करुण रस के व्यंजक अनेक मार्मिक प्रसंग कृति में मिलते हैं।[९] किन्तु सब से प्रधान भाव महापुराण में निर्वेद है। तीर्थंकर, राजा सभी को जैन कवि पहिले संसार के सुख वैभव में डूबा हुआ चित्रित करता है फिर किसी युक्ति द्वारा इन भोगलिप्त व्यक्तियों को संसार की क्षणिकता का आभास कराता है और शीघ्र ही वे सब से ममता तोड़ कर अपने अपराधों को क्षमा कराते हुए तथा सब के अपराधों को भुलाते हुए परलोक-चिंता-रत होकर वैराग्य धारण करते हैं। इस प्रकार समस्त महापुराण के प्रमुख चरित्रों का चित्रण शांतरसपर्यवसायी है और इस शांत रस के सहायक अनेक नीरस पौराणिक शैली में रचित काव्यरस-हीन प्रसंगों की कवि ने सृष्टि की है।

---

१. महा० २.१५-१६। २. वही, ७०.१०-११।

३. वही, ५१.६। ४. वही, ८५.२१।

५. ऋषभदेव तथा कृष्ण की बाललीला के वर्णन संक्षिप्त किन्तु सुन्दर हैं। महा० ३.४-५, तथा ८५.६।

६. चित्रदर्शन से प्रेम की उत्पत्ति के लिए श्रीमती और वज्रजंघ का प्रसंग देखा जा सकता है संधि २३.४। इन विवाह के लिए हुए युद्ध का वर्णन संधि २८, ५१-५२।

७. भरत की दिग्विजय के संबंध में हुए युद्ध संधि १७-१८, राम-रावण-युद्ध संधि, ७६, कृष्ण पराक्रम संधि ८६।

८. यथा संधि ५२.१६, ७७.१२ इत्यादि।

९. रावण की मृत्यु पर, कृष्ण की मृत्यु पर बलदेव की दशाआदि का चित्रण करुण रसात्मक स्थल हैं।

पुष्पदन्त की कृति में कहीं वर्णनात्मक सरल शैली और कहीं अलंकारों से युक्त चमत्कृत शैली मिलती है। अनेक स्थलों पर अस्वाभाविकता की सीमा तक पहुँचते हुए श्लेष, यमकादि शब्दालंकारों का पुष्पदंत ने प्रयोग किया है।[१] अर्थालंकारों में सादृश्यमूलक अलंकार कवि के प्रिय अलंकार हैं। अनेक स्थलों पर कवि-परंपरा द्वारा प्रयुक्त अप्रस्तुतों के अतिरिक्त पुष्पदन्त ने नवीन अप्रस्तुतों का भी प्रयोग किया है। दो एक उदाहरण देखे जा सकते हैं:—

तं णरणाहें वयणु समत्थिउ। खिच्चहु उप्परि घिउ ओमत्थिउ। २४.११

'तव राजा के द्वारा वचन समर्थित हुआ जैसे खिचड़ी के ऊपर घृत डाला गया हो।'

महि मयणाहिरइयरेहा इव बहुतरंग जरहयदेहा इव। ८५.२।

'यमुनापृथ्वी पर मृगनाभि कस्तूरी की रेखा के समान है और अनेक तरंगें वृद्धावस्था की झुर्रियों के समान हैं।'

इसी तरह अनेक स्थलों पर सुन्दर सजीव सुभाषितों का प्रयोग किया है—यथा—

वियलइ जोव्वणु णं करयलजलु णिवडइ माणुसु णं पिक्कउ फलु। ७.१.८।

'अंजली के जल की भाँति यौवन विगलित होता है तथा पके फल की भाँति मनुष्य निपतित होता है।'

फणि चरणइं जगि को अहिणाणइ परमत्थेण धम्मु को जाणइ। २२.१८.६।

'संसार में सर्प के पैरों को कौन जानता है' इसी प्रकार परमार्थ से धर्म को कौन जानता है। इसी प्रकार 'गर्दभ गर्दभ है, मनुष्य मनुष्य है, दुष्कृत वश और का और नहीं हो सकता'[२] जैसी अनेक लोकोक्तियाँ भी प्रयुक्त हुई हैं। पुष्पदन्त ने यत्र तत्र काव्य के संबंध में जो उल्लेख किए हैं उनसे ऐसा प्रतीत होता है कि वे काव्य में अलंकारों के पक्षपाती थे[३]। किन्तु साथ ही काव्य रस को भी महत्व देते थे।[४]

---

१. दे० १.१३, ८.७, ४७.१, ५८.२१, ८१.१ इत्यादि।

२. वही, ९३.६ और इसी प्रकार की उक्तियाँ मिलती हैं यथा २७.१, में अरघट्ट की उक्ति, ३१.१० में मकड़ी के जाले की, ३२.२० में भी सींग से दूध न निकलने की आदि।

३. यथा, णिरलंकारी कुकइहि वाणि व० ८७.१, सालंकारी णं वरकइ कह। २८.१२।

४. कइ कव्वरसु व जगु पियइ ताम ८.१२, णं कइकयाइं सरसइं पयाइं। ९३.३ आदि।

महापुराण की भाषा आदर्श साहित्यिक अपभ्रंश है। देशी शब्दों तथा ध्वनि-मूलक शब्दों के प्रयोग यत्र तत्र मिल जाते हैं।[1] काव्यात्मक वर्णनों में भाषा का रूप एक प्रकार का मिलता है तथा सरल वर्णनों में अपेक्षाकृत सरल रूप मिलता है।

महापुराण में छंदों का बड़ा ही आकर्षक प्रयोग हुआ है। कहीं कहीं प्रसंग के अनुकूल छंदों के प्रयोग मिलते हैं। अपूर्व संगीत और लय से युक्त अनेक छंदों का प्रयोग हुआ है। छंद की इकाई कडवक है। प्रत्येक कडवक में छंद के दो चरणों को पूर्ण छंद मान कर प्रयोग हुआ है। संधि के प्रारंभ में सर्वत्र एक ध्रुवक का प्रयोग मिलता है जो दुवई या घत्ता छंद में मिलता है। इस ध्रुवक में संधि की कथा का संक्षेप में संकेत रहता है। अन्त्यनुप्रास का प्रयोग सभी छंदों में मिलता है चाहे मात्रिक छंद हों या वर्ण वृत्त। सबसे लघुछंद पाँच मात्राओं का मिलता है[2] तथा सबसे दीर्घ छंद दंडक है जिसका प्रत्येक चरण ८८ मात्राओं का है।[3] कडवक के प्रधान भाग में चतुष्पदी वर्ग के छंदों के अतिरिक्त द्विपदी वर्ग के छंदों का भी प्रयोग मिलता है। पुष्पदन्त के अधिकांश छंद मात्रिक हैं, और लय तथा संगीत से युक्त हैं। पुष्पदन्त ने एक स्थान पर मात्रिक छंदों के प्रति अपना मोह भी प्रकट किया है।[4]

णायकुमार चरिउ (नागकुमार चरित)——प्रस्तुत कृति नौ सन्धियों में समाप्त हुई है। कृति में श्रुतपंचमी के महत्व को बताते हुए मगध के राजा जयन्धर के पुत्र की कथा है। जयन्धर के पुत्र को नागों ने पाला था इसी से उसका नाम नागकुमार पड़ा। नागकुमार अनेक विवाह करता है और अंत में अपनी पत्नियों सहित श्रुतपंचमी का फल सुनता है और व्रत करता है। अंत में तपस्वी होकर मोक्ष प्राप्त करता है। धार्मिक वातावरण को लिए हुए कृति प्रेमकथा कही जा सकती है। जिसमें नायक के अनेक विवाहों तथा प्रेम के वर्णन हैं। राजा जयंधर और

---

१. कुछ देशी शब्द उद्धृत किए जा सकते हैं झेंदुअ १.१६ कन्दुक, सेरिह महिष २.१८, छुडुछुडु २.१९ इत्यादि तथा ध्वनिमूलक। शब्द, झंझं, झलझलइ ३.२०, गुलगुलंत ७८.१७ इत्यादि।

२. वही, संधि ५६.९ हेमचंद्र ने इसको रेवका द्विपदी नाम दिया है छंदोनुशासन ७.५०।

३. वही, संधि ८९.५.११।

४. वही, कइ कव्वु त कयमत्तापवाणु ७३.२९।

पृथिवी देवी के परिणय की कथा एक संक्षिप्त प्रेम कथा है जिसमें चित्र देखकर राजा की आसक्ति, पृथिवी देवी का नखशिख वर्णन, विवाह, उद्यान में क्रीडा, सपत्नी-ईर्ष्या आदि प्रसंगों के वर्णन हैं। इसी प्रकार नागकुमार का मनोहरी किन्नरी से विवाह, जलक्रीडा (संधि ३.६-८) के प्रसंग प्रेमकथात्मक हैं। अन्य कुछ विवाहों के साथ युद्ध वर्णन भी मिलता है। अतः कृति की आत्मा प्रेम प्रधान काव्यात्मक है किन्तु उसे धार्मिक वातावरण से ढंकने का प्रयास कवि ने किया है।

कृति में संक्षिप्त काव्यात्मक वर्णन मिलते हैं[1], विवाहादि के वर्णन भी बड़े सजीव हैं। नागकुमार को कवि ने अनुपम रूप और शक्ति से संपन्न चित्रित किया है। उसका रूप अनेक रमणियों को आकर्षित करता है और अपनी अजेय शक्ति के कारण वह कभी पराजित भी नहीं होता। छंद, अलंकार, भाषा का प्रयोग महापुराण के समान ही कवि ने किया है किन्तु महापुराण जैसी प्रौढ़ता कृति की शैली में नहीं मिलती।

जसहरचरिउ (यशोधर चरित)—चार सन्धियों की इस छोटी सी कृति में हिंसा के भयंकर परिणाम को दिखाने के लिए यशोधर की कथा कही गई है। गजपुर के राजा मारिदत्त को एक कौलाचार्य की पशु बलि में विश्वास करते हुए चित्रित किया गया है। कौलाचार्य की आज्ञा से राजा मारिदत्त के भृत्य बलि के लिए दो बालक साधुओं—अभयरुचि और अभयमति (नरमिथुन)—को पकड़ लाते हैं। बालक साधु किसी पूर्व जन्म में क्रमशः यशोधर और उसकी माँ थे। माँ ने आटे का कुक्कुट बनाकर[2], पुत्र की मंगल कामना के लिए वध किया था उसीके फलस्वरूप उन्हें अनेक जन्मों में कष्ट सहना पड़ा। हिंसा के इस दुष्परिणाम को सुनकर राजा मारिदत्त और कौलाचार्य हिंसा का त्याग कर देते हैं। और पश्चात्ताप करते हुए जैन धर्म की दीक्षा लेते हैं। प्रकारान्तर से पुष्पदन्त ने हिंसा-मूलक धर्मों की निंदा करते हुए अहिंसाव्रत का महत्व बताया है। स्त्री प्रकृति का कठोर चित्र यशोधर की पत्नी अमृतमति के रूप में प्रस्तुत किया है जो दूसरे पर अनुरक्त होने के कारण पति को विष देकर मार डालती है।

यशोधरचरित में काव्यात्मकता बहुत ही कम है। जहाँ-तहाँ नगरादि के वर्णनों में थोड़ी बहुत सजीवता मिलती है, कौलाचार्य का भयंकर रोमांचकारी

---

१. यथा, मगध देश वर्णन, नागकुमार चरित १.६, राजगृह वर्णन १.७, कनकपुर वर्णन १.१३ इत्यादि।

२. यशोधर चरित ४.१८.१-२।

वर्णन[१], क्षेपक होते हुए भी बहुत महत्वपूर्ण है। सुगत, कौलमार्ग, ब्राह्मण धर्म पर कवि ने कठोर व्यंग्य किया है। छंदों की भी विविधता कृति में नहीं मिलती। अलंकारों की छटा भी कम मिलती है, भाषा महापुराण की अपेक्षा सरल है कदाचित् कृति की इत्तिवृत्तात्मकता के कारण। लोकोक्तियों के प्रयोग कहीं कहीं मिल जाते हैं :

विसभोयणेण किं णर जियंति। गो सिंगइं किं दुद्धइ सवंति १.११।
'क्या विष भोजन से नर जीते हैं। गो सींग से क्या दूध झरता है।'

किं सुक्के रुक्खे सिंचिएण। अविणीयं किं संबोहिएण। १-२०
'शुष्क वृक्ष को सींचने से क्या लाभ। अविनीत को संबोधित करने से क्या (हित)।'

या—**को णेच्छइ घय पयमज्झिसारु। सक्करपएसु वण्णेणचारु। १.२५।**
'दुग्ध में से घृत सार को कौन नहीं चाहता। दूध में शर्कर वर्ण से ही सुन्दर लगती है।'

अभी तक पुष्पदन्त की यही तीन कृतियाँ उपलब्ध हुई हैं। कवि ने अपने संबंध में कुछ उल्लेख करते हुए बताया है कि किस प्रकार दुर्जनों से दुःखी होकर वे मेलपाटी नगर में पहुँचे थे और तुडिग (कृष्णराज) के अमात्य भरत के आग्रह से महापुराण की रचना सिद्धार्थ संवत में की थी।[२] महापुराण के प्रारंभ में उन्होंने अपने को केशव भट्ट तथा मुग्धादेवी का पुत्र बताया है।[३] पहिले वे शैव थे पीछे जैन धर्म में दीक्षित हुए।[४] उनका काश्यप गोत्र था। क्रोधन संवत्सर में उन्होंने महापुराण मान्यखेट नगर में समाप्त किया।[५] वे निस्पृह स्वाभिमानी, नम्र और विरक्त स्वभाव के थे और दुर्जनों का संग त्याग करने वाले थे। अपने रूपादि के संबंध में उन्होंने कहा है कि वे कृष्ण वर्ण तथा कुरूप थे, दुर्गम यात्रा के कारण क्षीणकाय हो गए थे।[६] पुष्पदन्त के उल्लेखों के साक्ष्य के आधार पर

---

१. कौलाचार्य का यह वर्णन (संधि १.६-७) राजशेखर की कर्पूरमंजरी के भैरवा-नंद से बहुत मिलता है।
२. महापुराण संधि १.३।
३. महा० ३८.४, नागकुमार० १.२, जसहर० ४.३१.२।
४. नागकुमार० अंतिम प्रशस्ति पंक्ति १०-१२।
५. महा० १०२.१४।
६. यथा, कसण सरीरें सुट्ठु कुरूवें, महा० ३८.४, तथा १.३.६।

उनका काल राष्ट्रकूट राजा कृष्णराज तृतीय के समकालीन सिद्ध होता है।[1] सिद्धार्थ संवत्सर शक सं० ८८१ था इस समय मैलपाटी नगर में कृष्णराज तृतीय राजा थे। भरत से यहीं पुष्पदन्त की भेंट हुई थी। महापुराण की समाप्ति शक सं० ८८७ (क्रोधन संवत्सर) में हुई। यशोधर चरित की रचना मान्यखेट की लूट के पश्चात् (शक सं० ८९४) हुई।[2] इस प्रकार वे सं० ८८१-८९४ शाके तक मान्यखेट में रहे होंगे। महापुराण की रचना भरत के आश्रय में की और नागकुमार चरित एवं यशोधर चरित की रचना भरत के पुत्र नण्ण के आश्रय में की।[3] महापुराण में पुष्पदन्त ने चतुर्मुख, स्वयंभू, श्रीहर्ष, ईशान, बाण, द्रोण, धवल, रुद्रट आदि अनेक पूर्ववर्ती कवियों का स्मरण किया है।[4] रुद्रट का समय सन् ८००-८५० ई० माना जाता है। अतः पुष्पदन्त का समय इससे पीछे होना चाहिए। उनके पीछे के अपभ्रंश कवियों में से हरिषेण ने धर्म परीक्षा (सं० १०४४ वि०) तथा वीर ने जंबूस्वामी चरित (१०७६ वि० सं०) में पुष्पदन्त का उल्लेख किया है।[5] इस प्रकार पुष्पदन्त का समय कृष्णराज तृतीय के समय में तथा हरिषेण (सं० १०४४ वि०) से पूर्व ठहरता है। पुष्पदन्त के आश्रयदाताओं-भरत और नन्न-के विषय में इतिहास मौन है। पुष्पदन्त नामक किसी कवि का एक शिव महिम्न स्तोत्र भी मिलता है, संभव है अपनी शैवावस्था में उन्होंने उसकी रचना की हो।

---

१. पुष्पदन्त ने तुडिग महानुभाव; महा० १.३, शुभतुंग; महा० १.५, वल्लभनरेन्द्र; यशो० १.१। नाग० १.३.२ तथा कृष्णराज; नाग० १.१ का अपनी कृतियों में उल्लेख किया है। भरत को कृष्णराज का महामात्य कहा है। महा० की टिप्पणी में तुडिग तथा शुभतुंग को कृष्ण राज का पर्यायवाची कहा है। राष्ट्रकूटों की मान्यखेट राजधानी थी। इतिहास में तीन कृष्णराज नामक राजाओं का वर्णन राष्ट्रकूट वंश में मिलता है।

२. दे० महा० संधि ५० का प्रारंभिक भाग।

३. दे० भूमिका ना० कु० च० पृ० १८-१९ तथा नाग० १.४ तथा संधियों की पुष्पिकाओं में कृति को 'णण्ण णामंकिए' कहा है तथा यशो० को 'णण्ण कण्णाहरण' कहा है।

४. महा० १.९, ३८.५, ६९.१ इत्यादि।

५. पुप्फयंतु णविमाणुसु वुच्चइ। जो सरसइए कयावि ण मुच्चइ। धर्म० १.१ तथा जायम्मि पुप्फयंते इत्यादि...प्रेमी अभिनंदन ग्रंथ पृ० ४४३।

वे प्रसिद्ध कवि थे, उनके अनेक विरुद थे और उन्हें अपनी कवित्व शक्ति का उचित अभिमान भी था।[1]

पद्मकीर्ति—बाईसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ के चरित्र को लेकर पद्मकीर्ति ने १८ सन्धियों में पासचरिउ (पार्श्वचरित)[2] की रचना की है। पार्श्व के पूर्व जन्मों की कथा कहकर कवि ने पार्श्वनाथ का पूरा चरित्र चित्रित किया है। कृति के प्रारंभ में कवि ने जिन वंदना की है और दुर्जन, खलों, निंदकों का स्मरण किया है। कथा का केंद्र मगध देश है। जैन संप्रदाय में प्रसिद्ध तीर्थंकर की कथा का ही कवि ने अनुगमन किया है जैसा कि अंत में कवि ने सूचित भी किया है—

अट्ठारहसंधिउ इह पुराणि, तेसट्ठिपसिद्ध महापुराणि।

ऐसा प्रतीत होता है किसी 'महापुराण' को कवि ने अपना आदर्श माना था। कृति में छंद क्रम अन्य अपभ्रंश चरित काव्यों के समान ही है। एक विशेषता यह है कि संधि ११ में दोहा छंद का प्रयोग हुआ है[3]। साहित्यिक भाषा और पौराणिक शैली में लिखी गई प्रस्तुत कृति एक महत्वपूर्ण अपभ्रंश रचना है।

कृति के अंत में कवि ने कृति के विस्तार की सूचना दी है[4] तथा एक प्रशस्ति

---

१. नाग० १.२.१० में कव्वपिसल्ल तथा अन्यत्र अभिमानमेरु, अभिमानचिह्न महा० १.३.९, तथा १.३.१२, १.८.८ आदि। हेमचंद्र ने देशी नाम माला में अभिमानचिह्न नामक एक देशी कोशकार का उल्लेख किया है, संभव है पुष्पदन्त ने उसकी रचना की हो। देशीनाम० १.१४४, ६.९३, ८.१२.१७।

२. कृति की हस्तलिखित दो प्रतियाँ लेखक ने आमेर शास्त्र भंडार, जयपुर में देखी थीं। दे० प्रशस्ति संग्रह पृ० १२७-१२९, जयपुर १९५०, तथा कैटेलाग म० सी० पी० हीरालाल जैन, पृ० ६६८ तथा ७४०, नागरी प्रचारिणी पत्रिका, वर्ष ५०, अंक ३-४, पृ० ११७।

३. दोहों का नाम 'मात्रा' दिया है; एक दोहा देख सकते हैं:
समर समत्थहिं रिउभडहिं, रविकित्तिहिबलुभग्गु।
भिल्लिवि पउरुसु माणु जसु, णयरहो अहिमुहि लग्गु। संधि ११।

४. कवि ने कृति में अट्ठारह संधियों तथा ३१० कडवक होने का उल्लेख किया है किन्तु कृति में ३१६ कडवक हैं—
सयतिण्णि दहोत्तर कडवयहिं - णाणाविह छंद सुहावणाइं।

मिलती है जिसमें कृति का रचनाकाल ९९२ कार्त्तिक अमावस दिया है।[1] कवि ने अपने को जिनसेन का शिष्य बताया है।

सिरि माहवसेणु महाणुभाउ, जिणुसेणुसीसु पुणु त सु जाउ ।
तसु पुव्वसिणेंहि पउमकित्ति उप्पण्णु सीसु जणु आसुचित्ति ।

प्रशस्ति० पृ० १२८ ।

धवल—धवल की विशाल अपभ्रंश कृति 'रिट्ठणेमिचरिउ' (हरिवंश-पुराण) में १२२ संधियाँ हैं जिनका परिमाण १८००० ग्रंथ के लगभग है।[2] कृति की प्रारंभिक प्रस्तावना में रचयिता ने अनेक प्राचीन ग्रंथ-रचयिताओं का उल्लेख किया है।[3] अपनी नम्रता प्रकट करते हुए कवि ने हरिवंश के रचयिताओं की परंपरा का उल्लेख किया है 'वीर जिनेन्द्र ने इसको प्रारंभ में कहा था, फिर क्रमशः गोतम, सुधर्म आदि द्वारा होती हुई जिनसेन तक परंपरा आई। जिनसेन द्वारा प्रकाशित शास्त्र को अंबसेन ऋषि ने धवल को प्रदान किया।[4] इसी प्रसंग में कवि ने कथावस्तु के भी संक्षिप्त संकेत दिए हैं।[5] पुराण के प्रकाशित उद्धरणों

---

१. गथा इस प्रकार है—णवसयणउवाणुइए कत्तिय अमावस दिवसे ।
लिहियं पासपुराणं कइणाइह पउमणामेण ।
कृति की दो हस्तलिखित प्रतियों में से एक १४९४ सं० की है (दे० प्रश० सं० पृ० १२९) अतः कृति निश्चित ही काफ़ी पुरानी है। डा० हीरालाल जैन कृति का रचनाकाल शक सं० ९९९ मानते हैं। ना० प्र० प० वही।

२. कैटलाग अव् संस्कृत एंन्ड प्राकृत मन्यूस्क्रिप्टस् इन द सी० पी० एन्ड बरार पृ० ७१६ तथा ७६२-७६७, तथा भूमिका पृ० ४८-४९ ।

३. कुछ नाम इस प्रकार हैं धीरसेन, (सम्यक्त्वयुक्त सरागउ), देववंदि, (वज्रसुउ) महसेन, (सुलोचना चरितकार) रविषेण (पद्म चरित के रचयिता) हरिवंशकार जिनसेन, वरांगचरितकार जडिल, अनंगचरितकार दिनकरसेन, पार्श्व चरितकार पद्मसेन, अंधसेन, धनदत्त (चंद्रप्रभचरित के रचयिता) ऋषभचरितकार विष्णुसेन, सिंहनंदि (अनुप्रेक्षाकार) सिद्धसेन, रामनंदि (जिनशासन से संबंधित अनेक आख्यानों के रचयिता) वीर चरितकार असगमहाकवि, श्वेताम्बर कवि गोविंद (सनत्कुमारचरितकार), जय धवलाकार श्रावक जिनरक्षित, सालिभद्र, चतुर्मुख, द्रोण, सेढ महाकवि (पउमचरिउकार) ।

४. वही, पृ० ७६५ कडवक ५ ।

५. वही, पृ० ७६६ कडवक ६ ।

के आधार पर कहा जा सकता है कि पद्धडियाघत्ता छंद शैली का ही कृति में अनुसरण किया गया है ।

कवि ने कृति में अपने संबंध में जो सूचनाएं दी हैं उनसे ज्ञात होता है कि उनके पिता माता का नाम क्रमशः सूर और केसुल्ल था तथा उनके गुरु अंबसेन थे। इनके पिता सूरब्राह्मण धर्मानुयायी थे। धवल जैन हो गए थे।[१] प्रत्येक संधि के अंतिम पद्य में कवि ने अपने नाम का उल्लेख किया होगा ऐसा संधि १२२ के अंतिम पद्य से ज्ञात होता है।[२] कवि ने रचना तिथि का या अपने काल का निर्देश नहीं किया है। जिनसेन (७८३ ई०)[३], रविषेण (६३४ वि० सं०)[४] तथा जडिल या जटासिंहनंदि (७वीं शती ई०)[५] के उल्लेखों के आधार पर धवल का समय आठवीं शती के पश्चात् ठहरता है। असग का काल दशवीं शती प्रतीत होता है[६] इस प्रकार धवल का समय दशवीं या ग्यारहवीं शती ई० हो सकता है।

धनवाल—श्रुतपंचमी व्रत के फल के दृष्टांत के रूप में रचित धनवाल की कृति भविसत्तकहा (भविष्यदत्त कथा) सब से प्रथम सुसंपादित जैन अपभ्रंश कृति है।[७] कवि ने प्रारंभ में ही कृति की वस्तु का निर्देश इस प्रकार किया है। 'पाप-कलंक-मल से रहित जिनशासन का सार सम्यक्त्व विशेष श्रुतपंचमी का फल सुनो।'[८] बुधजनों, दुर्जनों का स्मरण करके अत्यंत विनय प्रदर्शित करते हुए कवि ने कथा प्रारंभ की है। श्रेणिक राज के प्रश्न करने पर गौतम गणधर ने श्रुत-

---

१. कटेलॉग सी०पी० पृ० ७६५ कडवक ६ ।
२. वही०, पृ० ७६७ ।
३. प्रेमी० जै० सा० इ० पृ० ४२३ ।
४. वही कैटेलॉग सी० पी० पृ० ७६२ ।
५. वराँगचरित, बंबई १९३८ भूमिका पृष्ठ २२ ।
६. जिनरत्नकोश पृ० ३४२, वर्धमान चरित की रचना असग ने सं० ९१० में की ।
७. कृति के दो सुन्दर संस्करण प्रकाशित हो चुके हैं :
    १. डा० हेर्मान्न याकोबी द्वारा संपादित होकर विद्वत्तापूर्ण भूमिका तथा जर्मन गद्यानुवाद सहित, म्युनशन, १९१८ ई० ।
    २. दलाल और प्रो० गुणे द्वारा संपादित होकर बड़ौदा से प्रकाशित १९२३ ई० ।
८. जिण सासणि सारु, णिधुय पावकलंकमलु ।
सम्मत्तविसेसु निसुणहुं सुयपंचमिहि फलु । १.१.१-२ ।

पंचमी फल की व्याख्या की और उसी प्रसंग में यह कथा कही गई है। धर्म के आवरण से ढंकी यह सुन्दर प्रेमकथा इस प्रकार है : गजपुर के राजसेठ धनपाल और उसकी पत्नी कमलश्री का पुत्र भविष्यदत्त था। पूर्वजन्म के कर्मों के फल-स्वरूप कमलश्री पति उपेक्षिता होकर अपने पुत्र को लेकर पिता के घर चली जाती है। धनपाल सरूपा नामक एक दूसरी रूपवती स्त्री से विवाह कर लेता है, उससे एक पुत्र उत्पन्न होता है जिसका नाम बंधुदत्त रखा जाता है। वयस्क होने पर वह व्यापार के लिए कंचन-द्वीप जाने को प्रस्तुत होता है। अन्य अनेक व्यापारियों को उसके साथ जाता देखकर माता से आज्ञा लेकर भविष्यदत्त भी उसके साथ चलने को प्रस्तुत होता है। बन्धुदत्त की कुटिल माता अपने पुत्र को भविष्यदत्त को समुद्र में फेंक देने की सलाह देती है। और इसके विपरीत कमलश्री अपने पुत्र को सदुपदेश देती है। समुद्रतट पर पहुँच कर वे जलयानों में यात्रा करते हैं। दुष्पवन नौकाओं को मैनाक द्वीप में छोड़ देता है। भविष्यदत्त मैनाक द्वीप के भयावह वन में पुष्प चयन करता हुआ भीतर चला जाता है, इतने में बंधुदत्त साथियों को लेकर आगे बढ़ जाता है। (संधि १-३)।

अकेला भविष्यदत्त दुःखित होकर द्वीप में परिभ्रमण करता हुआ एक निर्जन नगर में पहुँचता है। राजप्रासाद, राजसिंहासन, शस्त्रागार सब सूने मिलते हैं, एक जिन मंदिर में वह पहुँचता है और चंद्रप्रभ जिन की पूजा करता है (४) वह वहीं सो जाता है। इसी बीच यक्षराज मणिभद्र उसकी सहायतार्थ संकल्प करता है। जागृत होने पर वह अव्यक्त आदेशानुसार दूसरे कक्ष में जाकर विजन प्रासाद में एक अपूर्व सुंदरी को देखता है। भविष्यदत्त का वह स्वागत करती है और असुर द्वारा नगरविध्वंस होने का वृत्तान्त कहती है। वह भविष्यदत्त से उस द्वीप को शीघ्र छोड़ कर चलने का प्रस्ताव करती है। कुछ दिन पश्चात् वह नगर विध्वंसक निशाचर प्रकट होता है। पूर्व जन्म की मित्रता के कारण वह नगर का पुनर्निर्माण करके भविष्यदत्त का उस कुमारी से परिणय करा देता है। वर-वधू चंद्रप्रभ जिनकी पूजा करते हैं और बारह वर्ष सुखपूर्वक वे वहाँ व्यतीत करते हैं (५)।

पुत्र की मंगलकामना के लिए इधर कमलश्री श्रुतपंचमी व्रत का अनुष्ठान करती है। माता की याद करके भविष्यदत्त प्रभूत रत्नादि और अपनी पत्नी के साथ तिलक द्वीप से चलने की तैयारी करता है इसी अवसर पर बंधुदत्त और उसके साथी जलपोतों के ध्वंस होने पर अत्यंत दीन दशा में वहाँ आ पहुँचते हैं। भविष्य-दत्त को संपन्नावस्था में देखकर वह लज्जित होता है। भविष्यदत्त उन सबका

सत्कार करता है। सब प्रसन्नमन चलने को प्रस्तुत थे। भविष्यदत्त पूजा के लिए गया था कि उसे छोड़कर बंधुदत्त सबको लेकर चल देता है। मार्ग में वह भविष्यानुरूपा को प्रसन्न करने का प्रयत्न करता है, भयंकर वातचक्र जलपोतों को उड़ा ले जाता है। किसी प्रकार बंधुदत्त और व्यापारी लोग हस्तिनापुर पहुँचते हैं (६-७)। बन्धुदत्त भविष्यानुरूपा को अपनी पत्नी बताता है और उसका विवाह निश्चित हो जाता है। उधर खिन्न भविष्यदत्त को पूर्व जन्म की मैत्री के कारण यक्ष मणिभद्र गजपुर पहुँचा देता है। वह सब कथा माता से कहता है। रहस्योद्घाटन होने पर बंधुदत्त और उसकी माता सरूपा को कारावास दंड मिलता है, भविष्यदत्त अपनी पत्नी, पिता और माता सहित सुख से रहने लगता है, (८-११)।

भविष्यदत्त के अच्छे दिन आते हैं। राजा उसे युवराज बनाने की इच्छा प्रकट करता है और उससे अपनी पुत्री सुमित्रा का विवाह करना चाहता है। इसी समय राजा के पास पोदनपुर नरेश का दूत आता है, वह भविष्यानुरूपा और सुमित्रा के न देने पर युद्ध के लिए तैयार रहने की सूचना देता है। युद्ध होता है और भविष्यदत्त की सहायता से राजा की विजय होती है (१२-१५)। भविष्यदत्त को युवराज घोषित किया जाता है और सुमित्रा के साथ उसका विवाह भी हो जाता है। सुख पूर्वक वह रहने लगता है। वहाँ विमलबुद्धि नामक एक मुनि आते हैं, वे भविष्यदत्त के पूर्वजन्मों की कथा कहते हैं। अपने पुत्र सुप्रभ को राज्य देकर वह विरक्त हो जाता है। उसकी पत्नियाँ, और माता भी तप करती हैं। वह अनशन मरण द्वारा प्राण त्याग कर स्वर्ग प्राप्त करता है। श्रुतपंचमी व्रत के महत्व का स्मरण कराकर कवि ने कृति को समाप्त किया है (१६-२२)।

भविष्यदत्त कथा का कथाप्रसंग काफी लोकप्रिय और प्राचीन प्रतीत होता है। कृति के कथा भाग के तीन स्वतंत्र खंड लगते हैं यद्यपि कवि ने स्पष्ट विभागों का उल्लेख न करते हुए दो खंडों की चर्चा की है।[२] कृति के पूर्वार्द्ध

---

१. याकोबी संस्करण, भूमिका पृ० १४।

२. वही, पृ० ८ तथा गुणे का संस्करण भूमिका पृ० ४ प्रथम भाग भविष्यदत्त के युवराज बनने तक, द्वितीय भाग पोदनपुर के राजा से युद्ध और विजय तक तथा तृतीय भाग में पर्यवसान तक लिया जा सकता है। कवि ने दो खंडों की चर्चा की है।
बिहि खंडहिं बावीसहिं संधिहि। परिचिंतिय नियहेउ निबंधिहि। २२.९।
कथा के लोक प्रचलित होने का कवि न संकेत किया है, यथा, १४.२०.१७।

में दो विवाहों के दुष्परिणाम को दिखाते हुए कवि ने सरूपा और कमलश्री के द्वारा दो स्त्री प्रकारों का चित्रण किया है, एक कुटिल और दूसरी साध्वी। किन्तु कवि ने, उसकी कुटिल प्रकृति होते हुए भी, उसे कोमल भावनाओं से शून्य चित्रित नहीं किया है। एक स्थान पर वह अपनी दुष्टप्रवृत्ति पर पश्चात्ताप करती दीखती है, वात्सल्य से उसका हृदय उमड़ पड़ता है।[1] बंधुदत्त तथा वणिक् वर्ग के लौट आने पर भविष्यदत्त को न देखकर गलदश्रु होकर वह अपने पुत्र से उसके विषय में पूछती है।[2] अपने स्वभाव के अनुसार अंत में उसे निराशा ही मिलती है। कमलश्री का चरित्र शुद्ध हृदय महिला का चरित्र है, पति के उदासीन होने पर उसकी करुण दशा विगलित करने वाली है।[3] कहीं भी उसके चरित्र में दोष नहीं दिखता। बंधुदत्त और भविष्यदत्त भी कुटिल और उदात्त प्रकृति के पुरुषों के दो प्रकार हैं। सम्पूर्ण कृति एक साहसी धार्मिक वणिक् पुत्र की धर्ममिश्रित प्रेम-कथा है। अपने सद्कर्मों के अनुसार भविष्यदत्त राजा होकर अंत में मोक्ष प्राप्त करता है। धार्मिक वातावरण होने से पूर्वजन्म के संबंध के कारण यक्षादि उसकी सहायता करते हैं। कृति के पात्रों को मनुष्य के कोमल हृदय से युक्त कवि ने चित्रित किया है। बंधुदत्त भी अपने कपट व्यवहार पर पश्चात्ताप करता है।[4] कृति की समाप्ति धर्म न्याय के अनुकूल हुई है। धार्मिक प्रकृति के पात्रों का उत्तरोत्तर अभ्युदय दिखाया गया है।

भविष्यदत्त कथा में जहाँ तहाँ अनेक काव्यपूर्ण स्थल मिलते हैं, नगरादि के वर्णन, शृंगारादि रसों के स्थलों पर कवि ने कवित्व शक्ति का पर्याप्त परिचय दिया है किन्तु कथांश की प्रधानता है। महाकाव्योचित वर्णनों की प्रधानता का स्थान यहाँ गौण है, फिर भी अन्य अनेक चरित काव्यों से प्रस्तुत कृति में काव्य की मात्रा अधिक है। कथा के पात्र सभी कल्पित प्रतीत होते हैं। स्थानों के नाम

---

१. भविष्य० ६.९.१० ।

२. वही, ८.१४-१५ ।

३. वही, २.९ ।

४. वही, ६.२०.२१ ।

५. कुरु जांगल प्रदेश का रमणीय वर्णन १.५, धनपाल और कमलश्री के विवाह का वर्णन १.९., व्यापार यात्रा के लिए प्रस्तुत वणिकों के उत्साह का चित्र ३.२०, उत्सुकता का वर्णन १५.१५, संध्या वर्णन ४.४, प्रभात वर्णन ४.५ इत्यादि ।

अवश्य ठीक हैं। मैनाक द्वीप या तिलक द्वीप, संभव है, कोई व्यापारिक केन्द्र रहा हो। तिलकद्वीप की सुन्दरी भविष्यानुरूपा के लाने और पोदनपुर के राजा के उसे माँगने की कथा लोक में प्रचलित रही होगी ऐसा लगता है। संभव है भविष्यदत्त के उत्कर्ष के लिए यह कथा जोड़दी गई हो।

कृति में छंदों की बहुत विविधता नहीं है। मात्रा और वर्णवृत्त दोनों का प्रयोग मिलता है। कडवकों के अंत में घत्ता का प्रयोग कवि ने किया है और कडवकों के प्रधान अंगों में संखनारी (१४.८), भुजंगप्रयात (३.२६, ४.३, ५.१७, १२.३ तथा १५.१ और १५), लक्ष्मीधर (४.१३) चामर (४.७) तथा मंदार (४.१३) वर्णवृत्तों का प्रयोग हुआ है और मात्रा वृत्तों में प्रज्झटिका, अडिल्ला, दुवई, मरहट्टा, सिंहावलोकन, काव्य, प्लवंगम, कलहंस तथा गाथा प्रयुक्त हुए हैं। घत्ता में घत्ता छंद विशेष के अतिरिक्त उल्लाला, अभिसारिका, मन्मथतिलक, कुसुमनिरन्तर, विभ्रमविलसितवदन, किन्नर मियुनविलास, मर्कटी, सिंहावलोकन, तथा अडिल्ला प्रयुक्त हुए हैं। वर्णवृत्तों का प्रयोग कृति के ३५४ कडवकों में से केवल १० में हुआ है। वर्णवृत्तों में यमक का प्रयोग समान रूप से मिलता है। कडवकों में चरणों की संख्या समान नहीं है, दो चरणों की दश से सोलह पंक्तियों के कडवक मिलते हैं, कृति में ३० पंक्तियों तक के कडवक मिलते हैं (१३.३)। प्रत्येक संधि के प्रारंभ में घत्ता की दो पंक्तियाँ ध्रुवक के रूप में मिलती हैं जिनमें संधि की कथा का संक्षेप में संकेत किया गया है, कुछ संधियों में (१३,१४,१५) ध्रुवक के लिए दुवई का प्रयोग हुआ है। इसी प्रकार संधियों में कडवक संख्या निश्चित नहीं है। कृति की भाषा साहित्यिक अपभ्रंश है। हेमचंद्र द्वारा उद्धृत दोहों से वह प्राचीन प्रतीत होती है।[1] देशी शब्दों और लोकोक्तियों[2] का प्रयोग प्रायः मिल जाता है। स्वयंभू और पुष्पदन्त के समान अलंकृत शैली का भविष्यदत्त कथा में प्रयोग नहीं मिलता।

कृतिकार ने प्रत्येक संधि की पुष्पिका में अपना नाम धणवाल दिया है। संधि २२ में कवि ने सूचित किया है कि धर्कट वणिक जाति में माएसर और धनश्री देवी के पुत्र धनपाल ने सरस्वती से उत्पन्न इस चरित की २२ संधि और दो खंडों में रचना की[3]। इस सूचना के अतिरिक्त केवल एक स्थल पर

१. याकोबी भूमिका पृ० ३, २४ और आगे, तथा गुणे पृ० ११ और आगे।

२. यथा, धनखुट्ट, उत्थल्लइ, कोक्कइ, खंचइ, खलभलिय इत्यादि, लोकोक्तियाँ ३.१२.४, २.७.८।

३. वही, २२.९. ७-१०।

कवि ने अपने को सरस्वती का कृपापात्र और कहा है (१.४.५)। उनके, इस उल्लेख के आधार पर, पिता का नाम माएश्वर और माता का नाम धनश्री था। और वे धर्कट वैश्य थे।[1] कवि के काल का कोई निश्चित उल्लेख नहीं मिलता। भाषा के आधार पर याकोबी ने १०वीं शती ईस्वी प्रस्तावित किया है।[2] कृति में कुछ संकेतों से प्रतीत होता है कि धनपाल दिगम्बर जैन थे।[3]

हरिषेण—हरिषेण की अपभ्रंश कृति धम्मपरिक्खा (धर्मपरीक्षा)[4] ब्राह्मण धर्म पर कठोर व्यंग्य कृति है। ब्राह्मण पुराणों और आख्यान काव्यों में वर्णित कथाओं की असंगतियों तथा दुर्बलताओं पर प्रहार करते हुए हरिषेण ने जैन धर्म की श्रेष्ठता का प्रतिपादन किया है। कृति में ११ संधियाँ हैं। प्रतीकों का सहारा लेकर व्यंग्य का स्वरूप इस प्रकार खड़ा किया है—वैजयंती नगरी के राजा का पुत्र मनवेग बड़ा धर्म प्रवण था, उसके मित्र पवनवेग की ब्राह्मण धर्म में बड़ी श्रद्धा थी। मनवेग अपने मित्र को अनेक ब्राह्मण पंडित मंडलियों में ले जाता है और उनके पुराणादि धर्मग्रंथों में वर्णित मिथ्या प्रसंगों[5] पर शास्त्रार्थ करके

---

१. धर्कट जाति वैश्यों की एक प्रधान शाखा रही है। प्रेमी : जैन साहित्य और इतिहास पृ० ४६८।

२. भूमिका पृ० ६, इस मत का डा० गोपाणी ने खंडन किया है। ज्ञान पंचमी कथा (बंबई १९४९) के 'भविष्यदत्त आख्यान' और भविष्यदत्त कथा की तुलना करते हुए वे इस निष्कर्ष पर पहुंचे हैं कि ज्ञान पंचमी के उक्त आख्यान का धनपाल ने अपनी कृति के लिए उपयोग किया अतः वे कवि का कार्यकाल ग्यारहवीं शती का अंतिम भाग और बारहवीं का आरंभ काल मानते हैं (ज्ञानपंचमी कथा, भूमिका पृ० १२-२४) किन्तु उनके तर्क बहुत दृढ़ नहीं हैं।

३. वही, ५.२०.३।

४. जैन विद्या भवन लाहौर से स्व० डा० बनारसीदास जैन द्वारा हस्तलिखित प्रति प्राप्त, तथा आमेर शास्त्र भंडार में कृति की अनेक प्रतियाँ, लेखक को देखने का अवसर मिला। दे० प्रशस्ति संग्रह, पृ० १०८-११० जयपुर १९५०।

५. यथा, संधि २ में मनवेग को देखकर लोग उसे विष्णु, ब्रह्मा, शिव समझते हैं। त्रिदेवों पर व्यंग्य इस प्रकार है :—

जय जय विण्हु विण्हु परमेसर, लोयणिमित्तु णिहय असुरेसर।
अवरहिं भणिय काइं किर जंपहु, विण्हु चउब्भुउ किं ण वियप्पहु।

उन्हें परास्त कर देता है। इससे पवनवेग का विश्वास ब्राह्मण धर्म से हट जाता है और वह जैन धर्म की दीक्षा ले लेता है। जैन धर्म के उपदेश और धर्मविरुद्ध आचरण के दुष्परिणामों का उल्लेख करते हुए कृति समाप्त होती है :

जिस तीव्र शैली का प्रयोग किया है उसका एक उदाहरण से अनुमान किया जा सकता है, मनवेग पंडितों से कहता है कि एक बार उसका धड़ कपित्थ के नीचे खड़ा रह गया था और शिर ने वृक्ष के ऊपर जाकर फल खाए थे। ब्राह्मण मंडली इस पर विश्वास नहीं करती। वह रावण, जरासंघ आदि के उदाहरण देता हुआ पितर श्राद्ध की चर्चा करता है।

इह लोइ विप्प भोयणु करंति. परलोए पियर कहि बिहि धरंति ।
चिर काल मुया दूरंगयावि, णाणाविहि जोणि समुग्गया वि ।
णियडत्थ कवित्थइं खाई मुंडु, तक्खणे वि ण किं महु भरइ रुंडु ।
घत्ता—केत्तिउ बहु जंपहु चित्ति वियप्पहु रावण आइ कहाणउ ।
जत्तारिसु तं जइ तारिसु तो ण अलिउ महु वयणउ । ९.११ ।

और इस प्रकार के सभी तर्कों से वह एक ही निष्कर्ष निकालता है कि पुराण असत्य हैं।

इय अघडमाण लोइयपुराण, सच्चाइव ते वि गणहिं अयाण ।
सयल मिच्छत्त गहेण भुत्तु, ण वियारइ किं पि अजुत्तु जुत्तु । ९.१८ ।

कृति की भाषा और शैली में प्रसादगुण अधिक है। काव्य चमत्कार प्रदर्शन की ओर कवि उन्मुख नहीं दिखता, यत्र-तत्र देशादि के वर्णनों में कुछ प्रयास प्रतीत होता है। प्रज्झटिका, भुजंगप्रयात, छंदों का क्रमशः प्रयोग अधिक हुआ है, इनके अतिरिक्त पादाकुलक, मौक्तिकदाम, मदनावतार, विलासिणी, स्रग्विणी, समानिका, सोमराजी, उपेन्द्रमात्रा, अर्द्धमदनावतार, चंद्रलेखा, रासक, विद्युन्माला, तोटक तथा दोधक छंदों का भी कडवकों के प्रधान भाग में प्रयोग मिलता है। कडव-कान्त में घत्ता का प्रयोग कवि ने किया है। छंदों की व्यवस्था अपभ्रंश के अन्य चरित काव्यों के समान ही है।

अपने समय और स्थान का कवि ने स्पष्ट उल्लेख किया है। प्रारंभ में

भणहि केवि एहु बंभु पहाणउ, भवर अणेहि बंभु चउपयणउ ।
इय रुवेण हवेसइ संकरु, अह तियच्छु सो लोयासंहरु । २.४ ।
इसी तरह अवतारों पर व्यंग्य, ब्रह्मा से जामवंत की उत्पत्ति, कुंति से कर्ण की (संधि ४) तथा शिवलिंग की पूजा संधि (५ पर) व्यंग्य हैं ।

कवि ने बताया कि किसी जयराम की गाथाबद्ध धर्मपरीक्षा के आधार पर कवि ने अपनी कृति की रचना की थी।[1] जयराम की कृति के संबंध में अभी तक कुछ ज्ञात नहीं है। अभी तक प्राप्त 'धर्मपरीक्षाओं' में प्रस्तुत कृति ही प्राचीनतम है।[2] वि० सं० १०४० में कृति की रचना कवि ने की थी।[3] अपने संबंध में कवि ने और भी बताया है कि मेवाड़ देश में स्थित उजपुर के धर्कट (वैश्य) कुल में उद्भूत गोवर्द्धन और गुणवती के वे पुत्र थे, चित्तौड़ में वे रहते थे, कार्यवश वे अचलपुर गए और वहीं प्रस्तुत कृति की रचना की। चतुर्मुख, स्वयंभू, पुष्पदन्त का कवि ने बड़ी श्रद्धा के साथ स्मरण किया है। अपने गुरु का नाम सिद्धसेन बताया है।[4]

वीरकवि—वीरकवि की अपभ्रंश कृति 'जम्बूस्वामी चरित'[5] में जैन संप्रदाय के अंतिम केवली जंबूस्वामी का चरित ग्यारह सन्धियों में कहा गया है। प्रस्तुत चरित में प्रारंभिक भूमिका, जंबूस्वामी के पूर्व भवों का वर्णन तथा उनके विवाह, युद्धों के वर्णन और अंत में उनकी संगति से विद्युच्चर जैसे चोर का भी विरक्त होकर सद्गति प्राप्त करने का वर्णन है। जंबूस्वामी अंत में तपस्या करते हुए निर्वाण प्राप्त करते हैं। अपनी कृति को कवि ने प्रत्येक संधि की पुष्पिका में 'श्रंगार वीर महाकाव्य' कहा है। शृंगार के अनेक स्थल कृति में आए हैं, जंबूस्वामी के अनेक विवाह होते हैं। अतीव सुंदर रमणियों को वे वरण करते हैं, उनकी माता बहुत प्रयत्न करती है कि जंबू का मन संसार में रम सके। इस प्रकार के प्रसंगों के अनुकूल युवतियों के रूप सौंदर्य (आलम्बन ४.११)

---

१. जा जयरामे आसि विरइय गाथ पबंधे।
साहमि धम्म परिक्ख मा पद्धडिया बंधें। १.१।

२. अमित गति की धर्मपरीक्षा इससे २७ वर्ष पीछे की रचना है, और भी कुछे इस प्रकार की कृतियाँ मिलती हैं : ए० भं० रि० इं० भाग २३, डा० उपाध्ये का लेख पृ० ५९२-६०८।

३. विक्कम णिव परिवत्तिय कालए। गयए वरिस सहस चउतालए। ११.२७।

४. दे० प्रशस्ति सं० पृ० १०९।

५. हस्तलिखित प्रतिलिपि के लिए पं० परमानंद जैन शास्त्री सरसावा तथा प्रबन्धक आमेर भंडार का लेखक कृतज्ञ है, प्रेमी अभिनंदन ग्रंथ टीकमगढ़ (१९४६ ई०) पृ० ४३९ और आगे पं० परमानन्द का लेख तथा अनेकान्त वर्ष ९ किरण १० पृ० ३९४ और आगे इसी कृति पर लेख।

वसंत ऋतु, उद्यान (उद्दीपन) जलक्रीड़ादि (४.२०) के वर्णन प्रस्तुत किए हैं। जंबूस्वामी को वैराग्य से विरक्त करने के लिए उनकी माता तथा पत्नियाँ और विद्युच्चर अनेक उपदेश देते हैं किन्तु वे आसक्ति से दूर रहते हैं। श्रृंगार के सब साधनों के होते हुए भी कदाचित् वे उनसे विरक्त रहे इसीलिए कृति को 'श्रृंगार वीर काव्य' कवि ने कहा है। विवाहों के अवसर पर जहाँ तहाँ युद्धों के वर्णन भी हैं किन्तु वीर रस की नैसर्गिकता ऐसे स्थलों में नहीं है। श्रृंगार और वीर रस के ये स्थल कृति में प्रधानस्थान नहीं रखते प्रतीत होते। धार्मिक तत्व की प्रधानता है। प्रारम्भ की तीन संधियाँ और अंत की दो संधियाँ प्रधान रूप से धार्मिक वातावरण (कथानक) से संबंध रखती है। वैराग्य और धर्म प्रमुख हैं। यों कई वर्णनों में काव्य की झलक मिलती है।

कृति में प्रज्झटिका, घत्ता, दोहा, दंडक, भुजंगप्रयात, खंडिता, गाथा, माला-गाथा, स्रग्विणी, रत्नमालिका, दुवई छंदों के प्रयोग हुए हैं। गाथाओं की भाषा प्राकृत है।

कवि ने कृति में रचनाकाल तथा कुछ और सूचनाएं इस प्रकार दी हैं, कृति की रचना कवि ने सं० १०७६ वि० में की थी, अनेक राजकार्य, धर्म, कामगोष्ठियों में समय विभक्त करते हुए कृति की रचना में कवि को एक वर्ष लगा था। कवि वैश्यों के लासवागड गोत्र में उत्पन्न हुआ था। पिता का नाम देवदत्त था और माता का नाम सन्तुव। देवदत्त स्वयं कवि थे। वराँग चरित तथा अम्बादेवी रास अन्य दो रचनाएँ कवि ने की थी जो अभी तक प्राप्त नहीं हो सकी है। गुडखेड़ का कवि निवासी था। प्रस्तुत कृति की रचना कवि ने मालवा में की थी। पूर्ववर्ती लेखकों में वीर ने शान्ति, बादीन्द्र, विभु, विष्णु, जयकवि, स्वयंभू, पुष्प-दन्त और देवदत्त का उल्लेख किया है।[1]

नयनंदि—सुदंसण चरिउ (सुदर्शन चरित)[2] में नयनंदि ने पंच

---

१. प्रेमी अभिनंदन ग्रंथ में पं० परमानंद जैन का लेख तथा प्रशस्ति संग्रह पृ० १०० पर उद्धृत कृति का अंश।

२. कृति की हस्तलिखित प्रति के लिए लेखक जयपुर के स्व० सेठ श्री रामचन्द्र जी खिन्दूका का आभारी है। हस्तलिखित प्रति सं० १५०४ वि० की लिखित थी। एक सं० १६०५ की प्रति की प्रतिलिपि डा० रामजी उपाध्याय, सागर विश्वविद्यालय से प्राप्त हुई थी। कृति की और भी अनेक प्रतियाँ आमेर शास्त्र भंडार, जयपुर में हैं। दे० आमेर शास्त्र भंडार ग्रन्थ सूची, पृ० १४५-१४६।

नमस्कार[1] फल के दृष्टांत रूप में सुदर्शन की कथा प्रस्तुत की है। कथा वस्तु की कृति के प्रारंभ में ही एक पद्य में संक्षिप्त सूचना इस प्रकार दी है—

इय पंच नमोकारइ लहिवि, गोविउ हुवउ सुदंसणु ।
गउ मोखही अक्खमि तहु चरिउ, वरचउवग्ग पयासणु । १.१

राजा श्रेणिक के जिज्ञासा करने पर गौतम गणधर ने कथा कही है। कृति में १२ संधियाँ हैं। संक्षेप में कथा इस प्रकार है—चंपा नगरी के एक गोपाल ने पंचाक्षरों का स्मरण करते हुए गंगा में डूबकर प्राण विसर्जन किया। पंचनमस्कार के स्मरण के प्रताप से उसका जन्म नगर के राजश्रेष्ठि के पुत्र के रूप में हुआ। वयः प्राप्त करने पर वह गृहस्थ का जीवन व्यतीत करता है। वह बड़ा रूपवान था। उस पर रानी अभया तथा कपिला नामक एक स्त्री अनुरक्त होती है। अभया उसे बुलवाती है, और किसी प्रकार उसे विचलित न होते देखकर अपने नखों से अपने उर को विदीर्ण करके सहायता के लिए चिल्ला उठती है। सुदर्शन को राजा के पुरुष पकड़ लेते हैं। किन्तु अन्त में सत्य घटना का पता लगता है। राजा सुदर्शन को आधा राज्य देना चाहता है किन्तु सुदर्शन तपस्वी का जीवन व्यतीत करता है और अंत में स्वर्ग प्राप्त करता है।

कृति की कथा खूब कसी हुई नहीं है, बीच की चार सन्धियों (६-९) में सुदर्शन और कुटिल रानी अभया का प्रसंग केवल सुदर्शन की चरित्र दृढ़ता को व्यंजित करता है। कथा के विकास में उसकी कोई आवश्यकता नहीं है। अभया के प्रसंग में कवि ने अनेक नायिकाओं के भेदों का सविस्तर वर्णन किया है (संधि ४) जो अनुपातहीन प्रतीत होता है। कवि ने प्रबन्धात्मकता पर विशेष ध्यान नहीं दिया है।

जैनकवि होने के कारण कृति की समाप्ति शांत-वैराग्य-पर्यवसायी की गई है अन्यथा प्रधानता श्रृंगार (रसाभास सहित) की है। श्रृंगार रस का विकास कवि ने तन्मयता से दिखाया है। नायक सुदर्शन को अपूर्व रूपवान चित्रित किया है, नायक और नायिका के नखशिख वर्णन, विवाह वर्णन तथा संभोग श्रृंगार का उद्दाम वर्णन सभी श्रृंगार चित्रण की ओर कवि की रुचि प्रकट करते हैं।

---

१. जैन सम्प्रदाय में अर्हत्, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु के नमस्कार को 'पंच नमस्कार' कहा जाता है और पंच नमस्कार का बड़ा भारी महत्व है।

स्त्री प्रकृति के चित्रण में कवि ने पर्याप्त कुशलता दिखाई है। वर्णनों में भी यत्र तत्र कवि ने नाद विधान से अपूर्व सौंदर्य लाने का प्रयास किया है। वसंत वर्णन के समय के उल्लास को व्यंजित करने वाली कुछ पंक्तियाँ इस प्रकार हैं :

घुमुघुमिय मंदलइं कणंकणिय कोसाइं, डुमुडुमिय गंभीर दुंदुहि विसेसाइं।
दुंदुमउंदाइं ढंढंत तिउलाइं, अणवरय सलसलिय कंसाल जुयलाइं।
रणझणियतालाइं झंझाँसडुक्काइं, डमडममिय डमरुयइ डं डं तडक्काइ।
थर थरिरि थरि थरिरि करहोड सद्दाइं, झि झि झि झि झित झिक्किर सुहद्दाइं। ७.६।

वर्णनों के प्रसंगों में कवि ने अलंकारों के प्रयोग भी किए हैं, अपभ्रंश कवि नवीन अप्रस्तुत व्यापारों की योजना प्रायः करते हैं, प्रस्तुत कृति में भी ऐसे अप्रस्तुतों का प्रयोग मिल जाता है जिन्हें 'देशी' कह सकते हैं। जैसे—

काहिवि रमणइ पिय दिट्ठिपत्त, ण चलइ णं कद्दमे ढोरि खुत्त। ७.१७।

'किसी (नायिका) की दृष्टि प्रिय पर पड़ी और वहाँ से हटती नहीं मानो कीचड़ में गड़ा हुआ पशु हो।'

इसी प्रकार स्थल स्थल पर सुभाषित और लोकोक्तियों के प्रयोग भी कृति में मिलते हैं। यथा—

जं जसु रुच्चइं तं तस भल्लउ। ७.५।
एकें हत्थें ताल कि वज्जइ। ७८.३।
परउवयएसु दिंतु बहु जाणउ। ८.८।

प्रस्तुत कृति में छंदों की विविधता उल्लेखनीय विशेषता है। प्रायः कवि ने प्रयुक्त छंदों के नाम भी दिए हैं, वर्णवृत्तों का प्रयोग भी किया है, मात्रिक छंदों की प्रधानता है,[1] छंदों का क्रम कडवक के अनुसार है। कम से कम १० कडवक की संधियाँ (५,१०,१२) कृति की हैं, अधिक से अधिक ४४ कडवक (संधि८)

---

१. कवि ने निम्न छंदों के नाम दिए हैं : पद्धडिया, भुजंगप्रयात, प्रमाणिका, पादाकुलक, तोणाम, रसारिणी, पद्धडिया विषमपद, विद्युल्लेखा, तोटणक, मंदाक्रान्ता, शार्दूलविक्रीडित, रमणी, मालिनी, मत्तमातंग, दोधक, कामवाण, समाणिका, दुवई मदनविलास, मोटनक, मदन, मदनावतार, आनंद, उपेन्द्रवज्रा, उपजाति, मंजरी, खंडिता, त्रिभंगिका, चप्पइ छंद, मौक्तिकदाम, दुवई चंद्रलेखा, वसंत चवई, आरणाल, तोमर, पुष्पमाल, हेला दुवई, मंदयारति, अमरपुर सुन्दरी, चंद्रलेखा, रतनमाल पद्धडिका, विषम-

मिलते हैं। नायिका भेद उपस्थित करने का प्रयास तथा छंदों की विविधता के प्रदर्शन से ऐसा अनुमान किया जा सकता है कि कवि के समय में काव्य रचना में इनका प्रदर्शन किया जाता था। सुदर्शनचरित में भी इस प्रकार काव्यात्मक अनेक स्थल मिलते हैं।

कवि की **सकल विधिविधान काव्य**[1] नामक एक दूसरी रचना प्राप्त हुई है जिसमें ६८ संधियाँ हैं।

कवि ने अपना परिचय देते हुए कहा है कि सुप्रसिद्ध अवन्ती देशस्थित धारा नगरी में वि० सं० ११०० में कृति की रचना की :

आराम-गाम पुरवरणि तेसे, सुपसिद्ध अवंती णाम देसे।
सुरवइपुरिव्व विवुहयणइट्ठ, तहि अत्थि धार णयरी गरिट्ठ।

.. .. ..

तिहुयण णारायण सिरिणिधोउ, तहि णरवइ पुंगमु भोयदेउ।
णिवविक्कम कालहो ववगएसु, एयारह संवच्छर सएसु।
तहि केवलि चरिउ अमच्छरेण, णयणंदिविरइवच्छलेण। १२.१०

अपनी गुरु परंपरा का उल्लेख करते हुए नयनंदि ने बताया है कि वे कुंदकुंदाचार्य की परंपरा में मुनि माणिक्यनंद के त्रैविध्यशिष्य थे। प्रत्येक संधि के अंत में कवि ने अपने गुरु का उल्लेख किया है। उनकी कृति से उनका काव्य ज्ञान भली भाँति प्रकट होता है। वे धार्मिक प्रवृत्ति के थे। जिन गुणवर्णन ही कविता का वे प्रयोजन समझते थे।

सुकयत्तहु फलु जिनगुण वण्णणु। १.१०।

काव्य रचना के संबंध में बार-बार कवि ने अपने नम्र स्वभाव का परिचय दिया है।

कनकामर——मुनि कनकामर का अपभ्रंश चरित-काव्य **'करकंडु चरिउ'**[2] भी पद्धडिया शैली में रचित ग्रंथ है। करकंडु जैनों के दोनों प्रमुख संप्रदायों में मान्य हैं। बौद्ध धर्म के चार प्रत्येक बुद्धों में से वे एक हैं। करकंडु के चरित्र

पद पादाकुलक, संवत्थ, मागहपकुडिका, उर्वशी, कामलेखा पद्धडिका, साल-भंजिका, विलासिणी, दिनमणि, वसंत चवर, दोहा, सारीय, तुण्णिका, चंडपाल, भ्रमरपद, आवली, रयडा, पृथ्वी, णिसेणी, विलासिणी, पंचचामर, सोमराजी, रचिता, लताकुसुम और मणिशेखर।

१. दे० प्रशस्ति संग्रह जयपुर १९५० पृ० १८१।

२. प्रो० हीरालाल जैन द्वारा संपादित कारंजा से प्रकाशित १९३४ ई०।

को आधार बनाकर प्रस्तुत कृति में पंचकल्याण विधि का महत्व वर्णन किया गया है। कृति दश सन्धियों में समाप्त हुई है।

करकंडु चंपा के राजा का पुत्र था। उसके हाथों में कंडु होने के कारण उसका नाम करकंडु रखा था। विषम परिस्थितियों में उसका जन्म होता है और वह दन्तिपुर का राजा बन जाता है। उसके सौंदर्य पर रमणियाँ मुग्ध होने लगतीं थीं। सौराष्ट्र की राजकुमारी के चित्र को देखकर वह उसके रूप की ओर आकर्षित होता है। दोनों का विवाह हो जाता है। कालान्तर में करकंडु अपने पिता का राज्य भी प्राप्त करता है। करकंडु दक्षिण के राजाओं पर आधिपत्य स्थापित करता है और तेरापुर में जिन लयनों का निर्माण कराता है। उसकी रानी मदनावती को पूर्व जन्म की शत्रुता के कारण विद्याधर हर ले जाते हैं। करकंडु सिंहल जाता है और वहाँ की राजकुमारी रतिवेगा से विवाह करता है। जिस समय नव वधू के साथ करकंडु समुद्र मार्ग से लौट रहा था, एक दुष्ट विशाल मत्स्य उन्हें अलग-अलग कर देता है। एक विद्याधरी उन्हें बचाती है। उधर रतिवेगा को पद्मावती देवी प्रकट होकर इसी प्रकार की अरिदमन की प्रेम-कथा कह कर पति से मिलने का आश्वासन देती है। कुछ काल व्यतीत होने पर वे परस्पर आ मिलते हैं और आते हुए मार्ग में अपहृत मदनावती भी मिल जाती है (संधि १—८)। अंतिम दो सन्धियों में धार्मिक प्रसंग है। मुनि शीलगुप्त राजा को उसके पूर्वजन्मों की कथा सुनाते हैं तथा धर्मोपदेश देते हैं। राजा अपने पुत्र को राज्य देकर मायामोह-पाश को तोड़कर घोर तप करता हुआ मोक्ष प्राप्त करता है।

प्रधान चरित की कथा के अतिरिक्त कृति में प्रसंगानुकूल नौ अवान्तर कथाएं हैं[1]। करकंडु-चरित की मुख्य कथा कवि ने बड़े उतार-चढ़ाव से कही है। कई बार करकंडु का सब कुछ नष्ट होता हुआ दिखता है[2]; किन्तु अलौकिक

---

१. त्रिशक्ति को प्रदर्शित करने की कथा २.१०.१२, अज्ञान के कारण विपत्ति आने का दृष्टांत २.१३, नीच संगति के स्पष्टीकरण के लिए सेठ का दृष्टांत २.१४.१५, सुसंग का दृष्टान्त २.१५.१८, नरवाहनदत्त की कथा संधि ६, माधव और मधुसूदन की कथा ६.४.७, शुभशकुन के सम्बन्ध में दृष्टान्त ७.१.४, अरिदमन की कथा उपवास के परिणाम का दृष्टान्त १०.१८.२२.

२. उसका जन्म अनिश्चित परिस्थितियों में होता है, पिता से युद्ध होता है (संधि ३), सिंहल से लौटते समय (७.१०)।

व्यक्ति आकर उसकी सहायता करते हैं। प्रेम के प्रसंग स्वाभाविक हैं; जैसे, करकंडु के पिता राजा धाडीवाहन का पद्मावती को देखकर मुग्ध होना (संधि १); मालिन कुसुमदत्ता की पद्मावती के प्रति ईर्ष्या (१.१६), करकंडु पर सुंदरियों का क्षुब्ध होना (३.२), सौराष्ट्र कुमारी के चित्र को देखकर करकंडु के प्रेम का प्रारम्भ और विकास (३.४-७) तथा करकंडु और सिंहल की कुमारी का परिणय (७.७) प्रसंग अत्यन्त स्वाभाविक हैं।

कनकामर की कृति में रति, उत्साह, शम के प्रसंगों के सरस वर्णन मिलते हैं[1]। कृति का नायक पौराणिक पात्र है किन्तु तेरापुर के लयनों के निर्माण से उसका सम्बन्ध दिखाकर इतिहास और पुराण का विचित्र मेल कवि ने करा दिया है।

कृति में प्रधान छंद प्रज्झटिका और धत्ता हैं। समस्त कृति के २०१ कडवकों में से २३ कडवकों में भिन्न छंदों का प्रयोग किया है। समानिका (१० कडवक), दीपक (५ कडवक), सोमराजी (२ कडवक), स्रग्विणी (१ कडवक), चित्रपदा (१ कडवक) प्रमाणिका (१ कडवक), तथा अन्य दो कडवक[2]। अलंकारों का प्रयोग चमत्कार प्रदर्शन के लिए इस कवि की कृति में नहीं मिलता। सरल इतिवृत्तात्मक शैली करकंडु चरित की विशेषता है।

आत्म परिचय देते हुए कनकामर ने बताया है कि वे ब्राह्मणों के चन्द्रऋषि गोत्र में उत्पन्न हुए थे। और पीछे दिगंबर जैन संप्रदाय में दीक्षित होने पर उनका नाम कनकामर हुआ[3]। बुध मंगलदेव इनके गुरु थे। आसाइय नगरी में कृति की रचना की थी। अपने भक्त श्रावक, जो विजवाल भूपाल और कर्ण नरेशों के प्रिय व्यक्ति थे, के आग्रह और अनुराग के कारण इस कृति की रचना की[4]। रचना तिथि का उल्लेख कवि ने नहीं किया। कवि ने एक स्थल पर सिद्धसेन, समंतभद्र, अकलंक-देव, जयदेव, स्वयंभू तथा पुष्पदन्त का स्मरण किया है[5]। जयदेव नाम के कई कवि हुए हैं[6] पुष्पदन्त ने ९६५ ई० में महापुराण की रचना की, इसे कनकामर के काल की पूर्वी सीमा माना जा सकता है। कृति की सबसे प्राचीन हस्तलिखित प्रति सं० १५५८ वि० की है, इसे उत्तरी सीमा मान सकते

---

१. यथा वियुक्ता रतिवेगा का प्रलाप ७.११, युद्ध वर्णन ८. १८, तथा शम भाव की व्यंजना ९.४।

२. विशेष विवरण करकंडु चरिउ की भूमिका पृ० ४९।

३. ४, ५, ६ देखो वही, भूमिका पृ०४३-४१।

हैं। कवि की प्रशस्ति में उल्लिखित राजाओं के सम्बन्ध में इतिहास मौन है। प्रो० हीरालाल जैन ने कवि का, इन तर्कों के आधार पर, समय १०४३-१०६८ ई० के बीच अनुमित किया है जो और किसी अनुकूल या विरोधी प्रमाण के अभाव में उपयुक्त ही है।

धाहिल—चार सन्धियों में समाप्त सुन्दर धार्मिक प्रेम कथा **पउमसिरी-चरिउ** (पद्म श्री चरित) धाहिल कवि की एक मात्र कृति प्राप्त हुई है। कृति में पद्मश्री के पूर्वजन्मों की कथा है। एक जन्म में वह मध्य देश के वसंतपुर नगर के सेठ धनसेन की पुत्री धनश्री थी। धनदत्त और धनावह उसके भाई थे। वह विधवा हो जाती है, और भाइयों के पास रहकर धर्ममय जीवन व्यतीत करती है। उसके बड़े भाई की स्त्री यशोमति उसकी दानशीलता पर व्यंग्य करती है। धनश्री उन दोनों में भेद उत्पन्न कर देती है परिणाम स्वरूप यशोमति विकल हो जाती है तब धनश्री फिर युक्तिपूर्वक भ्रम दूर कर देती है। तप करती हुई धनश्री देह त्याग करके देवलोक को जाती है। दूसरे जन्म में धनदत्त तथा धनावह का जन्म अयोध्या में होता है और समुद्रदत्त तथा वृषभदत्त नाम रखा जाता है। धनश्री का जन्म हस्तिनापुर में होता है और पद्म श्री नाम रखा जाता है। अवस्था प्राप्त होने पर धनश्री उद्यान में जाती है जहाँ समुद्रदत्त भी आया था। दोनों पर-स्पर एक दूसरे पर अनुरक्त हो जाते हैं और अन्त में उनका परिणय हो जाता है। उनके प्रगाढ़ स्नेह में पद्मश्री के पूर्वजन्म के कर्मानुसार एक केलिप्रिय पिशाच भेद उत्पन्न कर देता है। फलस्वरूप समुद्रदत्त पद्मश्री की ओर से उदासीन हो जाता है और कान्तिमती से विवाह कर लेता है जो पूर्वजन्म में यशोमति थी। पद्मश्री पंचव्रत धारण कर कर आर्यका होकर भ्रमण करती हुई साकेत नगरी पहुँचती है। पूर्व जन्म के कर्मानुसार कान्तिमती द्वारा वह अपमानित की जाती है। किन्तु पद्मश्री दृढ़ रहती है और अंत में मोक्ष पद प्राप्त करती है।

कवि ने चरित्रों को धर्म पथ की ओर मोड़कर तथा पूर्वजन्म के सम्बन्ध दिखा-कर पात्रों के कार्यों को धर्म का आवरण पहना दिया है। इस धार्मिक आवरण को हटाकर यदि देखें तो कृति में वर्णित पद्मश्री के सौन्दर्य वर्णन, अपूर्व-श्री उद्यान में समुद्रदत्त को देखकर उस पर अनुरक्त होना और विरह का अनुभव करना, फिर परिणय और संभोग वर्णन और अन्त में पति की उदासीनता के कारण पश्चा-

---

१. **श्री मोदी तथा भायाणी द्वारा संपादित, भारतीय विद्या भवन, बम्बई, १९४८ ई०।**

ताप सभी प्रेमकथा के सुन्दर अंग हैं।[1] सूर्यास्त, चंद्रोदय के वर्णन बड़ी ही कुशलता से कवि ने संभोग शृंगार की पीठिका के रूप में प्रस्तुत किए हैं।[2] श्लेषादि अलंकारों के प्रयोग कवि ने प्रयत्न पूर्वक सौंदर्य वृद्धि के लिए किए हैं।[3] सुभाषितों, लोकोक्तियों तथा नवीन अप्रस्तुतों के प्रयोग भी कवि ने किए हैं।[4] छंदों में से कडवक के मुख्य भाग में पद्धडिया प्रधान है कडवकान्त में धत्ता का प्रयोग हुआ है। कहीं कहीं एक ही कडवक में दो प्रकार के छंदों का प्रयोग किया है।[5] मात्रिक छंदों का ही प्रयोग कृति में हुआ है।

धाहिल ने सूचित किया है कि वे माघ कवि के वंश में उत्पन्न हुए थे। उनके पिता का नाम पार्श्व था तथा पितामह का नाम तात (?) था।[6] पार्श्व के संबंध

१. कृति की संधि २ तथा ३ काव्य के सुन्दर उदाहरण हैं कडवक ३ में पद्म श्री का नखशिख वर्णन, कडवक ४-५ में उद्यान तथा वसंत वर्णन, कडवक ६-९ में पद्मश्री—समुद्रदत्त दर्शन तथा प्रेम का उदय और आगे विरह-विवाह-वर्णन आदि बहुत ही आकर्षक काव्यात्मक स्थल हैं।
२. सूर्यास्त तथा चंद्रोदय वर्णन संधि ३ कड० १, सूर्योदय ३. २.।
३. दे० ३. २. ५ तथा ४. १६. २-३।
४. यथा, कुछ सरल उक्तियाँ देख सकते हैं, जो आणा खंडणु करइ अज्जु, वप्पेण इ किंचि विनाहि कज्जु, १. ५. १०।
'जो आज्ञा खंडन करे, उसके पिता (बाप) से भी कुछ काम नहीं है' अथवा 'चंद्र के उदय होने पर तारिकाओं से क्या काम' २. १०. १६, अलि वंचेवि केयइ वउले लग्गु। जं जस मणिट्ठ तं तासु लग्गु। २. ५. ८ 'भ्रमर केतकी को छोड़कर वकुल (मौलश्री) में रत हैं, जो जिसको प्रिय है वह उसमें अनुरक्त है'।
'मित्र वियोग से किसे दुःख नहीं होता' ३. १. ३, दो एक स्थलों पर नवीन कल्पनाएँ भी मिलती हैं।
५. दुःख से वह त्रस्त हो गई मानो उसके माथे में किसी ने मुद्गर मारा हो १. १३. २।
'दुष्ट चरित्र स्त्री को फूटे बर्तन के समान घर में रखकर क्या करें' १.१४.१२।
'वैद्य द्वारा निर्दिष्ट अत्यन्त मीठी औषधि किसे प्रिय नहीं होती' १.७.१ङ.
'शाखा च्युत बानरी के समान वह अपनी सुध भूल गई' २. ११. ६।
संधि २. २०, तथा ३. ५ में कडवकों में दो प्रकार के छंदों का प्रयोग हुआ है।
६. पउम० ४. १६.

में निश्चयात्मक रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। शिशुपाल वध के रचयिता कवि माघ श्रीमाल वंश के वैश्य थे अतः धाहिल भी वैश्य थे। पद्मश्री चरित की हस्तलिखित प्रति सं० ११९१ वि० की लिखित मिलती है[1] अतः उसके पहिले धाहिल का समय निश्चित है। संधियों के अन्त में उन्होंने 'दिव्य दृष्टि' अपना नाम रखा है। कृति का अलंकृत वातावरण तथा सुन्दर काव्यात्मक वर्णन माघ के वंशज कवि के उपयुक्त प्रसंग हैं। कृति में जीवन की सरसता और धार्मिकता का सुन्दर अनुपात मिलता है।[2]

श्रीचन्द—दो महत्वपूर्ण अपभ्रंश रचनाएँ श्रीचन्द की प्राप्त हुई हैं। तिरेपन सन्धियों में समाप्त कथाकोष और इक्कीस संधियों की कृति रत्नकरंड शास्त्र।[3] कथाकोश में उपदेश प्रधान कथाएँ हैं। मनुष्य, देव, पशु पक्षी, सभी क्षेत्रों के जीवों को पात्र बनाकर कथाओं की सृष्टि हुई है।[4] कथाकोश में लय तथा अन्त्यानुप्रास से युक्त अपभ्रंश के अनेक छंदों का प्रयोग हुआ है।[5] कथाओं के लिए रचयिता ने अन्य आधारों का भी सहारा लिया है जैसा कि प्रशस्ति में कवि ने संकेत किया है।[6] कथाकोश तथा रत्नकरंडशास्त्र के अंत में कवि ने प्रशस्तियाँ दी हैं[7] जिनमें रचना तिथि आदि बातों की सूचना दी है। रत्न० के प्रारंभ में अन्य कवियों के साथ चतुर्मुख, स्वयंभू, पुष्पदन्त, कालिदास, श्रीहर्ष आदि के उल्लेख किये हैं।[8] कथाकोश की[9]

---

१. वही, भूमिका, पृ० २।

२. हिन्दी में जायसी आदि की प्रेमकथाओं की ऐसी कृतियाँ पूर्वरूप कही जा सकती हैं।

३. कैटलाग मन्यु० सी० पी० पृ० ६३० तथा ७२५-७२७।

४. कामता प्रसाद जैन : हिन्दी जैन साहित्य का संक्षिप्त इतिहास पृ० ५३, काशी तथा प्रशस्ति संग्रह, पृ० १५४-१६७।

५. का० प्र० जैन : वही, पृ० ५३।

६. जैन, वही, पृ० ५० वंसत्थ, सम्मानिका, दोहडउ तथा कैं० सी० पी० और प्रशस्ति संग्रह में उद्धृत पद्यों में घत्ता, चतुष्पदी, षट्पदी पद्धडिया, अलिल्लह छंद का प्रयोग मिलता है।

७. कै० सी० पी० पृ० ७२७, पद्य २९।

८. कै० सी० पी० पृ० ७२६ संस्कृत प्रशस्ति तथा प्रशस्ति संग्रह में लम्बी अपभ्रंश प्रशस्ति पृ० १६५–१६६।

९. प्रश० सं० पृ० १५६।

रचना कवि ने अन्हिलवाडा के चालुक्यराज मूलराज के समय में की थी। तथा उन्होंने कहा है कि उनके गुरु श्रुतकीर्ति ने गांगेय, भोज आदि राजाओं से सम्मान प्राप्त किया।[1] रत्नकरंड० के अन्त में कवि ने उसका रचना काल ११२३ वि० सं० दिया है तथा श्रीपालपुर में कर्ण नरेन्द्र के राज्यकाल में रचना की थी।

ग्यारह तेवीसा वासमया। विक्कम्मस्स णरवइणो।
जइयागयाहु तइया समणियं सुंदरं एयं।
कण्ण णरिंदहो रज्जि सुहि सिरि सिरिवालहेरम्मि।
वुह सिरिचंदे एउ किउ णंदउकव्वु जयम्मि। प्रशस्ति सं० पृ० १६६।

इस तिथि से श्रीचंद का काल ११-१२वीं शती ई० ठहरता है और वे मूलराज द्वितीय (राज्यकाल ११७५-११७७ ई०) के समय में वर्तमान रहे होंगे।

श्रीधर—सुकुमाल चरिउ, पासणाहु चरिउ (पार्श्वनाथ चरित्र) और भविसयत्त चरिउ (भविष्यदत्त चरित) तीन अपभ्रंश रचनाएँ श्रीधर की प्राप्त हुई हैं।[2] सुकुमाल चरित में छः सन्धियाँ हैं। सुकुमाल स्वामी के पूर्व जन्मों की कथा दी है। पूर्व जन्म में वे कौशाम्वी के राजमंत्री के पुत्र थे। वे जिनोक्त धर्म की दीक्षा लेते हैं, संसार से उन्हें विरक्ति हो जाती है, और जन्मान्तरों का स्मरण हो आता है। तप करने के परिणाम स्वरूप उनका जन्म उज्जैन में होता है और सुकुमाल नाम रखा जाता है। इसी जन्म में वे सिद्धि प्राप्त करते हैं।

पार्श्वनाथ चरित में १२ सन्धियाँ हैं। परंपरा से प्रसिद्ध कथा के आधार पर ही तीर्थंकर की कथा कवि ने प्रस्तुत की है। और भविष्यदत्तचरित में श्रुत पंचमी व्रत के फल को प्रकट करने के लिए ६ सन्धियों में कवि ने भविष्यदत्त की प्रसिद्ध कथा उपस्थित की है जिसमें कथा की दृष्टि से कोई नवीनता नहीं है। भाषा, छंद, शैली सब कुछ अपभ्रंश के अन्य जैन चरित काव्यों के समान हैं।

कवि ने सुकुमाल चरित की रचना अगहण कृष्णपक्ष तृतीया चंद्रवार सं० १२०८ वि० में की। कृति पुरवाड वंश के पीथे साहु के पुत्र कुमार को समर्पित

---

१. दे० कै० सी० पी० प्रशस्ति तथा प्रश० सं० की प्रशस्ति।

२. कृतियों की हस्तलिखित प्रतियां आमेर शास्त्र भंडार जयपुर में हैं। नागपुर, यूनी० जर्नल, १९४३, पृ० ८४-८६ में सुकुमाल चरित तथा श्रीधर के संबंध में प्रो० डा० हीरालाल जैन ने विवेचनात्मक विवरण दिया है। दे० प्रशस्ति संग्रह पृ० [illegible]

की गई है। इनका विस्तृत परिचय कवि ने प्रस्तुत कृति की प्रशस्ति में दिया है[1] पार्श्वनाथ चरित की रचना दिल्ली में अगहन कृष्णपक्ष अष्टमी रविवार सं० ११८९ को समाप्त की और अग्रवाल कुलोत्पन्न नहल साहु, जो समस्त जनपदों में प्रसिद्ध थे, को कृति समर्पित की।[2] और, भविष्यदत्त चरित की रचना कवि ने फाल्गुन मास कृष्णपक्ष दशमी रविवार सं० १२३० वि० में समाप्त की। कृति कवि ने माथुर कुलोत्पन्न चंदवार नगरवासी साहु नारायण की पत्नी रुक्मिणी को समर्पित की है।[3] कवि का निवास दिल्ली के आसपास के प्रदेश में ही होना चाहिए और चंद्रवार तथा दिल्ली का उन्होंने उल्लेख भी किया है। कवि के गुरुभाई कोई वासुदेव थे। कवि का काल विक्रम की बारहवीं शती का अंतिम पाद और तेरहवीं का पूर्वार्द्ध होना चाहिए जो उनकी कृतियों के रचना काल से स्पष्ट प्रतीत होता है।

१. पीथे वंभु ताम अहिणंदउ, सज्जण मुहिमणाडू आणंदउ।
वारह सयइ गयइ कय हरिसइ। अट्ठोतरइ महीयलि वरिसइ।
कसणपक्ख आगहणो जायइ। तिज्ज दिवसि ससिवासरि भयाइ
प्र० सं० पृ० १९४।

२. प्रसंग से संबंधित पंक्तियाँ इस प्रकार हैं—
विक्कमणरिंद सुपसिद्धकालि, ढिल्ली पट्टणि धणकण विसालि।
सणवासी एयारहसएहि, परिवाडिए वरिसहपरिगएहि।
कसणट्ठमीहि आगहणमासि रविवारसमाणिउं सिसिरमासि।
संधि की पुष्पिकाओं में नहल का नाम है। कृति के अन्त में प्रशस्ति में नहल की बड़ी प्रशंसा की है।
सिखितुं साहु जेजातणउं जगिनहलु सुपसिद्धु इहु। प्र० सं० पृ० १३१।

३. कृति के प्रारम्भ में कवि ने बताया है कि माथुर कुल में उत्पन्न णारायण के पुत्र श्रीवासुदेव कवि के गुरुभाई थे उन्होंने ही कृति की रचना के लिए प्रेरणा दी। संभव है कवि भी माथुर गोत्र का हो जैसा कि प्रशस्ति संग्रह के संपादक ने अनुमान किया है। प्र० सं० भूमिका पृ० १४ प्रारंभ की पंक्तियाँ इस प्रकार हैं :

सिरि चन्दवारणयरट्ठिएण, जिणधम्मकरण उक्कंठिएण।
माहुरकुल गयण तमोहरेण, विवुहयण सुयण मणधणहरेण।
णारायण देह समुब्भवेण, मणवयणकाय णिंदिय भवेण।
सिरि वासुएव गुरुभायरेण, भवजलणिहि णिवडण कारणेण।

देवसेन गणि—प्रथम तीर्थंकर ऋषभ के पुत्र भरत के प्रधान सेनापति जयकुमार की पत्नी सुलोचना के चरित्र को लेकर देवसेन ने सुलोचना चरित[1] की २८ सन्धियों में रचना की है। अन्य अपभ्रंश चरित काव्यों के समान कृति में पद्धडिया आदि छंदों का प्रयोग हुआ है।

रचयिता ने वाल्मीकि, व्यास, कालिदास, बाण, मयूर, हालिय (हाल ?) गोविन्द, चतुर्मुख, स्वयंभू, पुष्पदन्त तथा भूपाल कवियों का उल्लेख किया है।[2] कवि ने यह भी बताया है कि उसने कुंदकुंद के गाथा वद्ध 'सुलोचना चरित' का पद्धडिया छंदों में अनुवाद किया है।[3] कवि ने अपने संबंध में कहा है कि वह विमलसेन गणधर का शिष्य था और प्रस्तुत कृति उसने सम्भलपुरी में राक्षस संवत्सर श्रावण शुक्ल चतुर्दशी बुधवार को समाप्त की थी।[4] इस उल्लेख के साथ कवि ने संवत्

तथा णरणाह विक्कमहच्चकाले, पवहंतए सुइयारए वि साले।
वारहसय वरिसहिं परिगएहिं दुगुणिय पणरह वच्छर जुएहिं।
फग्गुणमासम्मि वलक्खपक्खे दसमिहि दिणे तिमिरुक्कर विवक्खे।
रविवारि समाणिउं एउ सत्थु, जिह मइं परियाणिउं सुप्पसत्थु।
... ... साहु देवचन्दुक्खुवाणि।
माहुरकुल णइयलछशससंकु, जिय भासिय धम्मे विनुक्कसंकु।
वुहणियर दाणविहि करणधुत्तु णयमाग णिरंउ वज्जिय अजुत्तु।
वीयउ णारायणु क्षयणिउत्तु।
.. ..
तह रुप्पिणि णामे जाय भज्ज, सिरिहरहो सिखि जाणिय सकज्ज।
.. ..
संधि की पुष्पिकाओं में—णारायणभज्जा रुप्पिणी णामंकिए इत्यादि।
प्र० सं० पृ० १५१–१५३।

१. अनेकान्त वर्ष ७, किरण ११–१२ पृ० १५९–१६४ पर पं० परमानन्द जैन शास्त्री का लेख 'सुलोचना चरित्र और देव सेन'। धवल ने भी अपनी कृति की प्रस्तावना में महसेन के सुलोचना चरित्र का उल्लेख किया है।
२. वही, पृ० १६०।
३. वही, पृ० १५९, यह संभव नहीं प्रतीत होता कि प्रवचन सार के रचयिता कुंदकुंद ने तीर्थंकरों के चरितों को छोड़कर सुलोचना से संबंधित चरित कथा की रचना की हो, कोई दूसरे कुंदकुंद गणि इसके रचयिता रहे होंगे।
४. वही, पृ० १६२।

का उल्लेख नहीं किया है। उपर्युक्त कवियों में से पुष्पदन्त का समय सं० १०२९ (वर्तमान) है। इसके पश्चात् राक्षस संवत्सर वि०सं० ११३२ और दूसरा सं० १३७२ के ऐसे हैं जिनमें उक्त तिथि भी बुधवार के दिन पड़ती है। अतः उनमें से कोई भी रचना तिथि मानी जा सकती है। सम्भलपुरी तथा कवि के गुरु के व्यक्तित्व के संबंध में भी कुछ निश्चित ज्ञात नहीं हैं। देवसेन नामक अनेक कृतिकार जैन संप्रदाय में हो गए हैं।[1] इनमें कौन से देवसेन प्रस्तुत कृति के रचयिता थे निश्चित करना कठिन है।[2]

सिद्ध—सिद्ध और सिंह[3] कवि की अपभ्रंश कृति पज्जुण्णकहा[4] (प्रद्युम्न कथा) में जैन सम्प्रदाय में मान्य चौबीस कामदेवों में से इक्कीसवें कामदेव कृष्ण के पुत्र प्रद्युम्न की कथा पन्द्रह सन्धियों में कही गई है। कृष्ण का परिचय देकर कवि ने नारद को उपस्थित किया है। सत्यभामा से रुष्ट होकर नारद उसके रूप गर्व को भंग करने के लिए कृष्ण का विवाह रुक्मिणी से कराते हैं। रुक्मिणी के गर्भ से प्रद्युम्न का जन्म होता है और पूर्वजन्म के संबंध के अनुसार एक राक्षस बालक प्रद्युम्न को उठा ले जाता है, प्रद्युम्न इसी अवस्था में बड़े होते हैं और बारह वर्ष पश्चात् फिर कृष्ण से आकर मिलते हैं। प्रद्युम्न हरण की सूचना, मिलन आदि सब का आयोजन नारद ही करते हैं। कृति में जहाँ तहाँ कुछ आकर्षक वर्णनों के अतिरिक्त काव्यात्मक स्थल अधिक नहीं है। छंदों के प्रयोग में भी विविधता नहीं मिलती।

---

१. वही, पृ० १६२-१६३।

२. प्रशस्ति संग्रह में लेखक की अंतिम प्रशस्ति उद्धृत की गई है जिसमें गुरु, संवत् आदि के उल्लेख हैं। प्र० सं० पृ० १९०-१९२, जयपुर १९५० ई०।

३. कृति की संधियों की पुष्पिकाओं में सिद्ध और सिंह दोनों नाम मिलते हैं: प्रथम से लेकर सन्धि आठ तक की पुष्पिकाओं में 'सिद्ध' नाम मिलता है, नवीं सन्धि में 'सिंह' मिलता है। दशवीं सन्धि में पुनः 'सिद्ध' मिलता है आगे ग्यारहवीं सन्धि से पुष्पिकाओं में सिंह के पिता का नाम बुह रल्हण भी मिलने लगता है। अतः सिद्ध और सिंह दो कवियों ने प्रस्तुत कृति की रचना की। सिंह ने अपना परिचय भी दिया है।

४. ना० यू० ज० १९४३, प्रो० जैन के लेख 'सम रिसेंट फाइन्डज इन अपभ्रंश' में प्रस्तुत कृति का परिचय दिया है तथा ग्रंथ की हस्तलिखित प्रतियों के लिए लेखक बाबू पन्नालाल जैन अग्रवाल दिल्ली तथा आमेर शास्त्र भंडार के अधिकारियों का कृतज्ञ है।

रचयिता ने अपना परिचय देते हुए कहा है कि अमृतचन्द्रमुनि ने कवि को प्रद्युम्न चरित को नाना विध कौतूहलों से युक्त रचना करने का आदेश दिया था। अपने माता पिता का नाम कवि ने पंपाहय और देवण बताया है। कृति की रचना कवि ने वंभणवाड में की थी जहाँ वल्लास राजा थे।[1] वंभणवाड को प्रो० जैन ने सिरीही राज्यान्तर्गत वर्तमान वाभन वाद होना प्रस्तावित किया है और वल्लास के मालवा के राजा होने की संभावना प्रकट की है जिसका वध गुजरात के राजा कुमार पाल के सामंत द्वारा हुआ था और इसके सत्य सिद्ध होने पर कवि का काल १२वीं शती ई० का पूर्वार्द्ध हो सकता है।[2] सिंह ने अपने पिता का नाम रल्हण और माता का नाम जिनमती[1] बताया है। उनके गुरु ने सिद्ध की मृत्यु के कारण उनकी अपूर्ण रचना को पूर्ण करने का आदेश दिया था।[3]

हरिभद्र—हरिभद्र की दो कृतियों में से नेमिनाथ चरित का कुछ अंश 'सनत्कुमारचरित' नाम से अभी तक प्रकाशित हुआ है।[4] सनत्कुमार चरित अपने आप में स्वतन्त्र कृति सी प्रतीत होती है। प्रारंभ में जंबूद्वीप वर्णन, भरतखंड, गजपुर

---

१. कवि ने कृति के प्रारंभ में बताया है कि अमृतचंद्र माधवचंद्र के शिष्य थे। वे वंभणवाड में आए थे उस समय वहाँ के शासक गुहिलवंशी भुल्लण थे, जो वल्लाल के भृत्य थे। वल्लाल रणधोरिय के पुत्र थे। कविसिद्ध ने अपने पिता माता का उल्लेख इस प्रकार किया है।
पुणु पंपाइय देवणणंदणु, भवियणजण मण णयणाणंदणु।
वुहयण जण पय पंकय छप्पय, भणइ सिद्धु पणमिय परमप्पउ।
दे० प्रशस्ति संग्रह, पृ० १३४।

२. दे० ना० यू० ज० वही, पृ० ८२-८३।

३. दे० प्रशस्ति संग्रह, पृ० १३५-१३६।

४. हरिभद्र की प्राकृत कृति मल्लिनाथचरित्र है और नेमिनाथ चरित अपभ्रंश कृति है। प्रो० वेलणकर ने इस कृति को प्राकृत में भाषा बद्ध कहा है, जिन रत्नकोश पृ० २१५ और प्रो० हेरमान्न याकोबी द्वारा प्रकाशित अंश को ही अपभ्रंश भाषा बद्ध कहा है। किन्तु प्रस्तुत ग्रंथ पूरा अपभ्रंश में ही है जैसा कि याकोबी ने लिखा है तथा उनके द्वारा उद्धृत ग्रंथ के प्रारंभिक और अंत के अंशों से भी यही प्रकट होता है। सनतकुमारचरित प्रो० याकोबी द्वारा संपादित होकर रोमन लिपि में जर्मन भाषा निबद्ध भूमिका, जर्मन अनुवाद सहित म्यूनिख से सन् १९२१ ई० में प्रकाशित हुआ है। सनत्कुमारचरित नेमिनाथ चरित के पद्य ४४३ से ७८५ तक है अर्थात् ३४३ रड्डा पद्य हैं।

नगर के अलंकृत शैली में वर्णन हैं। गजपुर में अश्वसेन राजा थे, उनकी रानी सहदेवी थी। सहदेवी के पुत्र सनत्कुमार की उत्पत्ति, शिक्षादि का वर्णन करते हुए कवि ने बताया है कि वह चक्रवर्ती होगा। सनत्कुमार का सखा महेन्द्र था। वयः प्राप्त होने पर मदनोत्सव के दिन उद्यान में राजकुमार सर्वांगसुन्दरी एक युवती पर मोहित होता है। युवती भी उसके रूप की ओर आकर्षित होती है। मदनायतन में नायक नायिका मिलते हैं और अपने अपने प्रेम उद्‌गारों को व्यक्त करते हैं। इसी समय भोज राजा का पुत्र उपस्थित होकर सनत्कुमार को अत्यन्त प्रसिद्ध जलधिकल्लोल नामक तुरंग प्रदान करता है। (४४३-५२६)

पवन, मन से भी वेगवान् वह तुरंग कुमार को दूरदेश में ले पहुँचता है। प्रिय-जन कुमार के वियोग में दुःखी होते हैं। उसका मित्र अश्वसेन मित्र की खोज करता हुआ अनेक विजनाटवियों को पार करता हुआ, ऋतुओं के परिवर्तनों को देखता मानस सर के समीप पहुँचता है। किन्नरगणों को मधुरस्वर में कुमार की विरुदावली गाते वह सुनता है। एक किन्नर रमणी से उसे सनत्कुमार का वृत्त मिलता है। सनत्कुमार ने इस बीच में अनेक रमणियों से विवाह कर लिए थे। जिस युवती की ओर वह आकर्षित हुआ था, उसे एक यक्ष अपहरण कर लाया था। दैवयोग से कुमार और युवती मिल जाते हैं और उनका विवाह हो जाता है। आगे कुमार के अन्य पराक्रमों का वर्णन है, मुनि अर्चिमाली कुमार के पूर्व जन्मों का वृत्त कहते हैं। (५२७-७०६)

उसके अनंतर कुमार के अन्य अनेक विवाहों का वर्णन है। अपने सखा महेन्द्र सें अपने माता पिता की दशा सुनकर वह गजपुर लौट आता है। अश्वसेन पुत्र को राज्य देकर धार्मिक जीवन यापन करता हुआ अंत में सद्‌गति प्राप्त करता है। कुमार समस्त पृथ्वी को जीतकर चक्रवर्तित्त्व पद प्राप्त करता है। इंद्रादि सुर उसका अभिषेक करते हैं। उसके रूप और तेज की इन्द्र प्रशंसा करते हैं। अंत में कुमार अपने रूप तेज की नश्वरता का ध्यान कर विरक्त हो जाता है और तप दीक्षा लेकर चला जाता है। उसके कठोर तप से इन्द्रादि आश्चर्य प्रकट करते हैं। देवादि आकर सनत्कुमार ऋषि का आशीर्वाद लेकर लौट जाते हैं। लाखों वर्ष तप करते हुए ऋषि स्वर्ग को प्राप्त होते हैं (७०७-७८४)।

सनत्कुमारचरित यों तो धर्मोपदेश पर्यवसायी काव्य है, किन्तु सुन्दर काव्य-मय ऋतु वर्णनों से युक्त[१] प्रेमाख्यान का सुन्दर रूप भी प्रस्तुत कृति में मिलता

---

१. पद्य संख्या ५३८ से ५५० तक ऋतुवर्णन हैं।

है। इस प्रेम प्रसंग से संबंधित मदनोत्सव, सखी सहचरों की योजना, विरह एवं संयोग के हृदयस्पर्शी प्रसंग तथा नायक के अनेक विवाहों के वर्णन हैं। नायक को अद्‌भुत रूप संपन्न चित्रित किया गया है। और इस सौन्दर्य के अनुरूप ही उसे परा-क्रमादि गुणों से युक्त वर्णित किया है। साहित्यिक वर्णनों में से कुछ पंक्तियाँ इस प्रकार देख सकते हैं : ग्रीष्म वर्णन:—

परिसोसिय महिवलय, वावि कूब सरि सरु सुवुद्धरु
वायन्तउ झन्झा पवणु, कय तरु पत्त ओसहु।
कसु कसु न हवह डाहयरु, गिम्हयालि जिव भाहु। ५४१ ॥
तह खर पवणुद्धय रहण, उद्धुन्धलिय दिसेण।
कु न सताविउ महि वलइ, गिम्हिण काउरिसेण। ५४२ ॥

सजीव, स्फूर्तिदायक वर्णनों की प्रस्तुत कृति की जैन अपभ्रंश में अपनी विशेषता है। धार्मिक अंशों में सनत्कुमार के पूर्व भवों के वर्णन तथा पूर्व जन्मों के कर्मानुकूल मित्र यक्ष आदि से संबंध उसका संसार के प्रति वैराग्य, तपस्या वर्णन आदि हैं। इन अंशों में सरल कथात्मक शैली है। समस्त कृति में एक ही छंद रड्डा छंद का प्रयोग हुआ है। रड्डा के प्रथम पाँच पदों में क्रमशः १५, १२, १५, ११, और १५ मात्राएँ होती हैं।[१] अन्य चरणों का क्रम वही रहने से द्वितीय चरण में ११ मात्रा वाले रड्डा का भी प्रस्तुत कृति में प्रयोग हुआ है।[२] रड्डा के अंतिम चार चरण दोहा छंद के होते हैं।[३]

कृति की भाषा को प्राचीन गुजराती के चिह्नों से युक्त गुर्जर अपभ्रंश (पश्चिमी शौरसेनी) कहा है।[४]

नेमिनाथ चरित के रचयिता कवि हरिभद्र ने कृति के प्रारंभ और अंत में अपना और अपने आश्रयदाता का परिचय देते हुए बताया है कि वे श्वेताम्बर जैन सम्प्रदाय के बटगच्छ के थे, उनके गुरु श्रीचंद्र थे जो जिनचन्द्रसूरि के शिष्य थे, हरिभद्रसूरि ने कृति की रचना अणहिल पाटन (वर्तमान पत्तन—अन्हिलवाड-

---

१ प्राकृत पैंगल में इसके एक रूप को रायसेना भी नाम दिया है। विब्लियोथेका इंडिका संस्करण, पृ० २२८, इस रूप को प्राकृत पैंगल में चारुसेनी नाम दिया है (वही पृ० २३९)।

२. प्रो० याकोबी ने कृति के छंदों का विस्तृत विवेचन प्रस्तुत किया है पृ० २०-२५।

३.-४. वही भूमिका पृ० २३ और आगे तथा व्याकरण पृ० १-१९।

पट्टन) में वि० सं० १२१६ में की थी।[१] पृथ्वीपाल उनके आश्रयदाता थे। कवि ने उनकी भी वंशावली दी है। वे चौलुक्य वंशी राजा सिद्धराज और कुमारपाल के आमात्य रहे थे। उन्हें यह पद वंश परम्परा से प्राप्त था।[२] उपर्युक्त दो कृतियों के अतिरिक्त चंद्रप्रभचरित नामक उनकी एक और रचना का उल्लेख मिलता है।[३]

अमरकीर्ति—छक्कम्मोवएस (षट्कर्मोपदेश)[४] में अमरकीर्ति ने गृहस्थों के पालनीय छः कर्मों—देवपूजा, गुरु उपासना, स्वाध्याय, संयम, तप और दान के स्वरूप तथा पालन करने के लिए उपदेश दिए हैं। कवि ने प्रथम संधि में अन्य संप्रदायों के आराध्य देवों के स्वरूपों पर मृदु कटाक्ष करते हुए वीतराग देव को आराधना के योग्य बताया है। दूसरी से नवमी संधि तक क्रमशः जल, सुगन्धि, अक्षत, पुष्प, नैवेद्य, दीप, धूप और फल द्रव्यों द्वारा देव पूजा करने का माहात्म्य दृष्टान्तों द्वारा बताया है। इन कथाओं में पर्याप्त मनोरंजक तत्व मिलता है यथा चतुर्थ संधि में राजा और शुकी का प्रसंग जिसमें कवि ने शुकी के मुख से स्त्रियों के वश में रहने वाले व्यक्तियों पर कटाक्ष किया है। आगे दशवीं सन्धि में जिन पूजा, उपवासविधि आदि के प्रसंग तथा ग्यारहवीं सन्धि में गुरु पूजा और स्वाध्याय के प्रसंग हैं। आगे की दो सन्धियों में संयम का प्रसंग है तथा अन्तिम संधि में तप, दान और कर्म के प्रसंग हैं।

प्रस्तुत कृति में काव्य का चमत्कार और सौन्दर्य नहीं मिलता। उपदेश की प्रधानता है। छंदों की विविधता न होकर पद्धडिया और घत्ता का ही प्राधान्य है। भाषा भी सरल है। अपने परिचय में कवि ने बताया है कि वे माथुर संघ की परंपरा से संबंधित थे। उनके आश्रयदाता नगर कुलोद्भव अंबप्रसाद थे। इन्हीं

---

१. कृति के प्रारभ में ये सूचनाएँ मिलती हैं—सनत्कुमार चरित पृ० १५२, छंद ९-१०, तथा अंत के उद्धरण स० १५२ छंद १-२। रचनाकाल का निर्देश पृ० १५४ पद्य २३ में किया गया है।
२. वही पृ० १५४ पद्य २१।
३. जिनरत्नकोष पृ० ११९।
४. ना० यू० जा० वही, पृ० ८६ तथा जैन सिद्धान्तभास्कर भाग २, किरण ३-४ में प्रो० हीरालाल जैन ने कृति के विषय का विस्तार से परिचय दिया है। प्रस्तुत कृति बड़ौदा ओरियंटल इस्टीट्यूट से प्रकाशित होने वाली है। कृति की हस्तलिखित प्रति के लिए लेखक आमेर शास्त्र भंडार का कृतज्ञ है।

को कवि ने अपनी कृति सर्मापित की है। कृति की रचना कवि ने गुर्जरप्रदेश में स्थित गोदहय नगर में सं० १२४७ वि० में की। कवि ने अपनी सात अन्य रचनाओं का भी कृति में नामोल्लेख किया है जिनमें से कोई भी प्राप्त नहीं हुई है। कवि ने संकेत किया है कि इसके अतिरिक्त संस्कृत प्राकृत में और भी ग्रन्थों की रचना की थी। नेमिणाह चरिउ और जसहरचरिउ को पद्धडिया बंध में रचित कहा है जिससे प्रतीत होता है कि दोनों कृतियाँ अपभ्रंश में रची गई होंगी।

सोमप्रभाचार्य——कुमारपाल प्रतिबोध में प्राप्त अप्रभंश प्रकरणों का सुंदर अध्ययन प्रो० लुडविग आल्सडर्फ ने किया है।[1] कृति में जीव मनःकरणसंलाप कथा (वड़ौदा संस्करण पृ० ४२३-४३७), स्थूलिभद्रकथा (पृ० ४४३-४६१) वड़े प्रकरण हैं और द्वादश-भावनास्वरूप (पृ० ३११-२), पार्श्व स्तोत्र (पृ० ४७१-२) छोटे छोटे प्रकरण हैं। इनके अतिरिक्त एक कडवक में वसंत (पृ० ३८), एक में शिशिर (पृ० १५९) एक में मधुसमय (पृ० ३५१-२) तथा एक में ग्रीष्म वर्णन (पृ० ३९८) मिलते हैं और पैंतीस स्फुट पद्य इधर उधर विखरे मिलते हैं जो दृष्टांत आदि के रूप में अपने आप में स्वतंत्र हैं।

जीवमनः करणसंलाप कथा धार्मिक रूपक है जिसमें आत्मा, जीव, मन, इन्द्रियों को पात्र बनाकर वार्ता कराई है——देहनगरी में लावण्य लक्ष्मी का निवास है, आयु-कर्म उसके प्राकार हैं, सुख दुःख, क्षुधा, तृषा, हर्ष, शोक आदि पुरवासी हैं, नाना नाड़ियाँ पथ, समीर भार, धर्म महिमा है। नगरी का राजा आत्मा है, बुद्धि पट्ट-महिषी, मन महामंत्री, पंचेन्द्रियों के पाँच विषय पाँच प्रधान हैं। एक बार राजसभा में जीव के दुःखों के उत्तरदायी मन ने अज्ञान को बुलाया, राजा ने उसे धिक्कारते हुए उसी को सब दुःखों की जड़ बताया। परस्पर इसी प्रकार विवाद वढ़ते देख आत्मा के द्वारा प्रशमन का उपदेश कराया गया है और मनुष्य जीवन की दुर्लभता वताते हुए जीव दया, संयम आदि व्रतों के पालन का आदेश दिया गया है।

ज पुणु तुहुजंपेसि जड त असरिसु पडितहाइ।
मणन्निल्लक्खन किं सहइ नेअरु उड्ढत पाइ। पृ० ४२५

'रे जड़। जो तूने कहा है वह सब असंगत प्रतीत होता है। रे निर्लक्षण। मन ऊँट के पैर में नूपुर क्या शोभा देगा।'

प्रस्तुत कथा में कविता के सौन्दर्य का अभाव है, सरल सुभाषितों के प्रयोग कहीं कहीं अवश्य मिलते हैं।

---

१. देर कुमारपाल प्रतिबोध, आईन बाइट्राग त्सूर केन्टनिस डेज़ अपभ्रंश उँड देर एरत्सेलुन्गन लिटेराटूर देर जैनज़, हाम्बुर्ग १९२८।

प्रस्तुत कथा में प्राकृत गाथाओं को छोड़कर अपभ्रंश पद्यों में रड्डा, पद्धडिया, और घत्ता छंदों का प्रयोग मिलता है। रड्डा और गाथा का प्रयोग कथा अंश के लिए हुआ है और कडवक शैली का प्रयोग वर्णनात्मक प्रसंगों में हुआ है। मन आदि के रूपक साहित्य में और भी मिलते हैं।[1]

स्थूलिभद्र कथा में ब्रह्मचर्यव्रत की दृढ़ता का दृष्टान्त रखा है। स्थूलिभद्र नंद के मंत्री शकटाल के ज्येष्ठ पुत्र थे। कोशा नामक बारवनिता के रूप पर आसक्त होकर वे बारह वर्ष तक विलास रत रहे। उसी नगर में शास्त्र विचक्षण बररुचि रहता था, शकटाल की अकृपा के कारण राजा नंद ने उसे राजसभा से निकाल दिया। इस राजभक्ति का मूल्य शकटाल ने अपने प्राण देकर चुकाया। शकटाल के पश्चात् नंद ने स्थूलिभद्र को मंत्री बनाना चाहा किन्तु स्थूलिभद्र जनवधू को छोड़कर विरक्त हो गए। कोशा की चेष्टाओं का उनपर फिर कोई प्रभाव नहीं पड़ा और उनके उपदेश से वह भी अर्जिका हो गई।

प्रस्तुत कथा में प्रकृति और ऋतुओं के वर्णनों से सज्जित प्रेम-काव्य और धर्मोपदेश का अनुपात कवि ने सफलता से मिश्रित किया है। ऐतिहासिक नंद के साथ स्थूलिभद्र कथा के मेल से प्रस्तुत कथा में कुछ नवीनता मिल सकती है। संस्कृत प्राकृत, अपभ्रंश सभी में इस कथा से संबंधित प्रसंग प्राप्त होते हैं।[2] प्राकृत गाथाओं को छोड़कर अपभ्रंश अंश में रड्डा, पद्धडिया, और धत्ता छंदों का प्रयोग कवि ने किया है।

अन्य प्रसंगों में से द्वादशभावना प्रकरण में चौदह पद्धडिया छंदों में द्वादश भावनाओं के पालन के फल का वर्णन है तथा पार्श्वनाथ स्तवन में तेईसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ की शरण में जाने से कलिकाल से मुक्त होने का आठ छप्पयों में उल्लेख है। इन छप्पयों में अनुप्रासादि के प्रचुर प्रयोग मिलते हैं और भाषा प्रायः द्वित्व

---

१. कृष्ण मिश्र कृत 'प्रबोधचंद्रोदय' सिद्धर्ष कृत उपमितिभव प्रपंचकथा, हेमचद्रकृत त्रिषष्टिशलाकापुरुष चरित (१.१.५६२, ५८४ तथा ३.४.८२–१७४), उत्तराध्ययन अध्याय २६ में इसी प्रकार के रूपक मिलते हैं। हिन्दी में जायसी के 'पद्मावत' के अंत में उसे रूपक बताया गया है किन्तु वह अंश प्रक्षिप्त है ऐसा विद्वानों का मत है।

२. आवश्यक निर्युक्ति, कथासरित्सागर तरंग ४.५, हेमचद्र परिशिष्टपर्व ७.८ अध्याय इत्यादि, तथा दिगबर परंपरा के आराधना कथाकोश आदि में भी यह कथा मिलती है।

वर्णों से युक्त परुषावृत्ति प्रधान है जो कदाचित् छप्पय परंपरा की विशेषता रही होगी।

ऋतु वर्णनों के प्रसंगों में कोकिल, मदन, मलय वात, पल्लवित पुष्पित कानन, हर्षामोद में नाचती हुई रमणियों के समूहों का उल्लेख, वसंत में और गात्र कम्पित करने वाले शीतल समीर, हिमपीड़ित पथिकों का शिशिरकाल में और विरह संतप्त अंगराग का उबटन करती हुई युवतियाँ प्रखररश्मिसूर्य, तृष्णातरलित पथिक तथा चंदनरस का लेप करनेवाले श्रीमन्तों का ग्रीष्म वर्णन में उल्लेख हुआ है। इन वर्णनों में परंपरागत उपकरणों के प्रयोग होते हुए भी नवीनता संवेदनाजनक तत्व में है। पद्धडिया और दोहा छंद प्रमुख हैं।

स्फुट पद्यों में से अधिकांश (दो तिहाई) स्वतन्त्र सुभाषित हैं जिनमें प्रेम, उपदेश, सभा-चातुर्य आदि के प्रसंग हैं[१] तथा कुछ पद्य समस्या पूर्ति के प्रयास-रूप हैं।[२] कुछ पद्यों में दृष्टान्त रूप में कथाओं तथा घटनाओं के संकेत मिलते हैं।[३] यह सभी पद्य सोमप्रभ के ही हों ऐसा निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता, संभव है कुछ पद्य अन्यत्र से उद्धृत किए हों। कुछ पद्य अन्य रूपों में और जगह भी मिलते हैं।[४] पद्य दोहा छंद में अधिक हैं, पद्धडिया आदि छंद में भी कुछ पद्य हैं (कु० पा० प्र० पृ० ३३१)।

कुमारपाल प्रतिबोध के अपभ्रंश प्रकरणों में साहित्यिक और सरल दोनों प्रकार की भाषा मिलती है। सामान्य रूप से पश्चिमी हिन्दी, ब्रज, प्राचीन गुजराती आदि के ठीक पूर्व दशा की स्थिति का परिचायक रूप पद्यों में स्पष्ट मिलता है जिसमें कारक चिह्न, जिण-तिण आदि सर्वनामों के रूप तथा प्रत्ययान्त शब्द आधुनिक बोलियों के अधिक निकट आ जाते हैं।[५]

---

१. पद्य इस प्रकार मिलते हैं : ५, १२, २५, २६, ३०, ३२, ३८, ५७, ६९, ७७, ८२, ८६, ८९, १०७, १०८, १११, ११८, १२१, १२९, १५५, २२३, २३७, २४६, २५७, ३०१, ३३१, ३४५, ३५५, ३७३, ३९०, ३९२, ४०४ और ४१५।

२. ऐसे छः पद्य हैं पृ० १०७, १०८ पर दो पद्य, ११८, ३९०, तथा ३९१ पर।

३. यथा पृ० २५ पर उद्धृत पद्य में झगल की कथा का संकेत, अन्य पद्यों में भी संकेत है यथा, पृ० ३८, ५७, ६९, ८२, १११, १२१, २२३, ३९२, ४०४ आदि पृष्ठों पर उद्धृत पद्यों में।

४. दे० आल्सडर्फ : कु० प्र० पृ० ४७।

५. वही, पृ० ५१ और आगे।

सोमप्रभाचार्य का समय विक्रम की तेरहवीं शती है। कुमारपाल प्रतिबोध की रचना इन्होंने १२५२ वि० सं० में की।

लाखू—ग्यारह सन्धियों में जिनदत्त की कथा से संबंधित लाखू ने 'जिणदत्तचरिउ'[1] की रचना की है। कृति के आरंभ में कवि ने अपना और अपने आश्रयदाता का परिचय दिया है। श्रीधर की प्रेरणा से दुर्जनों से भयभीत कवि अनेक प्राचीन कवियों का स्मरण करता हुआ, नम्रता प्रकट करता हुआ जिनदत्त चरित की रचना प्रारंभ करता है। जिन वंदना, सरस्वती वंदना करके कवि जंबूद्वीप, भरतक्षेत्र, तथा मगधदेश का वर्णन करता है। मगध देश में स्थित वसंतपुर नगर में शशिशेखर राजा का भी कवि ने सुन्दर वर्णन प्रस्तुत किया है। इसी प्रकार का उसकी रानी मयनासुंदरी का भी वर्णन है। उस नगर के राजसेठ जीवदेव और उसकी पत्नी जीवंजसा के भी सौन्दर्य वर्णन कवि ने प्रस्तुत किए हैं। जीवंजसा जिन कृपा से एक अत्यन्त सुन्दर पुत्र को जन्म देती है। पुत्र का नाम जिनदत्त रखा जाता है। विद्याएँ पढ़ता हुआ कुमार युवावस्था में प्रवेश करता है और अपने रूप सौन्दर्य से नगर रमणियों के मनों को क्षुब्ध करता है। अंगदेश स्थित चंपापुरी के विमल सेठ की रूपवती पुत्री विमलमती से उसका विवाह होता है।[2] संयोग शृंगार की पीठिका-रूप रात्रि, चंद्रोदय के वर्णन कवि ने किए हैं। कुछ काल रहकर जिनदत्त वसंतपुर आता है। बहुत काल तक सुखपूर्वक रहने के पश्चात् जिनदत्त धन कमाने के लिए व्यापारार्थ विदेश जाता है।[3] अनेक वणिक् और सार्थ-वाह बनाकर जाते

१. कृति की हस्तलिखित प्रति के लिए लेखक आमेर शास्त्र भंडार, जयपुर का कृतज्ञ है।

२. जिनदत्त और विमलमती के विवाह का प्रसंग कुछ विस्तृत है। विमलमती के चित्र को देखकर विवाह होता है, वरयात्रा आदि के अच्छे वर्णन हैं, संधि २, समस्त वातावरण प्रसन्न था :—

गेहगेहम्मि णग्गोर दीपावली, दिज्जए मंद मरुवसिण उक्कावली।
णच्चि भोरघण पिच्छसच्छण्णयं, ण विरेहंति धरणिहर सिहरुण्णयं।
काण्णं परिपियालीहिं कथ लवियय। सर सरोरुहदुरोहेहिं ण धन्नियं।
संधि २ कड०। १४।

३. कवि ने विदेश में धन कमाने वाले व्यक्तियों के पुरुषार्थ की बड़ी प्रशंसा की है।

विलसइ जो ण महायरेण सो काउरिसु णिरुत्तु।
सहसा दीवंतरे फिरेजि, अज्जिज्जइ बहु वित्तु। ३-५।

हैं और नाना देशों को पार करके समुद्र यात्रा करते हैं। सब सिंहलद्वीप में पहुँचते हैं। जिनदत्त वहाँ के राजा की अत्यन्त रूपवती कुमारी श्रीमती से अपनी बुद्धि और साहस का परिचय देकर विवाह करता है।[१] जिनदत्त श्रीमती को जिन धर्म का उपदेश देता है।

कुछ काल पर्यंत रहकर जिनदत्त सब साथियों सहित प्रभूत धन संपत्ति लेकर स्वदेश चलता है। जिनदत्त को ईर्ष्यावश उसका एक सम्बन्धी कपट करके समुद्र में फेंक देता है। और श्रीमती के पास जाकर प्रेम प्रस्ताव करता है। श्रीमती दृढ़ रहती है, प्ररोहण किनारे लगता है और श्रीमती चंपापुर के चैत्यालय में पहुँचती है। जिनदत्त भी बच जाता है वह मणिद्वीप पहुँचता है और शृंगारमती से विवाह करता है तथा छद्मवेश धारण किए हुए चंपापुरी पहुँचता है। श्रीमती विमलमती सब मिलते हैं। जिनदत्त सबको लेकर अपने घर पहुँचता है, माता-पिता सब प्रसन्न होते हैं। राजा भी जिनदत्त का सम्मान करता है। सुखपूर्वक अनेक दिन बिताता है। अंत में समाधि गुप्त मुनि से धर्म दीक्षा लेकर तपस्या करता हुआ शरीर त्याग कर निर्वाण प्राप्त करता है।

जिनदत्त चरित एक प्रेमकथा है जिसमें श्रीमती और जिनदत्त के प्रेम की परीक्षा होती है और दोनों अपने प्रेम में दृढ़ रहते हैं और अंत में मिलते हैं। सिंहल द्वीप की सुंदरी की कथा कदाचित् एक बहुत ही लोक प्रिय कथा थी जिसका उपयोग अनेक कवियों ने नाना प्रकार से किया है। धर्म का आवरण इस प्रेमकथा को पहनाना जैनकवि के लिए साधारण सी बात थी। प्रेम की दृढ़ता दिखाने के लिए समयानुकूल कवि ने जिनदत्त द्वारा श्रीमती को जैनधर्मोपदेश दिलाया है। कृति की अंतिम कई सन्धियाँ काव्यरस से रहित हैं। अन्यत्र वर्णन सरस हैं।

कवि ने कृति में अनेक छंदों के प्रयोग किए हैं[२] जिनमें लय की सरसता मिलती है और वर्णन की नीरसता से छंद विविधता पाठक की रक्षा करती है। कवि ने

---

१. श्रीमती अनेक विद्याएँ जानती थीं, अनेक राजकुमार अपने प्राण दे चुके थे। उसके पेट में एक विषधर सर्प रहता था। रात को सो जाने पर निकल कर वह विष से मार डालता था। जिनदत्त सोया नहीं और जब सर्प निकला तो उसे वह मार डालता है। जिनदत्त की वीरता पर कुमारी मोहित हो जाती है। ३. २९-३०।

२. निम्न छंदों का प्रयोग कवि ने कडवकों के मुख्य भाग में किया है अंत में घत्ता का प्रयोग स्वाभाविक ही है : विलासिणी, मदनावतार, चित्रं गया, मौक्तिक, पिंगल, विचित्रमनोहरा, आरणाल, भुजंगप्रयात, दुवई, स्रग्विणी, सोमराजी,

कृति की रचना अपने आश्रयदाता श्रीधर के आग्रह से की थी, कृति उन्हीं को कवि ने समर्पित भी की है।[1] पुरवाड वंशोद्भूत सिरिधर धामु विरदा के पुत्र थे।[2] कवि ने बिल्लरामिपुर (?) में कृति की रचना वि० सं० १२७५ में की थी। कवि ने अपने पिता माता का नाम क्रमशः साहुल और जयता दिया है। वह पहिले त्रिभुवनपुर में रहता था, पीछे बिल्लरामिपुर में पहुँचा था। त्रिभुवनपुर को म्लेच्छों ने बलपूर्वक ले लिया था और कवि वहाँ से निकल पड़ा था।[3]

लक्खण—आठ सन्धियों में विभक्त २०६ कडवकों की कृति अणुवयरयण-[4]

नलिन, ललिता, अमरपुरसुंदरी, प्रमाणिका, पद्मिनी, वसंतयच्चर, पंचचामर, नाराच, त्रिभंगिका, रमणिलता, समाणिका, विश्लोक, चित्रिका, भ्रमरपद, तोणक, खंडक, जंमेटिका, पज्झटिका।

१. प्रत्येक संधि की पुष्पिका में श्रीधर का नाम है तथा कुछ संधियों के प्रारंभ में श्रीधर की मंगल कामना भी की गई है।

२. यथा— पुरवाडवंस तामरसतरणि।
विल्हंण तणुरुहु पायडिय धामु जिणहरु जिणमतु पसिद्धणामु।
तहो णंदणु णयणाछंदहेउ णामेण सिरीहरु सिरिणिकेउ। १-२।
तथा—चिरुअहिणंदउ बिरदातणूउ, सिरिहरु सिरिबिसइणि गव्वभूउ।
—अंतिम प्रशस्ति।

३. साहुलहु सुपिय पिययममकुज्ज। णामे जयता कयणिलय कज्ज।
ताह जि णंदणु लक्खणु सलक्खु.....
ते तिहुअण गिरि णिवसंतिसव्व।
सो तिहुअणगिरिभग्गउ जडुण। घितउ वलेणमिच्छाहिड्डुण।
लक्खणु सव्वाउं समाणुसाउ। विच्छोयउविहियाजणियराउ।
सो इत्यतत्थ हिंडंतु पत्तु। पुरे विल्लरामिलक्खणु सुपत्तु। अंतिम प्रशस्ति।
रचनातिथि इस प्रकार दी है:
बारहसयसत्तरयं, पंचोत्तरयं, विक्कमकालि विहत्तउ।
पणमपक्खिरविवारह, छट्ठि सहारइ, पुस मासे संम्मतिउ—अंतिम प्रशस्ति।

४. ना० यू० ज० दिसंबर १९४२, प्रो० डा० हीरालाल जैन का लेख सम रिसेंट फाइन्डज अव अपभ्रंश लिटरेचर पृ० ८९-९१। कृति की हस्तलिखित प्रतिलिपि के लिए लेखक प्रो० डा० श्री बाबूराम सक्सेना, अध्यक्ष संस्कृत विभाग, प्रयाग विश्वविद्यालय का आभारी है।

पईउ (अणुव्रतरत्नप्रदीप) लक्खण (लक्ष्मण) की एकमात्र अपभ्रंश कृति प्राप्त हुई है। कृति में कोई एक क्रमबद्ध कथा नहीं है। श्रावकों के पालनीय व्रतों (अणुव्रतों) को दृष्टान्त के द्वारा स्पष्ट किया गया है। उनके महत्व को प्रकट करने के लिए सरल शैली में कथाएँ कही गई हैं। कृति के कथात्मक अंशों में कहीं भी शुष्क, नीरस, शास्त्रीय विवेचन नहीं है किन्तु कथा का मनोरंजक तत्व भी अधिक नहीं है। जहाँ तहाँ सामान्य जीवन के चित्र बड़े आकर्षक हैं यथा संधि ३ में पिता पुत्री का संवाद जिसमें प्रियदत्त अपनी पुत्री अनंतमती को भिक्षुणी होने से रोकना चाहता है। वह ब्रह्मचर्य व्रत ले चुकी है, और पिता उसका विवाह करना चाहता है वह कहती है :

णउ जुत्तउ विवाहु महु केरउ ।
पइं सहुं बंभचरिउ महं गहियउ जणणीलोय सक्खि गुरु वहियउ ।

उसका पिता उसे समझाता है :

तं सुणि पिउणा दुहिय समीरिय । तुहुं कुमारि सुकुमार सरीरिय ।
वियला सयवाली वालिसमइं । किं ण वियार्णाहि कीला परिणइं ।
अनंतमती : दरहसेवि ताहुहियए वुत्तउ, हो जणेर किं भणिउ अजुत्तउ ।
जे वयणेण सीलु खंडिज्जइ, रइ विलास लीला मंडिज्जइ ।

सोच में पड़कर पिता प्रत्युत्तर देता है कि कुतूहलवश मैंने तुझसे ब्रह्मचर्य व्रत की चर्चा की थी, ब्रह्मचर्य का वृद्धों को पालन करना चाहिए, तू तो कुमारी है, तुझे शोभा नहीं देता।

तुहु कुमारि वउ तुज्झु न सोहण, विसमु मयणु माणिणि मणु मोहइं
मइं तुहुं कोअहसेण णिडुइउ । वंभचरिउ जं विद्धहिं सेविउ । ३-२-३ ।

कवि ने मनुष्य की दुर्बल प्रकृति की साधारणता का ध्यान रखते हुए अंत में आगे चलकर ब्रह्मचर्य व्रत के लिए उत्सुक अनंतमति को भी क्षुब्ध होते दिखाया है।

तहि णिएवि अणंतमइते तणु महलावण समुच्छलउ ।
कुसुमसर वाणडुहिय हियउ मण संजायउ कलमलउ । ३-३ ।

इस प्रकार के अकृत्रिम अंशों को छोड़कर धार्मिक प्रवचनों की कृति में प्रधानता है। कथाएँ प्रायः कलाहीन ढंग से सीधे सादे रूप में प्रस्तुत की गई हैं। धर्म में अनास्था रखने वाले श्रावकों के लिए उनका उचित महत्व है।

शैली में कहीं कवि कल्पना नहीं है, प्रसादगुण युक्त सरल अपभ्रंश शैली का प्रयोग कवि ने किया है। अलंकारों के प्रदर्शन का भी प्रयास कृति में कहीं लक्षित

नहीं होता। कवि ने बार बार काव्य के आदर्शों के उल्लेख[1] किए हैं किन्तु अपनी कृति को काव्यरूप देने का प्रयास उसने कदाचित् सरल श्रावकों का ध्यान होने के कारण नहीं किया। छंदों में पज्झटिका और घत्ता से मिलकर बने कडवकों की-प्रधानता है। जहाँ तहाँ बीच में मदनावतार, विचित्रमनोहरा, भुजंगप्रयात, विलासिनी, अमरपुर सुंदरी, ललिता, समाणिका, प्रमाणिका, पद्मिनी, मौक्तिकदाम, स्रग्गिणी, वसंत तवच्चरी, पंचचामर, पिंगलशोधन, चित्रका के प्रयोग हुए हैं।

कृति रचयिता ने अपने संबंध में बताया है कि वे लंबकंबु वणिक कुलोद्भव कृष्ण राजा आहवमल्ल के मंत्री थे, उन्हीं के आश्रय में कवि रहता था, उनके आग्रह से ही श्रावकों के बोधार्थ कृति का सं० १३१३ विक्रम में निर्माण किया। कवि जायस (जयसवाल) कुल का था। पिता का नाम सम्हुल और माता का जहता था। मंत्री कृष्ण और राजा आहव मल्ल के विषय में भी कवि ने सूचित किया है कि आहवमल्ल की राजधानी जमुना नदी के किनारे धन जन संपन्न रायवड्डिय नगरी थी। यहीं लक्ष्मण भी रहते थे।[2] यह राजा चौहानवंशी थे और पूर्वजों की राजधानी यमुना-तट पर चंदवाड नगरी थी। यह राजा म्लेच्छों के साथ वीरता से लड़े थे। आहवमल्ल ने हम्मीरदेव की सहायता भी की थी। चंदवाड (चंदपाट) नगरी आगरा से थोड़ी दूर यमुना तट पर अभी स्थित है।[3] रायवड्डिय के संबंध में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता है। चंदपाट के समीपस्थ 'रपरी' स्थान यह हो सकता है कुछ विद्वान आगरा फोर्ट और बाँदीकुई रेल मार्ग पर पड़ने वाले 'रायभा' स्थान को बताते हैं।[4]

लक्खमदेव (लक्ष्मणदेव)—कवि लक्खण ने बाईसवें तीर्थंकर नेमिनाथ को लेकर नेमिनाथ चरित[5] की रचना की है। प्रारंभ में जिन स्तवन, सरस्वती वंदना, मनुष्य जन्म की दुर्लभता, दुर्जनों का स्मरण तथा अपनी असमर्थता का

---

१. अणुवयरयणाई पईव णामु, लक्खण छंदालंकार धामु। संधि ८ के अंत में।
२. संधि ८ के अंत में प्रशस्ति तथा संधि १ कडवक ७-९ और संधि १ कडवक २-३।
३. अनेकान्त वर्ष ८, किरण ८-९, पृ० ३४५-३४८ पर पं० परमानन्द जैन का लेख 'अतिशयक्षेत्र चंदवाड।'
४. प्रो० हीरालाल जैन : जैन सिद्धान्त भास्कर भाग ६ किरण ३।
५. हस्तलिखित प्रति के लिए लेखक राजस्थान दिगंबर जैन भंडार के मंत्री पं० श्रीप्रकाश शास्त्री का अनुग्रहीत है। कृति के संबंध में सूचना ना० प्र० ज० वही पृ० ९१–९२ पर प्रो० जैन ने दी है।

उल्लेख किया है। इस प्रस्तावना के आगे मगध देश और राजगृह नगर तथा श्रेणिक राजा का वैभवपूर्ण वर्णन कवि ने किया है। राजा श्रेणिक की जिज्ञासा के अनुसार गणधर नेमीश्वर का चरित्र कहा है। वराडक देशस्थ वारमति (द्वारवती) नगरी में यादव तिलक जनार्दन राजा थे, वहाँ गुणसंपूर्ण समुद्रविजय रहता था, उसकी पत्नी शिवदेवी ने एक पुत्र को जन्म दिया। इन्द्रादि देव बालक के संस्कार करते हैं (संधि।[१]) दूसरी संधि में नेमिनाथ के वयःप्राप्ति तक की कथा तथा उसी प्रसंग में वसंत वर्णन, जलक्रीड़ा आदि के प्रसंग हैं। कृष्ण को नेमि की शक्ति से ईर्ष्या होने लगती है और वे उन्हें संसार से विरक्त कराने के लिए प्रयत्न करते हैं। उनका विवाह निश्चित करते हैं और युक्ति से विवाह के अवसर पर बलि पशुओं का नेमि को दर्शन कराते हैं, इस हिंसा व्यापार से नेमि संसार से विरक्त हो जाते हैं। राजीमती से नेमि का विवाह होने वाला था, वह बहुत दुःखी होती है। तीसरी संधि में राजीमती की वियोग दशा का मार्मिक चित्र है। अनेक दूतियाँ नेमि को संसार की ओर प्रवृत्त करने का व्यर्थ प्रयास करती हैं, नेमि की माता भी व्याकुल होती है। संसार की आकर्षक निस्सारता का प्रतिपादन अपने पूर्व जन्मों की कथा कहकर वे करते हैं और वैराग्य धारण करते हैं। चतुर्थ और अंतिम संधि में नेमि के समवसरण, अनेक धर्मोपदेश और निर्वाण प्राप्ति के प्रसंग हैं। इस लघु कृति में धर्म और उपदेश के प्रकरणों के साथ नगरों के वर्णन, राजमती के वियोग वर्णन में काव्य की पर्याप्त झलक मिलती है। छंदों के प्रयोग में विविधता नहीं मिलती। पद्धडिया, घत्ता प्रधान हैं, कुछ अन्य छंदों के भी प्रयोग मिलते हैं। रचयिता ने अपनी कृति का रचनाकाल नहीं दिया। प्रत्येक संधि की पुष्पिका में अपने को रयण 'रत्न' का पुत्र कहा है। मालवा में स्थित गोणंद नगर कवि के अनुसार विद्वानों का केन्द्र था। कवि पुरवाड कुल का था और बहुत धार्मिक था। कृति की रचना में कवि को आठ महीने पन्द्रह दिन लगे थे।

आरंभिय असाढ़ सिय तेरसि। भउ परिपुरणु चइतवति तेरसि। कृति की प्रति सं० १५१० विक्रम की है अतः ग्रन्थ कम से कम इसके पूर्व का अवश्य होना चाहिए।

धनपाल (द्वितीय)——१८ सन्धियों में समाप्त बाहुबलि चरित धनपाल की महत्व पूर्ण कृति है।[१] कृति में जैन संप्रदाय के प्रथम कामदेव बाहुबलि का चरित्र है। कृति की रचना कवि ने गुर्जर देशान्तर्गत चंदवाड नगर के राजा सारंग के मंत्री यदुवंशी वासाहर (वासद्धरु) की प्रेरणा से की थी और उन्हीं को कृति समर्पित

१. दे० प्रशस्ति संग्रह (जयपुर १९५०) पृ० १३८-१४७।

की है।[1] कृति में कवि ने व्रजसूरि, महासेन, रविसेन, जिनसेन, जटिल, दिनकर-सेन, पद्मसेन, कंतसेन, विल्हुसेन, सिंहनदि, असग, सिद्धसेन, गोविंद, सेढि, चतुर्मुख, द्रोणु, स्वयंभु, पुष्पदंत, वीर,[2] इत्यादि के तथा उनकी कृतियों के उल्लेख किए हैं। कृति का रचना काल समाप्त करने का कवि ने वैशाख शुक्ल त्रयोदशी सोमवार स्वाती नक्षत्र सं० १४५४ वि० दिया है।[3] अपभ्रंश के उत्तरकाल परिवर्तनयुग की यह रचना है अतः भाषा, छंद शैली, सभी में प्राचीन चरित काव्यों का अनुगमन किया गया है जिसका कवि द्वारा उल्लिखित प्राचीन कवि सूची से सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है।[4] कवि पुरवाड वंश में उत्पन्न सुहउ का पुत्र था माता का नाम सुहडा देवी था। घूमता हुआ वह गुजरात के पल्हणपुर नगर में पहुँचा और वहाँ श्रीप्रेमचन्द्र मुनि का शिष्यत्व स्वीकार किया और खंम्मात, धार, देव-

---

१. दे० पुणु दिट्ठउ चंदवाडु णयरु, णररयणायरु णं मयरहरु।
ता पतउ सिरि संघाहिवहु; दिट्ठउ वासद्धरु सुअणु।
ताण पेक्खिवि पंडिय धणवालें, विहसि वि मणिउं बुद्धिविसालें।
इत्यादि, वही पृ० १४०-४१।
संधि की पुष्पिका ...वासद्धरणामंकिए वाहुबलि देव...पृ० १४३।

२. अनेक नवीन अनुपलब्ध रचनाओं के उल्लेख हैं यथा—
महासेन का सुलोचनाचरित (अपभ्रंश), जडिल का नवरंग चरित, दिनकर सेन का कंदर्पचरित, अंबसेन की अमिताराधना, मुनिविल्हुसेन कृत, चन्द्र प्रभ चरित, तथा धनदत्त चरित, नरदेव का णवकारनेह, असग का वीर चरित, गोविंद कवीन्द्र का सनत्कुमार चरित, सुकवि सेडि का पउम चरिउ। वही पृ० १४२।

३. तिथि कवि ने विस्तार से दी है वि० सं० १४५४, वैशाख शुक्ल १३, स्वाती नक्षत्र, सिद्धियोग, शशिवार, मृगाँकतुला राशि—
विक्कमणरिंद अंकियसमए, चउदहसय संवच्छरहं गए।
पंचास वरिस चउअहिय गणि, वइसाहहो सियतेरसिसुदिणि।
साउणक्खत्ते परिट्ठियई वरसिद्धि जोगणामें वियइ।
ससिवासरे रासिमयंकतुले गोलग्गे मुत्ति सुक्कें सबले।
चउवग्गसहिउ णवरस भरिउ वाहुवलिदेव सिद्धउ चरिउ।
वही पृ० १४६

४. दे० ऊपर टिप्पणी १।

गिरि, योगिनीपुर सूरिपुर में भ्रमण करता हुआ चंदवाड नगर पहुँचा जहाँ उसका वासाद्धर से परिचय हुआ और वहीं कृति की रचना की।[1]

यशकीर्ति—महाभारत की कथा से संबंधित अनेक कृतियाँ जैन साहित्य में मिलती हैं।[2] यशकीर्ति का हरिवंशपुराण इस परंपरा में सबसे पीछे की कृति है।[3] कृति १३ सन्धियों में समाप्त हुई है जिसमें सम्पूर्ण कडवक संख्या २६६ है। कथा गौतम गणधर द्वारा श्रेणिक से कही गई है। प्रथम संधि में हरिवंश के प्रारंभ से वसुदेव के जन्म तक की कथा है। द्वितीय संधि में कंस का जन्म, कृष्ण जन्म और उनके गोकुल पहुँचने तक की कथा है। नंद यशोदादि के आनंद से संबंधित कुछ पंक्तियाँ इस प्रसंग में इस प्रकार हैं :

णंद जसोवह मणि आणंदिउ। गोउल पुरे सह सव्वहि वंदिउ।
गोइले गोकुल दिणदिणी वड्ढहि। एरिस णंदणि को णउ णंदहि।
अंकिलइवि गोविण खेल्लावहि। डोलहरिहि घल्लेवि झुल्लावहि।
जहे पालहि कंठिहि लायहि। हुल्लरु हुल्लरु वयण सुणावहि। २-१९।

इसी प्रसंग में कृष्ण के बाल्यकाल के परंपरा से प्रसिद्ध पराक्रमों का वर्णन भी किया है और फिर आगे गोपियों के साथ क्रीड़ा का भी समावेश किया है। जैन कवि द्वारा वर्णित शृंगार की कुछ पंक्तियाँ इस प्रकार हैं :

तं पेक्खेवि गोउल गोवियगणु। सुरसरपीडिउ हुउ आउलु मणु।
काविणिवील थणस्थलु दावइ। कंडुकमिरिण कक्ख दक्खावइ। २-२३।

तीसरी संधि में कृष्ण के विवाहों, प्रद्युम्न जन्म तथा उनके पूर्व जन्मों की कथाएँ हैं। आगे कृति में कौरव पाँडवों की उत्पत्ति, पाँडवों के वनवास, द्रौपदी स्वयंवर, भीम द्वारा वकासुरवध, कौरव पांडव युद्ध, नारायण और जरासन्ध का युद्ध, युधिष्ठिर की राज्यप्राप्ति, नारायण के स्वर्ग गमन का वर्णन करके पाँडवों के निर्वाण गमन के करुण प्रसंगों का उल्लेख करके कृति समाप्त हुई है। कृति में जहाँ तहाँ सरस सरल काव्यात्मक प्रसंग हैं, इसके अतिरिक्त इतिवृत्तात्मकता की प्रधानता है, और कवि ने किसी भी उपयुक्त प्रसंग को धर्मोपदेश दिए विना हाथ से नहीं

---

१. वही, प्र० १३९ तथा १४६। कवि के एक भविष्यदत्त चरित नामक ग्रंथ का भी उल्लेख मिलता है वही, भूमिका, पृ० १५।
२. जि० र० को० पृ० ४६०।
३. ग्रंथ की हस्तलिखित प्रति के लिए लेखक जैन सिद्धान्त भवन आरा का कृतज्ञ है।

जाने दिया है। कृति में पद्धडिया शैली का अनुसरण किया है जैसा कवि ने स्वयं संकेत भी किया है।

पद्धडिया च्छंदे सुमणोहरु। भावयण जणमण सवण सुहंकरु।

——ग्रंथ प्रशस्ति।

कृति की रचना कवि ने दिवढा साहु की प्रेरणा से की थी, कवि ने प्रत्येक संधि की पुष्पिका में दिवढा साहु का उल्लेख किया है, दिवढा साहु का कवि ने अंत में परिचय भी दिया है।[1] कृति का रचना काल कवि ने भाद्रशुक्ल ११ गुरुवार सं० १५०० वि० दिया है।[2]

यशकीर्ति की दूसरी कृति 'चंदप्पह चरिउ' ग्यारह संधियों में समाप्त हुई है। आठवें जिन चंद्रप्रभ की कथा इस चरित काव्य का विषय है। प्रारंभिक मंगलाचरण सज्जन दुर्जनों का स्मरण करके कवि ने मंगलवती देश के राजा कनकप्रभ का वर्णन किया है, उनके पुत्र पद्मनाभ थे। संसार की असारता का ज्ञान होने से राजा पुत्र को राज्य देकर विरक्त हो जाता है। दूसरी संधिसे पद्मनाभ का चरित्र प्रारंभ होता है। श्रीधर मुनि से राजा अपने पूर्व भवों का वृत्तान्त सुनते हैं (२-५)। राजा पद्मनाभ का एक अन्य राजा पृथ्वीपाल से युद्ध होता है, जिसमें राजा विजयी होता है किन्तु उसे युद्ध वृत्ति पर पश्चाताप होता है और अपने पुत्र को राज्य सौंपकर श्रीधर मुनि से दीक्षा लेकर विरक्त हो जाता है (६)। अगले भव में पद्मनाभ का जन्म चन्द्रपुरी के राजा महासेन के यहाँ होता है और उनका नाम चन्द्रप्रभ रखा जाता है। बड़े होने पर वे संसार से विरक्त हो जाते हैं और केवल ज्ञान प्राप्त करके अंत में निर्वाण प्राप्त करते हैं (७-११)। कृति प्रधान रूप से कथा प्रधान है, जहाँ तहाँ नगरादि के वर्णनों में कुछ सजीवता अवश्य है।

प्रस्तुत कृति की रचना कवि ने हुंवउ कुल के कुमरसिंह के पुत्र सिद्धपाल के

---

१. **प्रसंग से संबंधित पंक्तियाँ इस प्रकार हैं :**
तहि अयरवाल वंस पहाणु। सिरि गग्गगोतेणं सेयमाणु।
... ...
असराउ विदेहो गुण महंतु। संघहो दिउढा दूमाहिजुत्तु।
दिवढा जसमुणि पत्थयवित्तुवि। काराविउ हरिवंस चरित्तुवि।
——अंतिम प्रशस्ति।

२. **रंजिय जणु विक्कमरायहो गय कालह। महि इंदिय दुसुण अंकालइ। १५००।**
भादव एयारसि सियगुरु दिणेहु। उपरि पुणउ उग्ग सहिहणो।

आग्रह से की थी।[1] सिद्धपाल गुर्जर देशान्तर्गत उन्मत्त ग्राम में निवास करते थे।[2] कवि ने कृति का रचना काल नहीं दिया है और न गुरुपरंपरा ही दी है अतः निश्चय के साथ यह नहीं कहा जा सकता कि उपर्युक्त दो ग्रन्थों के रचयिता एक ही व्यक्ति यशकीर्ति नामधारी हैं। हरिवंशपुराण में कवि ने अपने को काष्ठासंघ के माथुरान्वय के पुष्करगण से संबंधित बताया है और अपनी गुरु परंपरा इस प्रकार दी है : देवसेन, विमलसेन, धर्मसेन, भावसेन, सहस्रकीर्ति, गुणकीर्ति, यशकीर्ति और शिष्य मलयकीर्ति। चंद्रप्रभचरित के रचयिता गुजरात के रहने वाले प्रतीत होते हैं और संभव है वे हरिवंश के रचयिता से भिन्न व्यक्ति रहे हों।

एक तीसरे यशकीर्ति और मिलते हैं जो रयधू के गुरु थे और गोपाचलगिरि पर रहकर जिन्होंने स्वयम्भू के हरिवंशपुराण की दश सन्धियों (सन्धि १०३ से ११२) की रचना की। हरिवंशपुराण के अंत में कवि ने अपने को गुणकीर्ति का शिष्य कहा है।

णियगुरु सिरि गुणकित्ति पसाएं। किउ परिपुण्णु मणहो अणुराएं।

... .

गोवागिरिहे सामीडुविसालए। पणियारहे जिणवर चेयालए।

——भंडारकर इं० पूना की प्रति का अंत।

ये यशकीर्ति और हरिवंशपुराण के रचयिता यशकीर्ति एक ही व्यक्ति प्रतीत होते हैं जैसा कि उनके गुरु के नाम से प्रतीत होता है। ये यशकीर्ति बड़े प्रभावशाली व्यक्ति रहे होंगे क्योंकि वे भट्टारकीय गद्दी के उत्तराधिकारी थे। उनके समय की सीमाएँ निश्चित रूप से ज्ञात नहीं है। रयधू उनके शिष्य थे और रयधू का काव्य-

---

१. प्रसंग की पंक्तियाँ इस प्रकार हैं :

हु वउ कुल नहयलि पुप्फयंत। बहुदेउ कुमरसिंह वि महंत।

नहो सुउ णिम्मलु गुण गणविसालु। सुपसिद्धउ पमणह सिद्धपालु।

जसकित्ति विबुह करि तुहु पसाउ। महु दूरहि पाइय कव्व भाउ। १.।

तथा संधियों की पुष्पिका में भी कवि ने सिद्धपाल का नामोल्लेख किया है।

हय सिरि चंदप्पह चरिए महाकय जसकित्ति विरइए, महाभव्व सिद्धपाल सवण भूसणो पढमोसंधी समत्तो... १

२. गुज्जर देसहं उमत गामु। तहिं छड्डासुउ हुउ दोण णामु।

... ...

नहो सुउ संजायहु सिद्धपालु। जिण पुज्जदाण गुण गणरसालु। अंतिम प्रशस्ति।

काल पन्द्रहवीं शती का अंतिम चतुर्थांश और सोलहवीं शती का प्रारंभिक चतुर्थांश अनुमित किया जाता है और यशकीर्ति ने हरिवंश का रचना काल सं० १५०० वि० दिया है। इस आधार पर यशकीर्ति का समय पन्द्रहवीं शती का उत्तरार्द्ध और सोलहवीं के पूर्वार्द्ध के बीच में माना जा सकता है।

३४ सन्धियों में समाप्त 'पांडव पुराण' नामक एक और कृति यशकीर्ति की मिलती है।[1] कवि ने कडवक शैली में इस कृति की रचना नवगाव नगर में अग्रवाल कुलोत्पन्न वील्हा साहु के पुत्र हेमराज के लिए की थी। इन यशकीर्ति ने भी अपने को गुणकीर्ति का शिष्य बताया है।[2] कवि ने कृति का रचना काल इस प्रकार दिया है:

विक्कमरायहो ववगयकालए, महि, सायर, गहरिसि, अंकालइं।
कत्तियसिय अट्ठामिवुहवासरे, हुउ परिपुण्णु पढमणदीसरे।

प्रशस्ति संग्रह, पृ० १२५

अर्थात् कार्तिक शुक्ल ८ बुधवार वि० सं० १५९७ (१७९७ ?) को कृति समाप्त की।[3]

रयधू—रयधू के तेईस ग्रन्थों का अभी तक पता चला है। आदिपुराण, यशोधरचरित, वित्तसार, जीवंधरचरित, पार्श्वनाथपुराण, हरिवंशपुराण, दशलक्षण जयमाला, सुकोशलचरित, रामपुराण-रामवलभद्रपुराण, षोडशकारण जयमाला, महावीरचरित, सन्मतिजिनचरित, करकंडु चरित, अणथमीकथा, सिद्धचक्रचरित, जिणंधरचरित, उपदेशरत्नमाला, आत्मसंबोधन, पुण्याश्रवकथा, श्रीपालचरित, समस्तगुणनिधान, सम्यग्गुणरोहण, सम्यकत्वकौमुदी और सिद्धान्तार्थसार।[4]

---

१. प्रशस्ति संग्रह पृ० १२२-१२६।

२. अंतिम पुष्पिका—इय पाँडुपुराणे... सिरि गुणकीत्ति सीस मुणि जसकित्ति विरइय साधु वील्हा पुत्त हेमराज णामंकिए.....
...वही पृ० १२५।

३. उपर्युक्त हरिवंशपुराणादि के रचयिता और पांडवपुराण के रचयिता एक ही यशकीर्त्ति प्रतीत होते हैं, क्योंकि दोनों के गुरु गुणकीर्त्ति हैं। अतः यह संवत् कुछ उपयुक्त नहीं प्रतीत होता। प्रशस्ति संग्रह के संपादक ने इस सं० को १५९७ पढ़ा है जो ठीक लगता है। किन्तु १५९७ वि० सं० तक यशकीर्त्ति कदाचित् ही इस योग्य रहे होंगे कि वे ग्रंथ की रचना कर सकें।

४. पं० परमानंद जैन ने अपने रयधू विषयक लेख में इन ग्रन्थों के नाम गिनाए हैं, अनेकान्त, वर्ष ५, किरण १२ पृ० ४०४। आमेर भंडार में रयधू की निम्न

इन ग्रन्थों में से अपभ्रंश भाषा में कौन कौन हैं ठीक ज्ञात नहीं है। कुछ सुविधा-पूर्वक उपलब्ध हुए अपभ्रंश ग्रन्थों का संक्षिप्त अध्ययन इस प्रकार है :

सुकौशलचरित[1]—चार सन्धियों में समाप्त हुई सुकौशलमुनि के चरित्र, से संबंधित रचना है। चारों सन्धियों में ७४ कडवक हैं। प्रथम सन्धि में वंदना, आश्रयदाता का परिचय, मगधदेश, राजगृह नगर तथा श्रेणिक राजा के वर्णन है। श्रेणिक के जिनेश्वर से केवली सुकौशल का चरित्र पूछने पर गणधर कथा प्रारम्भ करते हैं। गणधर ने ऋषभ की उत्पत्ति-वैराग्य आदि का उल्लेख करके उनके वंशधर अन्य इक्ष्वाकुवंशीय राजाओं का संकेत करके दूसरी संधि समाप्त हुई है। इसी इक्षवाकुवंश में कीर्तिधर राजा हुए। उनकी भार्या सहदेवी ने एक पुत्र प्रसव किया जिसके कुशल होने के कारण 'कौशल' नाम रखा गया। राजा एक मुनि के प्रभाव से विरक्त हो गया। सहदेवी ने नगर में ऋषियों-साधुओं का प्रवेश बंद करा दिया इस भय से कि कहीं उनको देखकर उसका पुत्र विरक्त न हो जाये। उसके इस व्यवहार से नगर जन बड़े निराश हुए। उसने संसार में अनुरक्त रखने के लिए पुत्र के बत्तीस रमणियों से विवाह करा दिये। एक दिन अट्टालिका के ऊपर से राजकुमार ने एक मुनि को देख लिया और सूपकार से कुमार को ज्ञात हुआ कि मुनि कुमार के पिता कीर्तिधवल थे और मुनियों का प्रवेश नगर में बंद होने के कारण उन्हें बाँधा गया है। माता के अनुरोध करने पर भी कुमार घर से विरक्त होकर निकल जाते हैं। कालान्तर में मरकर कर्मानुसार सहदेवी व्याघ्री हुई और कराल स्वभाव के अनुसार उसने सुकौशल को खा लिया। पिता पुत्र अंत में स्वर्ग को जाते हैं। सहदेवी जाति स्मरण होने पर सन्यासिनी होकर स्वर्ग को जाती है।

सुकौशलचरित की भूमिका अनुपात से अधिक है, मुख्य कथा बहुत संक्षिप्त

अपभ्रंश कृतियाँ उपलब्ध हैं:—आत्म संबोधकाव्य प्र० सं० पृ० ८५, धन्य-कुमार चरित प्र० सं० पृ० १०५, पद्मपुराण वही पृ० ११६, मेघेश्वरचरित वही, पृ० १५६ श्रीपालचरित वही पृ० १७८ तथा सन्मतिजिन चरित पृ० १८०।

१. इस ग्रन्थ की हस्तलिखित प्रति के लिए दिल्ली के बाबू पन्नालाल जैन अग्रवाल का लेखक कृतज्ञ है। तथा जैन सिद्धान्त भास्कर जे० सि० भा० भाग १०, किरण २, में डा० रामजी उपाध्याय का लेख 'सुकौशल चरित' सुकौशल-मुनि की कथा हरिषेणाचार्यकृत वृहत्कथाकोष (सिंघी जैन सीरीज)

है। दो एक साधारण वर्णनों के अतिरिक्त कृति में काव्य की मात्रा बहुत कम है। अलंकार और सुभाषितादि के भी प्रयोग आकर्षक नहीं हैं। छंदों के विधान में भी कोई नवीनता या विविधता नहीं मिलती।

कृति की रचना कवि ने अपने गुरु कुमार गणधर की आज्ञानुसार की थी। ग्रंथ के प्रचार के लिए कवि ने आपासाहु के पुत्र रणमल्ल का आश्रय स्वीकार किया था। रणमल्ल राजा डूंगरसिंह तोमर के समय में थे। कृति की रचना कवि ने गोवग्गिर (गोपाचलगिरि) के दुर्ग पर सं० १४९६ वि० में की थी।[१]

सन्मत्तिनाथ चरित[२]—दश सन्धियों की इस रचना में अंतिम तीर्थंकर महावीर की कथा है। प्रारंभ में कवि ने बताया है कि श्रुतदेवी ने स्वप्न में कवि को काव्य-रचना के लिए प्रेरित किया था। कवि के गुरु यशकीर्ति ने भी कवि को उत्साहित किया।[३] चतुर्मुख, द्रोण, स्वयंभू, पुष्पदन्त आदि तथा दुर्जनों का स्मरण करते हुए नम्रतापूर्वक कवि ने जंबूद्वीप, भरतक्षेत्र, मगधदेश, राजगृहनगर, श्रेणिकराज

---

१. प्रसंग से संबंधित पंक्तियाँ इस प्रकार हैं :

कुमरसेणु पुणु परमु जईसरु।

आसीवाउ दिण्णु तहु राए। णेहु समप्पिवि अविरल वाए।

पुणु गुरुषा जंपिउभो पंडिउ। रयधू णिसुणहि सालअ खंडिय।

.. .. ..

तहु सुकोसल चरिउ सुहंकरु। विरयहि भवसय दुक्खखयंकरु। १. २-३

रचना काल इस प्रकार दिया है।

सिरि विक्कम समयंतरालि

चउदह संवच्छरह अन्न। छण्णउव अहिय पुणु जाय पुण्ण।

माहहु जि किण्ह दहमादिणम्मि। अणुराहरिक्खि पयडिय सकम्पि।

गोवागिरि डुंगरणिवहुरज्जि। पह पालंतइ अरिरायतज्ज। ४.२३।

२. ग्रंथ की हस्तलिखित प्रति के लिए लेखक दिल्ली निवासी बाबू पन्नालाल जी जैन अग्रवाल तथा आमेर शास्त्र भंडार जयपुर का आभारी है। दे० प्रशस्ति संग्रह पृ० १८०-१८४।

३. यथा भव्व कमरइ सर दोह पयंडो। वंदिवि सिरि जसकिहि असंगो।

तरस पसाएं कव्वु पयासमि। चिरभवविहिउ असुहु णिण्णासमि।

—१.३।

सुकौशलचरित में रयधू के गुरु का नाम कुमार सेन मिलता है, संभव है उनके

का परिचय दिया है। श्रेणिक के प्रश्नानुसार गौतम ने महावीर के पूर्व जन्मों की कथा (संधि १-४), जन्म (संधि ५), केवल ज्ञानोत्पत्ति (सं० ६), पुद्गलादि के विवेचन (संधि ७-८), तथा महावीर की चरमकल्याण प्राप्ति (संधि ९) की कथा कहकर अंतिम संधि में भद्रबाहु की कथा कहकर कृति को समाप्त किया है। कवि पर पुष्पदन्त का पर्याप्त प्रभाव लक्षित होता है। छंद और भाषा की दृष्टि से रयधू साहित्यिक अपभ्रंश की परंपरा में आते हैं।

अपने गुरु यशकीर्ति की प्रेरणा से कवि ने इस कृति की रचना गोपाचलगिरि पर की थी। इस कृति को कवि ने सहजपाल के पुत्र तोसठ को समर्पित किया है।[१] कवि ने रचना तिथि का निर्देश नहीं किया है, अपनी कुछ कृतियों का कवि ने नाम-निर्देश किया है किन्तु सुकौशल चरित का उनमें नाम नहीं है, संभव है उस कृति से इस कृति की रचना पहले हुई हो, और उस दशा में इसका रचनाकाल सं० १४९६ के पूर्व माना जा सकता है।

बलभद्रपुराण[२]—प्रस्तुत कृति में राम की कथा है। दूसरी संधि में रावण की दिग्विजय का वर्णन है, उसके यम और बालि से हुए कुछ युद्धों के भी उल्लेख हैं। तृतीय संधि में हनुमत की उत्पत्ति, दशरथ और जनक की कथाएँ हैं। चतुर्थ

दो गुरु रहे हों। प्रो० गोपानी ने भारतीय विद्या के एक लेख में यशकीर्ति को ही रयधू माना है जो भ्रम है।

भारतीय विद्या भवन, बंबई १९९९ वि० पृ० ३४६ तथा कुछ अन्तर के साथ पृ० ३०५ पर भी मिलती है।

१. कृति के प्रारंभ में तथा प्रत्येक संधि की पुष्पिका में कवि ने इसका उल्लेख किया है—यथा संधि प्रथम की पुष्पिका—
इय सम्मइ जिण चरिए णिरुवम संडुयरयणसंभरिए, वरचउवग्गपयासो, बुहयणचित्तरसजणिय उल्लासो सिरि पंडिय रयधू विरइए साहु सहज पाल सुयसिरि संवाहिव सहुएव लहु भायर तोसडसाहु णामंकिए...
पढमोसग्गो। तोसड के वंश का विस्तृत परिचय कृति की प्रशस्ति में दिया है। कृति की रचना तोमर राजा डूंगर सिंह के समय में गोपाचलगिरि पर की थी। प्र० संग्रह, पृ० १८२-८७।

२. बलभद्रपुराण की त्रुटित प्रति के लिए दिल्ली निवासी बाबू पन्नालाल जी जैन अग्रवाल का लेखक कृतज्ञ है। प्रति के प्रारंभ का कुछ भाग तथा बीच के अनेक पत्र त्रुटित हैं। कृति का दूसरा नाम पद्मपुराण भी है दे० प्रशस्ति संग्रह पृ० ११६-११९।

संधि में दशरथ और कैकेयी के विवाह की सूचना है। और आगे राम और सीता का विवाह, राम का बनवास, सीताहरण, हनुमदादि से मित्रता तथा सीता के लंका में होने की सूचना (संधि ५), राम रावण युद्ध तथा रावण के स्थान पर विभीषण का राज्यारोहण, तथा राम का लंका से बहुत संपत्ति लेकर लौटने की कथा दो संधियों (६-७) में वर्णन करके आगे लोकापवाद के कारण सीता का निर्वासन, लवकुश जन्म तथा फिर सबके पुनर्मिलन की कथा एक संधि (८) में कही गई है। संधि नौ में सीता के शील की परीक्षा का करुण प्रसंग है, वे अंत में दीक्षा ले कर सब त्याग देती है। राम उनकी वंदना करते हैं। अंतिम दो संधियों (१०-११) में राम, लक्ष्मण, रावणादि, लवकुश के पूर्व जन्मों की कथा तथा निर्वाण गमन की कथा है।

रामकथा के लिए कवि ने जैन संप्रदाय में प्रचलित राम कथा की परंपरा का ही अनुसरण किया है।[१] कृति कवि ने हरिसिंह साहु को समर्पित की है जिसका उल्लेख प्रत्येक संधि के अंत में तथा कहीं कहीं प्रारंभ में भी किया है[२] और गोपाचल-गिरि का भी उल्लेख किया है जिससे ऐसा लगता है कि कवि ने वहीं रचना समाप्त की होगी, अंतिम पत्र त्रुटित होने के कारण रचना तिथि ज्ञात नहीं हो सकी। सुकौशल-चरित में बलभद्रपुराण का उल्लेख मिलता है[३] अतः उसकी रचना उक्त कृति के पूर्व (सं० १४९६) ही हुई होगी।

संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश में रयूध ने रचना की। ऊपर उल्लिखित तेईस कृतियों के अतिरिक्त रयधू ने अन्य ग्रन्थों की भी रचना की होगी।[४] उनकी रच-

---

१. रविषेणाचार्य के पद्मपुराण के आधार पर प्रस्तुत कृति में कथा मिलती है।

२. इय वलहद्दपुराणे.....सिरि पंडिय रयधू.....सिरि हरसीहसाहुकंटि्ठ-कंट्ठाहरणे.....परिच्छेउसमत्तो ।

३. वलहद्दहु पुराण पुणु तीयउ। णियमण अणुराएं पइं कीयउ। सुकौशल चरित १.२ ।

४. सन्मतिजिन चरित में उन्होंने मेघेश्वर चरित का उल्लेख किया है पुणुमेहेसर चमुवइ चरियउ, लोइ पयासिय बहुरस भरियउ। १.९। इसके अतिरिक्त उसी कृति में कुंथु पाश्र्व विज्ञप्ति, सिद्धचक्रविधि, सुदर्शन शील कथानक, तथा धन्यकुमार चरित के भी उल्लेख मिलते हैं। सिद्ध चक्रविधि और श्रीपाल चरित एकही कृति हैं। धन्यकुमार चरित ४ सन्धियों में समाप्त हुआ है। गोपाचलगिरि पर इसकी रचना की थी और भुल्लण को कृति सम-

नाओं में प्राप्त सूचनाओं से ज्ञात होता है कि उनका बहुत दिनों तक गोपाचलगिरि पर निवास स्थान रहा। वहाँ के तत्कालीन तोमरवंशीय डूंगरसिंह तथा कीर्तिसिंह राजाओं के वे सम्मान के पात्र रहे होंगे। सम्यक्त्व कौमुदी की रचना उन्होंने कीर्ति सिंह के लिए की थी।[1] कीर्ति सिंह को ज्ञानार्णव की सं० १५२१ वि० में लिखित लेखक प्रशस्ति में राज्य करता हुआ कहा गया है।[2] अतः रयधू का रचना काल सुकौशलचरित के रचना काल से कुछ पूर्व सं० १४९० वि० से सं० १५२१ तक मान सकते हैं। यशकीर्ति और कुमारसेन रयधू के गुरु थे।[3] अपनी कृतियों में जिस प्रकार की नम्रता का प्रदर्शन किया है उससे रयधू के सरल प्रकृति होने का अनुमान किया जा सकता है।[4] रयधू के पिता संघाधिप हरिसिंह थे, देवराज उनके पितामह थे।[5] जन्मादि का कहीं उल्लेख नहीं मिलता। ये दिगंबर जैन संप्रदाय के थे।

रयधू के पीछे भी अपभ्रंश में रचित कई रचनाएँ मिलती है किन्तु इस परंपरा का रयधू को अंतिम प्रतिष्ठित आचार्य मान सकते हैं। उनके समय से पहिले अपभ्रंश का साहित्य की भाषा के रूप में स्थान रह गया था किन्तु मध्य देश में बैठकर इतनी कृतियों की उस भाषा में रचना करना एक महत्वपूर्ण बात है। उनकी कृतियों

र्पित की है। प्र० सं० पृ० १०५-१०७। मेघेश्वर चरित तेरह सन्धियों में समाप्त हुआ है और खेमसीहसाहु को समर्पित किया गया है (दे० प्र० सं० पृ० १५६–१५९।) पुण्याश्रव कोश भी अपभ्रंश कृति है।

१. अनेकान्त, वर्ष ५, किरण १२, पृ० ४०४।

२. वही, पृ० ४०३।

३. सुकौशल चरित में रयधू ने कुमारसेन को अपना गुरु कहा है, और सन्मतिजिन चरित में यशकीर्ति को गुरु कहा गया है। यशकीर्ति काष्ठासंघ की माथुरान्वय परंपरा के थे तथा पुष्करगण भट्टारक इनकी उपाधि थी।

४. यथा : हउं तुच्छ मह कव्वु किह कीरमि। विणुवलेण किं मरणमहि भीरमि।
णो आयण्णिय वायरण तक्क। सिद्धंत चरिय पाहुड अवक्क।
अम्हारिसेहिं णियधर कईहिं, वुहकुलहं मज्झि उज्झियमईहिं।
—सन्मति जिन चरित, १.९।

५. अनेकाँत, वही पृ० ४०१ तथा सुकौशल चरित-तं णिसुणिवि हरिसिंघहु णंदणु . . . १.३।
प्रशस्ति संग्रह पृ० १८२, तथा पृ० १७९-८० हरिसिंघ संघविहु पुत्तु रयधू कइगुणगणनिलउ। वही पृ० १८० तथा वही पृ० १०६ आदि, १४७।

के अध्ययन से निश्चय ही बहुत सी नवीन महत्वपूर्ण सूचनाएँ मिलेंगी। निश्चय ही रयधू के सम्मुख ऐसा पाठक समाज रहा होगा जिसको सम्मुख रख कर ही उन्होंने अपभ्रंश कृतियों की रचना की होगी।

नरसेन—८२ कडवकों की कृति श्रीपाल चरित[1] एक सुंदर प्रेम कथा है। आत्म विश्वासी, दृढ़ साहसी धार्मिक तथा अनेक गुणों से युक्त श्रीपाल का चरित्र कृति का मुख्य विषय है। अवन्ती नगरी के राजा प्रजापाल ने अपनी रूपवती और गुणवती पुत्री मयनासुंदरी का विवाह रुष्ट होकर एक कुष्ट रोगी से कर दिया। पिता की आज्ञाकारिणी मयनासुन्दरी ने कोई आपत्ति नहीं की। समाधिगुप्त नामक मुनि के उपदेशानुसार उसने सिद्धचक्र पूजा की। जिनपूजा से उसके पति श्रीपाल का शरीर स्वस्थ हो गया। श्रीपाल अपनी राजधानी चंपापुरी (अंशदेश) चला जाता है। एक समय वह व्यापार के लिए वत्स देश पहुँचा जहाँ धवल सेठ था। धवलसेठ भी उसी सार्थवाह में सम्मिलित हो गया। वे समुद्र में यात्रा करते हुए रत्नद्वीप के समीप पहुँचते हैं। मार्ग में बर्बर चोरों से श्रीपाल ने धवल सेठ की रक्षा की और हंस द्वीप में पहुँचकर राजकुमारी रत्नमंजूषा से विवाह किया। कपटपूर्वक धवल सेठ श्रीपाल और रत्नमंजूषा को प्रसन्न कर लेता है और रत्नमंजूषा पर अनुरक्त हो जाता है। वह कपट करके श्रीपाल को समुद्र में ढकेल देता है और उसकी स्त्री के पास प्रेम प्रस्ताव भेजता है। विकल रत्नमंजूषा की प्रार्थना सुनकर जलदेवी प्रकट होती है तथा पूर्णभद्रदेव प्रकट होकर धवल को दंड देता है और रत्नमंजूषा को सान्त्वना देता है। उधर श्रीपाल भी किनारे जा लगता है और दलवट्टण नगर की राजकुमारी गुणमाला से विवाह करता है और वहाँ के राजा का प्रिय पात्र बन जाता है।

धवल सेठ का प्ररोहण भी उसी नगर में पहुँचता है। धवल राजा को भेंट उपहार देने जाता है और श्रीपाल को देखकर चिंतित होता है। उसे राजा के यहाँ से अपदस्थ करना चाहता है। वह इस कार्य के लिए कुछ डोम लोगों को तैयार करता है। राजा के यहाँ वे नृत्य करते हैं और श्रीपाल को देखकर चिल्ला उठते हैं कुछ उसे अपना भाई कहते हैं कुछ पुत्र। राजा अपने जामाता को डोम समझ कर उसे मार डालने की आज्ञा देता है। किन्तु सब वस्तुस्थिति प्रकट होती है और राजा श्रीपाल को पुनः अपनाता है। रत्नमंजूषा भी आ मिलती है। श्रीपाल धवल सेठ को क्षमा कर देता है। श्रीपाल कोंकण देश जाता है और वहाँ के राजा की

---

१. कृति की हस्तलिखित प्रति के लिए लेखक आमेर शास्त्र भंडार, जयपुर के अधिकारियों का कृतज्ञ है। प्र० सं० पृ० १७६-७७।

पद्मावती आदि आठ कुमारियों द्वारा प्रस्तुत समस्याओं की पूर्ति करके उनसे विवाह करता है।[1] अनेक स्थानों पर भ्रमण करता हुआ श्रीपाल अवंती पहुँचता है और विरह व्याकुल मयनासुंदरी को प्रसन्न करता है। वे सब चंपा नगरी जाते हैं। कालान्तर में संजममुनि से अपने पूर्व भवों की कथा सुनकर जिनपूजा करता है। अंत में विरक्त होकर परम निर्वाण प्राप्त करता है।

श्रीपाल चरित्र सरल शैली[2] में लिखी गई साहसपूर्ण प्रेम कथा है। इस प्रकार की सभी प्रेमकथाओं के नायकों को जैन लेखकों ने अनेक घटनाओं के बीच में से विजयी होकर निकलते हुए दिखाया है और केवल एक परिणाम वे दिखाना चाहते हैं कि धार्मिक व्यक्ति ही सफल होता है और सब सुख पाता है। मैनासुंदरी के द्वारा की गई जिनपूजा के फलस्वरूप श्रीपाल स्वस्थ हो जाता है और इतना सुंदर हो जाता है कि सभी कुमारियाँ, जो उसे देखती हैं, मोहित हो जाती हैं। कृति में जहाँ तहाँ सरल ढंग से मानव मनोभावों का सुंदर चित्रण हुआ है।[3] श्रीपाल का समुद्र-

---

१. एक दो समस्याएँ इस प्रकार हैं : सौभाग्य गौरी की समस्या जहं साहसु तंहँ सिद्धि ।

सतु सरीरहं आहतउ, दहया हत्तीबुद्धि ।
कंतु सहाउ म छंडियहं, जं साहसु तं सिद्धि ।

२. कडवक-सन्धि-वद्ध शैली में लिखी कृति है। कवि ने अधिक छंदों का प्रयोग नहीं किया। पद्धडिया, घत्ता प्रमुख हैं। नम्रता प्रकट करते हुए कवि ने कृति के प्रारंभ में गाथा दोहा, छप्पय का उल्लेख किया है, कवि के समय में ये छंद श्रेष्ठ माने जाते होंगे।

तह गाह दोह छप्पय सरुव । जाणिय चउरासी बधरुव । १.७ ।

३. विदेश जाते हुए पति के प्रति मैनासुंदरी के सरल वचन

जणि वीसरहु हमारे सामिय । साहसु पुरिसायारु गुसामिय ।
जण वीसरहु इक्खु परमक्खर । हियइदेव पणतीसउ अक्खर ।
जण वीसरहु सुपिय आलाउह । रायणीइं छतीसउ आउह ।
जण वीसरहु कहउं जगदुल्लहं । सामिय कज्ज करेव्वउ वल्लहं ।
वयणु एक्कुपिय कहउ समासिय । जण वीसरइ णाह इहवासिय ।

हंसद्वीप की राजकुमारी रत्नमंजूषा और श्रीपाल के विवाह का वर्णन—

हरिंहि वंस तहिं मंडपु रइयउ, चउरी भावरि सत्त दिवाविय ।
रयणमजूस तासु परिणाविय ।
गयवसु दिण्ण रयण असरालय रयणकचोल सुवण्णइ थालइ । १.३५ ।

यात्रा पर जाना और फिर वहाँ धवल सेठ द्वारा समुद्र में फेंका जाना और फिर मिल जाने का प्रसंग मध्ययुग के अनेक काव्यों का प्रिय विषय है।[1]

नरसेन की दूसरी छोटी कृति वर्द्धमान कथा[2] है। इस कृति में वर्द्धमान् तीर्थंकर का प्रसिद्ध चरित्र वर्णित है। कोई नवीनता नहीं है।

अपनी कृतियों में नरसेन ने न तो अपने संबंध में ही कुछ कहा है और न रचना तिथि ही दी है। अनेक प्रयोग ऐसे मिलते हैं जिससे वे बहुत पुराने प्रतीत नहीं होते।[3] श्रीपाल चरित की एक हस्तलिखित प्रति सं० १५१२ वि० की लिखित मिलती है और वर्द्धमान कथा की प्रति भी बहुत पुरानी प्रतीत होती है। अतः निश्चय ही नरसेन विक्रम की पन्द्रहवीं शती से पीछे के नहीं हो सकते।

जयमित्रहल––ग्यारह सन्धियों में समाप्त वर्द्धमान चरित्र जयमित्र हल की कृति में अंतिम तीर्थंकर महावीर की कथा है।[4] कथा में कोई नवीनता नहीं है। कृति के अंत में कवि ने अपना परिचय या रचना तिथि नहीं दी है। देवराम के पुत्र (?) होलिवर्मा को कृति समर्पित की गई है।[5] कवि ने अपने गुरु का नाम पद्मनंदि दिया है जिससे भी कवि के काल का अनुमान लगाना संभव नहीं है।[6] कवि ने अपने पुत्र का नाम अल्ह साहु बताया है और उसके लिए मंगल कामना की है।[7] कृति की सबसे प्राचीन हस्तलिखित प्रति सं० १५४५ वि० की

---

१. जायसी आदि की प्रेम कथाओं में भी यह मिलता है। दे० आगे प्रभाव वाले भाग में।

२. आमेर शास्त्र भंडार, प्रशस्ति संग्रह, पृ० १७०-७१।

३. हमारे (टिप्पणी १ के उद्धरण में), टापू (द्वीप दीव टापू संघट्टहि १.४१) धोबी चमार घर करहिं भोज्जु (२.४९) इत्यादि।

४. दे० प्रशस्ति संग्रह जयपुर १९५० पृ० १६७-१७०. जैन सिद्धान्त भास्कर भाग ११, किरण १ पृ० ३८-४०।

५. खंदउ देवराम खंदणुधर होलिवम्मु कण्णवउ णयकर
एहु चरितु जेण वित्थारिउ लेहाविवि गुणियणउवयारिउ, वही, पृ० १६८।
तथा संधियों की अंत की पुष्पिकाओं में––
इय सिरी वड्ढमाणकव्वे पयडिय. . .विरइय जयमित्तहल्लसुकइ तो. . बहोलिवम्मकण (सूणा?) हरणे. . एयारहयो संधिपरिछेउ समत्तो।

६. पउमणंदि मुणिणाह गणिंदहु चरण सरणु गुरु कइ हरि इंदहु। वही पृ० १६८.

७. अल्हसाहु साहसु मह्नु णंदणु, सज्जण जलमण णयणाणंदणु.
होहुचिराउ सणियकुलमंडण. मग्गण जण दुहरोरविहंडण, वही, पृ० १६८।

है[1] अतः कृति का रचनाकाल इससे पहिले होना निश्चित है।

हरिदेव—दो सन्धियों में समाप्त 'मदन पराजय'[2] हरिदेव की एक रूपक कृति है। पहिली संधि में मदन के अखंड राज्य और वैभव का वर्णन है। दूसरी संधि में मदन, पंच इंद्रिय, मिथ्यात्व, मूढत्व, मोहादि भटों को लेकर महावीर पर आक्रमण करता है। महावीर मदन और उसके भटों को परास्त कर देते हैं। कवि ने मोहादि भटों और ज्ञान के संघर्ष का वर्णन युद्ध की शब्दावली में ही किया है जो हास्यपूर्ण लगता है।

कवि ने कृति के अंतिम पद्य में तथा संधियों की पुष्पिकाओं में अपना नाम 'हरिदेव' दिया है। रचनाकालादि का उल्लेख नहीं किया।[3] कृति की प्रति सं० १५७६ की है अतः कवि ने उससे पूर्व कभी कृति की रचना की होगी।[4]

माणिक्कराज—नागकुमार चरित और अमरसेन चरित दो अपभ्रंश कृतियाँ माणिक्क पंडित की उपलब्ध हुई हैं।[5] नागकुमार चरित में नौ सन्धियाँ हैं और पुष्पदन्त की कृति के समान ही कथा है कोई परिवर्तन नहीं है। अमरसेन चरित

---

१. प्र० सं० पृ० १७०, पं० परमानन्द जैन ने कृति की एक सं० १६०८ वि० की प्रति का उल्लेख किया है। जैन सिद्धान्त भास्कर, भाग ११, किरण १ पृ० ३८-४०।

२. हस्तलिखित प्रति के लिये लेखक आमेर शास्त्र भंडार के अधिकारियों का कृतज्ञ है।
दे० प्रशस्ति संग्रह पृ० १५३-५४, कृति के प्रारंभ के ९ कडवक नहीं मिलते हैं।

३. यथा :—मयणपराजए ण विरइय कह हरएविं रंजिवि बुहयणसह. २.२५
इय मयणपराजयचरिए हरिएव कइ विरइए. . दुइज्जउ परिच्छेउ सम्मतो।

४. प्र० सं० पृ० १५४। दे० नागरी प्रचारिणी पत्रिका, भाग ५०, अंक २-३, पृ० १२० पर डा० हीरालाल जैन द्वारा कृति की एक अन्य प्रति की सूचना।

५. माणिक्क पंडित की कृतियों का अध्ययन लेखक ने आमेर शास्त्र भंडार में किया था। माणिक्क पंडित की कृतियों के अस्तित्व का साहित्यिक जगत को प्रथम परिचय देने का श्रेय आमेर भंडार को ही है। अन्यत्र कदाचित् कहीं लेखक की कृतियाँ उपलब्ध नहीं हैं। दे० प्रशस्ति संग्रह पृ० ७९-८५ तथा ११३-११६। दे० जैन सिद्धान्त भास्कर ११.१ पृ० ३८-४०।

में सात सन्धियाँ हैं। पहिली कृति में अमरसेन के पूर्वजन्मों की कथा वर्णित की है। वह गो-चरवाहा था। उसने गुरु का उपदेश सुना किन्तु गुरु ने पुष्पादि से जिनपूजा करने का उपदेश दिया था जिसको वह अर्थाभाव से न कर सका। तब गुरु ने व्रत उपवास करने का उपदेश दिया जिसका उसने दृढ़तापूर्वक पालन किया। अपने स्वामी के आग्रह करने पर भी उसने व्रत भंग नहीं किया न रात्रि भोजन ही किया। इस प्रकार व्रत करते हुए जीवन समाप्त करने के पश्चात् वह सनत्कुमार स्वर्ग को गया। उसको दूसरा जन्म कलिंग देश के राजा के यहाँ मिला, अमरसेन नाम रखा गया। उसकी सौतेली माँ ने उसे कलंकित करना चाहा, कुपित होकर पिता ने उसके वध की आज्ञा दी। किसी प्रकार प्राण बचाकर अमरसेन चला गया और कंचनपुर का राज्य प्राप्त किया। गुरु उपदेश सुनने से वह प्रव्रज्या व्रत लेना चाहता है। पूर्व जन्मों की कथा सुनने से उसे जाति स्मरण हो आता है। वह राज्य त्याग देता है। और अन्त में सद्गति पाता है।

नागकुमार चरित और अमरसेन चरित दोनों की कृतियों पर पूर्व कवियों का पर्याप्त प्रभाव दिखता है। नागकुमार चरित पर पुष्पदन्त की कृति का स्पष्ट प्रभाव है और अमरसेन चरित में अमरसेन के कंचनपुर का राजा बनने की कथा पर स्पष्ट ही करकंडु चरित (कनकामरकृत) की छाया लक्षित होती है। माणिक्क पंडित की दोनों ही कृतियाँ सरल शैली में लिखी गई हैं। काव्यात्मक स्थल बहुत ही कम हैं। प्रारंभ में दुर्जन प्रसंगादि वर्णन परंपरानुकूल हैं। छंदों के प्रयोग में भी कोई विविधता नहीं मिलती। पद्धडिया, धत्ता आदि प्रमुख छंद हैं।

कवि ने अपना तथा अपने आश्रयदाता का विस्तृत परिचय कृतियों की प्रारंभिक तथा अंतिम प्रशस्तियों में दिया है।[1] कवि ने अपना नाम कृतियों की संधियों की पुष्पिकाओं में माणिक्क या माणिक्कराज दिया है।[2] इनके पिता का नाम बुध-

---

१. प्रशस्ति संग्रह पृ० ७९-८५ तथा पृ० ११३-११६। तथा अनेकान्त अक्टू०-नवं० १९४९ पृ० १६०-१६२ पर पं० परमानंद जैन शास्त्री का लेख 'सोलहवीं शताब्दी के दो अपभ्रंश काव्य।'

२. इय वय पंचमिसिरि णायकुमार चारुचरिए.. सिरि पंडिय माणिक्कराज विरइए... (नागकुमार चरित संधि १)

इय महाराय सिरि अमरसेणचरिए चउवग्गसुकह कहा...सिरि पंडिय मणिमाणिक्क विरइए...(अमरसेन चरित संधि १.)

सूरा और माता का दीवा था। जैसवाल कुल के थे।[1] कवि ने अपनी गुरु परंपरा का भी उल्लेख किया है और पद्मनंदी को अपना गुरु बताया है।[2] अमरसेन चरित की रचना कवि ने 'रोहियासपुर' (वर्तमान रोहतक) में सं० १५७६ वि० में की। चौधरी देवराज की प्रेरणा से कृति की रचना की थी और उन्हीं को कृति समर्पित की है। कवि ने आश्रयदाता का विस्तृत परिचय दिया है।[3] नागकुमार चरित की रचना संवत् १५७९ वि० में की तथा जैसवाल कुलोत्पन्न जगसी के पुत्र टोडरमल को कृति समर्पित की है।[4]

अज्ञात—किसी अज्ञात कवि की रचना 'हरिषेण चरित' में जैन संप्रदाय के एक चक्रवर्ती हरिषेण का चरित्र ४ संधियों में समाप्त हुआ है। प्रारंभ में कवि ने मंगलाचरण तथा अपनी विनम्रता प्रकट करते हुए काम्पिल्य नगरी का वर्णन किया है। हरिषेण उसी नगरी का राजकुमार था। वह चंपा के वन में जाता है, कवि ने वन का सुंदर वर्णन प्रस्तुत किया है। द्वितीय संधि में हरिषेण और सिंधु देश की राजकुमारी कन्याकुमारी (कण्णकुमारी) के प्रेम के प्रसंग का वर्णन है अन्त में दोनों का विवाह होता है। तीसरी संधि में हरिषेण और एक विद्याधर के युद्ध का वर्णन है। हरिषेण विद्याधर को परास्त करके चंपा लौट जाता है। अंतिम संधि में हरिषेण के निर्वाण प्राप्त करने की कथा है।

कडवक बद्ध इस चरित काव्य के रचयिता ने अपना नाम नहीं दिया है प्रारंभ के एक पद्य में हर्ष (?) कवि सिंह और सिद्ध का उल्लेख किया है और उनकी रचना जंबू चरित का उल्लेख किया है।

नवि सुललिउ वाणि नाहि हरिसु, कवि सीहहु जंबू असमसरिसु
तथा-पणवेवि सिद्ध पुणु कहमि कह ।

सिद्ध या सिंह का काल भी निश्चित नहीं है अतः इससे प्रस्तुत रचना के काल

---

१. दे० नागकुमार चरित के प्रारंभ के पद्य, पृ० ११३-१४ प्रशस्ति ।
अमरसेन चरित—प्रारंभिक अंश, प्रशस्ति० पृ० ७९ ।

२. वही, पृ० ८० आदि ।

३. वही पृ० ११४-११५ कृति की हस्तलिखित प्रति सं० १५९२ की है ।
रचनातिथि इस प्रकार दी है:—
विक्करायइववगयकाले, लेस मुणीस विसर अंकाले,
पणरहसयगुणासिय उरवालें, फागुणचंदिण वलि ससिकालें
णवमी सुहणक्लित्तु सुहवालें, सिर पिरथीचंदु पसायं सुंदरु ।

४. कृति की हस्तलिखित प्रति के लिए लेखक आमेर शास्त्र भंडार का कृतज्ञ है।

पर कोई प्रकाश नहीं पड़ता। कृति की हस्तलिखित प्रति सं० १५८३ की है अतः कृति का रचनाकाल इससे पूर्व अवश्य होना चाहिए।[1]

श्रुतकीर्ति —श्रुतकीर्ति की दो अपभ्रंश रचनाएँ कडवकबद्ध प्राप्त हुई हैं ६० सन्धियों की परमेष्ठिप्रकाशसार[2] और ४४ सन्धियों की हरिवंशपुराण।[3] दोनों ही कृतियों के कथा विषय में कोई नवीनता नहीं है। प्रथम ग्रंथ की रचना कवि ने वि० सं० १५५३ में मालवा में स्थित डवचल (?) ग्राम में की थी वहाँ जयसिंह संघपति थे।[4] और दूसरी कृति की रचना गंगा यमुना की अंतर्वेदी में स्थित अभयपुर नगर के काष्ठसंघ के चैत्यघर में की।[5] कदाचित् कवि ने किसी 'धर्मपरीक्षा' कृति की भी रचना की थी जैसा एक उल्लेख से प्रतीत होता है—

विरइय पढमतिमहि विस्थारिय, धम्मपरिक्ख पमुह मणहारिय।

—प्र० सं० पृ० १२२

भगवतीदास—भगवतीदास का मृगाँकलेखाचरित्र (या चंद्रलेखा)[6] कदाचित् सबसे अंतिम अपभ्रंश कृति है जिसका रचनाकाल वि० सं० १७०० है।[7] कृति में कडवक बद्ध शैली का पालन तो किया गया है किन्तु समयानुकूल प्रभाव के अनुकूल दोहों के प्रयोग भी मिलते हैं तथा बीच बीच में तत्कालीन काव्यभाषा का भी

---

१. दे० प्र० सं० पृ० २००।

२. दे० प्रशस्ति संग्रह, पृ० १२०-१२२।

३. वही, पृ० १९५-१९८।

४. रचना तिथि इस प्रकार दी है :

दहपणसयलेवण गयवासइं पुण विक्कमणिवसंवच्छर हैं।
तह सावणमासहु गुरपंचमिसहुं गंधु पुण्णु तयसहसतहें हे
मालव देस दुगामें डवचलु वट्टइ सहिगयासु महायलु
साहिण सीरुणाम तह णंदणु रायधम्म अणुरावउ वहुगुणु।
पुज्जराजु बणिभंति पहाणइं उसरदासु गयंदहं आणइं
जइसिंधु तह संघवइ पसत्थइ संकरु णेमदासु वुहतत्थइ

वही, पृ० १२१ आदि।

आश्रयदाता का वंश परिचय और भी दिया है।

५. दे० वही, पृ० १९६ आदि।

६. दे० वही, पृ० १५३-१५४। दे० जैन सिद्धान्त भास्कर ११.१. पृ० ३८-४०।

७. वही, पृ० १५५।

व्यवहार मिलता है। अपभ्रंश परंपरा की यह कदाचित् अंतिम कृति है। भगवती दास देहली के भट्टारक गुणचंद्र के प्रशिष्य तथा भट्टारक महेन्द्र सेन के शिष्य थे। इन्होंने हिन्दी में अनेक ग्रन्थों की रचना की है।[१]

जैन अपभ्रंश साहित्य का जो अध्ययन यहाँ प्रस्तुत किया गया है वह किसी भी प्रकार पूर्ण नहीं कहा जा सकता। अनेक छोटे बड़े कडवक बद्ध चरित काव्य,[२] व्रत कथाएँ[३] तथा अन्य कृतियों में स्वतंत्र पद्य उद्धृत[४] मिलते हैं। शास्त्र भंडारों

---

१. दे० हिन्दी जैन साहित्य का संक्षिप्त इतिहास, पृ० १००-१०३।

२. कुछ कृतियाँ इस प्रकार हैं—गुणभद्र के शिष्य पूर्णभद्र कृत पाँच सन्धियों में समाप्त काव्य सुकुमाल चरिउ की खंडित प्रति आमेर शास्त्र भंडार में है, कृति अपभ्रंश में है, उसी प्रकार आसवाल कृत 'पासणाह चरिउ' की एक अपूर्ण प्रति सं० १८९१ की लिखी है दे० ना० प्र० पत्रिका सं० ५०-३-४ पृ० १२० तथा जैन सिद्धान्त भास्कर ११.१. पृ० ३८-४० तथा महाचंद्र कृत शान्तिनाथ चरित (सं० १४८७ वि० में रचित वही पृ० ४० तथा अनेकान्त वर्ष ५, किरण ६-७) संधिबद्ध काव्य की प्रति प्राप्त हुई है। एक या दो सन्धियों में समाप्त होनेवाली छोटी छोटी अनेक कथा कृतियाँ मिलती हैं। यथा–आमेर शास्त्र भंडार के गुटकों में प्राप्त कुछ कृतियाँ इस प्रकार हैं नवकार महात्म्य (५ कडवक), सुदर्शन पाथडी (७ कडवक) बाहुबलि पाथडी (९ कडवक), द्वादशानुप्रेक्षा (१६ कडवक), अणथमी संधि (१६ कडवक), मणुय संधि (८ कडवक), शिवकुमार जयमाल (कवडक २९), रोहिणी विधान कथानक (२ संधि, कडवक १७) इत्यादि।

३. व्रत कथाओं का वाह्य रूप संद्धिवद्ध चरित काव्यों के समान ही है। अनेक सुंदर काव्यमय व्रत कथाएं मिलती हैं, निर्झर पंचमी व्रतकथा आदि सुंदर कथा कृतियाँ हैं।

४. अनेक प्राकृत कृतियों में अपभ्रंश के पद्य बिखरे हुए मिलते हैं : महावीर चरित (सं० ११३९) में गुणचंद्र ने पद्धडिया, रड्डा, धत्ता आदि छंदों में लगभग ७० अपभ्रंश पद्य उद्धृत किए हैं। (दे० पृ० ३, २९, ५२-५६, ७५-७६, ८०, ११३-११५, १२०-२, २१५, २३२, २९७ तथा ३११-१२ इत्यादि) देवेंद्रगणि या नेमिचंद्र के महावीरचरित (सं० ११४१ वि०) में रोला, रड्डा, पद्धडिया छंदों में अपभ्रंश के ५२ पद्य मिलते हैं. इन पद्यों में जिन स्तुतियाँ मिलती हैं (दे० याकोबी, स० कु० च० भूमिका, पृ० २२)

में भी अभी निश्चय ही बहुत सी सामग्री मिलेगी। पीछे के पृष्ठों में जो ऐतिहासिक परिचय जैन अपभ्रंश का दिया गया है उसमें साहित्यिक स्वच्छंदता यद्यपि कम है तथापि यह निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि अपभ्रंश साहित्य के सभी रूप और सभी विशेषताएँ जैन अपभ्रंश साहित्य में सुरक्षित रह गई हैं। विषय की दृष्टि से सभी प्रकार की रचनाओं में एक नीरस समानता है। चाहे पुराण प्रसिद्ध कथा नायक हों, चाहे लोक से लिए गए हों सभी को धार्मिक प्रवृत्ति से युक्त चित्रित किया गया है। लेकिन एक पूर्व निश्चित उद्देश्य को सामने रखते हुए भी जैन काव्यों का नायक मनुष्यलोक का ही व्यक्ति है, उसे कवियों ने 'अद्भुत' रूप कभी प्रदान नहीं किया। शुभ कर्म करने वाले को शुभ फल और चरम फल निर्वाण की प्राप्ति कराना भारतीय चिन्ता धारा की सामान्य विशेषता है। इन काव्यों में से कुछ को खंड काव्य कहा जा सकता है कुछ को महाकाव्य, पौराणिक इतिवृत्तात्मकता को छोड़ कर महाकाव्य की सभी विशेषताएँ इनमें मिल सकती है। जगत् और जीवन के प्रति एक बहुत ही संतुलित वैराग्यपूर्ण, नश्वरता की झलक लिए दृष्टि कोण जैन अपभ्रंश की समस्त रचनाओं में मिलता है।

छंदों की दृष्टि से सभी चरित काव्य एक समान हैं। कडवक बद्ध शैली का सभी में अनुसरण किया गया है। कड़वकों के मूल भाग में चाहे किसी छंद का प्रयोग हो कडवकान्त में घत्ता का प्रयोग ही किया गया है, आगे हिन्दी में इस विधान का पूरा अनुकरण किया गया है, घत्ता का स्थान दोहा ने अवश्य ले लिया है। अलंकार विधान में जैन कवि कुछ उन्मुक्त अवश्य दिखते हैं। कवि परंपरा से प्रसिद्ध उपकरणों के साथ साथ उन्होंने आसपास के जीवन से भी कभी कभी अप्रस्तुत विधान के लिए पदार्थों, कल्पनाओं को ग्रहण किया है। एक विशेषता प्रायः सभी जैन साहित्य की यह है कि सभी बड़ी कृतियाँ किसी न किसी आश्रय-

---

वर्धमान के आदिनाथचरित (सं० ११६० वि०) तथा देवचंद्र के शान्तिनाथ चरित (सं० ११६०) में भी अनेक अपभ्रंश पद्य मिलते हैं (ए० भं० ओ० रि० इं० १६.१-२ पृ० ३८-३९) लक्ष्मणगणि की कृति सुपार्श्वनाथ चरित (सं० १२०० वि०) में विविध छंदों में लगभग ६८ अपभ्रंश पद्य मिलते हैं (दे० याकोबी, वही, पृ० २२) क्षेमराज की उपदेश सप्ततिका की टीका (सं० १५४७) में लगभग ३५३ अपभ्रंश पद्य मिलते हैं, कुछ संधि बद्ध कथाएँ हैं यथा समरविजयकथा, दमदन्त राजर्षि कथा (दे० याकोबी, वही, पृ० २२-२३) इत्यादि।

दाता का सहारा लेकर ही लिखी गई है, कभी कभी इन आश्रय दाताओं में राजा भी होते थे। इन आश्रयदाताओं का विस्तृत परिचय जैन कवि देता है और अंत में कृति के रचना काल का स्पष्ट निर्देश करना भी जैन कवि कभी नहीं भूलता। अतः कवियों के समकालीन इतिहास की दृष्टि से यह कृतियाँ बहुत महत्वपूर्ण हैं। इस समस्त साहित्य ने किसी न किसी रूप में समकालीन साहित्य तथा आगे के हिन्दी साहित्य को अवश्य प्रभावित किया है जिसका अध्ययन आगे किया गया है। जो हो, प्रस्तुत अपूर्ण अपभ्रंश साहित्य की रूपरेखा अपभ्रंश साहित्य के विस्तार और मूल्य की एक झलक प्रदान करने के लिए पर्याप्त है। चिन्तकों, कवियों के एक विशाल समूह ने संसार और मनुष्य के प्रति क्या विचार रखे हैं, किसको चरम सत्य समझा है, यह प्रकट करने के लिए यह साहित्य पर्याप्त है। मध्ययुगीन भारतीय चिन्ताधारा को समझने तथा भारतीय समाज के संगठन को समझने के लिए यह साहित्य अमूल्य सामग्री प्रस्तुत करता है। संस्कृत साहित्य की बहुरूपी किन्तु विशेष सीमाओं में बद्ध परंपराओं के अतिरिक्त साहित्यिक परंपराओं की झलक देने के लिए यह साहित्य पर्याप्त है।

५

धार्मिक अपभ्रंश : बौद्ध सिद्धों की अपभ्रंश रचनाएँ

बौद्ध धर्म की महायान शाखा की परिणति वज्रयान, मंत्रयान, कालचक्रयान, सहजयान, तंत्रयान आदि के रूप में हुई[1]। बौद्ध सिद्धाचार्यों ने वज्रयान आदि 'यानों' के सिद्धान्तों की व्याख्या के लिए अपभ्रंश को भी माध्यम बनाया। इस संप्रदाय के सिद्धों की जो अपभ्रंश रचनाएँ अभी तक उपलब्ध हुई हैं उनका बड़े उत्साह के साथ विद्वानों ने अध्ययन किया है। सबसे पहिले म० म० पं० हर प्रसाद शास्त्री ने अनेक बहुमूल्य ग्रन्थों के उद्धार के साथ 'बौद्ध गान ओ दोहा' नाम से सिद्धाचार्यों की रचनाओं को अद्वय वज्र की संस्कृत टीका सहित सन् १९१६ में बंगीय साहित्य परिषद् कलकत्ता से प्रकाशित कराया । इन कृतियों की भाषा पर विस्तृत विचार डा० सुनीतिकुमार चैटर्जी ने किया है[3]। डा० शहीदुल्ला ने इन रचनाओं में व्यक्त भावधारा भाषा आदि का अध्ययन मूल कृति के अंशों के अनुवादादि को फ्रेंच भाषा में तथा मूल पाठको रोमन लिपि में प्रकाशित कराया[4]।

---

१. क. डा० बी० भट्टाचार्य, ए पीप इन्टु द लेटर बुधिज्म' ए० भा० ओ० रि० इं० भाग १०, १९२९ ।

ख०. भूमिका : साधनमाला गा० ओ० सी० नं० ४१ भाग २ बड़ौदा १९२८।

२. पूरा नाम इस संग्रह का था 'हाजार बछरेर पुराण बाँगाला भाषाय बौद्ध गान ओ दोहा' बौद्धगानों के साथ सरह और कान्ह के दोहा कोष भी थे तथा तीसरी कृति डाकार्णव भी थी ।

३. आ० बे० बें० लैं० परि० ६०-६३ ।

याकोबी सनत्कुमार चरित भूमिका पृ० २७ ।

४. पेरिस, १९२८ ई० ले० शाँ मिस्तीक, द कान्ह ए सरह, ले दोहाकोष, ए ले चर्या, डा० शहीदुल्ला के इस अध्ययन में अनेक भूलें हैं, नाथ सिद्धों और बौद्ध सिद्धों का वे ठीक ठीक निराकरण नहीं कर सके हैं वही, पृ० २० ।

तीसरा प्रयास डा० प्रबोधचंद्र बागची का है, उन्होंने इन रचनाओं के तिब्बती अनुवाद की सहायता से मूल पाठ का उद्धार किया।[1] चतुर्थ प्रयास फिर डाक्टर शहीदुल्ला ने किया, उन्होंने डा० बागची के पाठ में कुछ संशोधन करते हुएअंग्रेजी भाषानुवाद के साथ बंगला अक्षरों में चर्यागीतों को प्रकाशित कराया[2]। डा० सुकुमार सेन ने चर्यापदों को लेकर काफी ऊहापोह की है, किन्तु अध्ययन में कोई नवीनता नहीं है[3]। इधर हिन्दी जगत को इस साहित्य से परिचय कराने का श्रेय महापंडित राहुल सांकृत्यायन को है। तिब्बती साहित्य के अनुसंधान द्वारा उन्होंने सिद्धों की कविता का परिचय प्रकाशित कराया।[4] राहुल जी का सरह का दोहा कोश नया प्रयास है जिसमें तिब्बती में प्राप्त सरह की रचनाओं का तिब्बती के साथ साथ हिन्दी पद्य बद्ध अनुवाद भी दिया है।[5]

---

१. दोहाकोश—जर्नल अव् द डिपार्टमेंट अव् लैटर्स, भाग २८, कलकत्ता—यूनिवर्सिटी, १९३५। तथा मेटिरियल फार द क्रिटिकल एडीशन अव् द चर्याज, वही, भाग ३० अव् १९३९ ई०, बंगला अक्षरों में मूल पाठ है, तथा तिब्बती अनुवाद रोमन में है।

२. ढाका यूनीवर्सिटी स्टडीज़, १९४०।

३. इंडियन लिंग्विस्टिक्स भाग १०, १९४८ ई० में अंग्रेजी में पद्यानुवाद, मूल चर्यागीति व्रजगीति बंगला अक्षरों में दिए हैं। धर्मदास की प्रहेलिकाएँ क्यों दी हैं, कोई कारण नहीं दिया। उसी के भाग ९ में इन रचनाओं के शब्दों की सूची दी है। 'चर्यागीति पदावली' नाम से डॉ० सेन ने बँगला अक्षरों में एक और संस्करण प्रकाशित कराया हैं—वर्धमान, १९५८ ई०। इन प्रयासों के अतिरिक्त एक प्रयास और हुआ है जिसमें कोई नवीनता नहीं है। एक सुगम संस्करण बंगाली पाठकों को अवश्य मिला है, चर्यापद, संपा० मनीन्द्रमोहन वसु, कलकत्ता। डॉ० बागची और भदन्त शान्ति भिक्षु शास्त्री ने देवनागरी अक्षरों में चर्या पदों का नया संस्करण निकाला है, विश्वभारती १९५६।

४. पहिले उनका यह अध्ययन गंगा पुरातत्वांक में प्रकाशित हुआ था पीछे वही अंश पुरातत्व निबंधावली में 'हिन्दी के प्राचीनतम कवि' नाम से प्रकाशित हुआ, प्रयाग, १९३७।

५. सरह का दोहा कोश, 'विहार राष्ट्र भाषा परिषद्, पटना १९५८, यह संस्करण सरह की भावधारा को समझने के लिए महत्वपूर्ण है।

सिद्धों की इन अपभ्रंश रचनाओं में दो प्रकार की भावधारा मिलती है एक रूप है संप्रदाय के सिद्धान्तों से संबंधित विवेचन का, और दूसरा रूप है जिसमें उपदेश, खंडन मंडन आदि का स्वर प्रधान है। वज्रयान का प्रमुख तत्व शून्यवाद है जिसको वज्रयानी शून्य, विज्ञान और महासुख तीन तत्वों से युक्त मानते हैं। वज्र 'शून्यता' का भौतिक प्रतीक हैं, वज्रयान का अर्थ है सब बुद्धों का ज्ञान। शून्यता के साथ वज्रयानियों ने दैव की कल्पना भी की और अपने नवीन आदर्शों को करुणा का आश्रय दिया। समस्त जगत् के प्राणियों के लिए मोक्ष प्राप्ति की वे प्रतिज्ञा करते थे और कहते थे कि ऐसे व्यक्ति के लिए, जिसने जगत् की मुक्ति के लिए अपने को समर्पित कर दिया है, कुछ भी असंभव नहीं है। कालान्तर में करुणा का यह सिद्धान्त रूढ़ि मात्र रह गया और वे कहने लगे कि योगी के लिए वे सभी कर्म क्षम्य हैं जिनके करने से साधारण व्यक्ति को नरक मिलता है,[1] और फिर तीनों लोकों को अपने आनन्द के लिए उत्पन्न हुआ बताने लगे।[2] वज्रयानियों ने मंत्र, मुद्रा, मंडल, देवताओं को सिद्धि या निर्वाण में सहायक मानने वाला आदि अनेक बातें महायान से ग्रहण कीं। मंत्रों की वे आश्चर्यमयी शक्ति और रहस्य से युक्त बताते थे। वे विधिपूर्वक नियोजित मंत्र से सब कुछ संभव बताते थे।[3] मंत्रों को गुप्त रखा जाता था अतः इन मंत्रों ने अपने चारों ओर एक रहस्यमय वातावरण बना लिया।

वज्रयान की दूसरी विशेषता सर्ववाद की भावना है। सबसे प्रधान देव वज्रधर है जिनसे पांच ध्यानी बुद्ध अमिताभ, अक्षौभ्य, रत्न संभव, वैरोचन और अमोघसिद्धि उत्पन्न हुए माने जाते हैं। विशेष मुद्राएँ और वर्ण ही इनके स्वरूपों को स्पष्ट करती हैं। प्रत्येक ध्यानी बुद्ध की एक शक्ति है जिसके द्वारा अनेक बोधिसत्वों की सृष्टि होती है। ध्यानी बुद्ध, उसकी शक्ति और उनसे उत्पन्न बोधिसत्व मिलकर एक 'कुल' कहलाते हैं। इस प्रकार मिलकर पांच कुल हैं, आराधक कौलिक तथा आराधना कुलसेवा कही जाती है। वज्रयानियों के लिए देवमूर्ति, इन्द्रियाँ,

---

१. कर्मणा येन वै सत्वाः कल्पकोटिशतान्यपि ।
पच्यन्ते नरके घोरे तेन योगी विमुच्यते ॥

२. संभोगार्थमिदं सर्वं त्रैधातुकमशेषतः
निर्मितं वज्रनाथेन साधकानां हिताय च ।

३. किमस्त्यसाध्यं मन्त्राणां योजितानं यथाविधि । साधनमाला, भाग २ पृ० ५७५ ।

ज्ञान संपन्न शरीरभी,वाह्य जगत की वस्तुएं असत्य हैं। शून्य और करुणा मिल कर बोधिचित्त कहलाते हैं, बोधिचित्त का ही अस्तित्व सत्य है। अनेक उद्देश्यों के लिए शून्य का आह्वान किया जाता है और ध्यान किए गए वीजमंत्र के अनुसार शून्य ही यह देवस्वरूप हो जाता है जिसका ध्यान उपासक करता है। इस साधन मार्ग में अनेक सिद्धियों की प्राप्ति भी उद्देश्य हो गया था। सिद्धिप्राप्त साधक सिद्ध पदवी को पहुँच जाता था। सिद्धियों के अतिरिक्त वज्रयानी साधक अन्य असाधारण शक्तियों शान्ति ,वशीकरण आदि की प्राप्ति के लिए भी प्रयत्न करते थे। आगे अनेक आचार इस संप्रदाय में आगए। पंचमकारादि—मत्स्य, माँस, मद्य, मुद्रा और मैथुन—को किसी न किसी प्रकार उचित बताकर संप्रदाय में प्रतिष्ठित स्थान दिया गया है।

सिद्धों की प्राप्त वाणियों में वज्रयान के सिद्धान्तों का क्रम बद्ध विवेचन नहीं प्राप्त होता और न सभी आधारादि का ही संकेत मिलता है। टीकाकारों की व्याख्या द्वारा उनकी वाणियों में संप्रदाय के स्वरूप की झलक मिलती है, वैसे सभी की वाणियों में प्राय: परमानंद के अनुभव को अर्थात् सिद्धि महासुख की अनुभूति को स्पष्ट करने का प्रयास मिलता है।

प्राप्त पद्य चौबीस सिद्धों[1] की रचनाएँ हैं। सम्पूर्ण सैंतालीस चर्यागीत[2] मिलते हैं। पद्यों की संख्या परिमाण के अनुसार इस प्रकार है :

१. कान्हपाद या कृष्णाचार्य	१३ चर्यागीति तथा दोहाकोष में ३२ दोहे
२. भुसुकपाद	८ चर्यागीति
३. सरहपाद	४ चर्यागीति तथा दोहे।

---

१. वज्रयानी सिद्धों की संख्या तिब्बती परंपरा के अनुसार ८४ है। पु० नि० पृ० १४४ व से १४७; वर्णन रत्नाकर रा० ए० सो० बंगल कलकत्ता १९४० में चौरासी सिद्धों की जो नामावली दी है उसमें ७८ सिद्धों के नाम हैं, राहुल जी द्वारा संकलित नामावली और वर्णरत्नाकर की नामावली में भी भेद है; दे० नाथ संप्रदाय, हजारीप्रसाद द्विवेदी, इलाहाबाद १९५०।

२. म० म० पं० हरप्रसाद सास्त्री ने पद्य संग्रह का नाम 'चर्याचर्यविनिश्चय' निश्चित किया था। डाक्टर शहीदुल्ला ने आशचर्यचर्याचर्य नाम उपयुक्त समझा था, चर्या० २४, २५, तथा ४८ का मूल अपभ्रंश रूप नहीं मिलता, तिब्बती अनुवाद के आधार पर इनका फिर संस्कृत में अनुवाद किया गया है। कुल चर्याएँ इस प्रकार पचास थीं।

४.	कुक्कुरीपाद	३	चर्यागीति।
५.	लूइपाद	२	चर्यागीति।
६.	शवरपाद	२	चर्यागीति।
७.	शान्तिपाद	२	चर्यागीति।
८.	विरुपाद	१	चर्यागीति।
९.	गुढ़रीपाद	१	चर्यागीति।
१०.	चाढिलपाद	१	चर्यागीति।
११.	कामलिपाद (कम्बलपाद)	१	चर्यागीति।
१२.	डोम्बीपाद	१	चर्यागीति।
१३.	महीधरपा	१	चर्यागीति।
१४.	वीणापा	१	चर्यागीति।
१५.	आर्यदेव	१	"
१६.	ढेण्ढणपा	१	"
१७.	दारिकपा	१	"
१८.	भादेपा	१	"
१९.	ताड़कपाद	१	गीति।
२०.	कंकणपाद	१	"
२१.	जयनंदीपा	१	"
२२.	धामपा	१	"
२३.	तंत्रीपा	१	"
२४.	तिलोपाद	३५	पद्य दोहा कोष में।[1]

सिद्धों की अपभ्रंश रचनाओं में व्यक्त भावधारा एकसी है। प्रत्येक सिद्ध ने भिन्न भिन्न प्रकार से एक ही तथ्य को व्यक्त किया है। इन सिद्धों की संख्या चौरासी बताई गई है। वास्तव में सिद्ध चौरासी ही हुए थे और उसके पश्चात् परंपरा टूट गई अथवा चौरासी संख्या का कोई विशेष महत्व है कहना कठिन है। राहुल जी ने तिब्बती परंपरा का उल्लेख करते हुए चौरासी सिद्धों की नामावली दी है। वर्णरत्नाकर में भी चौरासी सिद्धों की नामावली दी है। जिससे प्रकट होता

१. इसके अतिरिक्त सिद्धों की वाणियाँ इधर उधर और बिखरी मिलती हैं। साधनमाला, सेंकोद्देश टीका, दड़ौदा, १९४१, पृ० ४८।१, ४८।२, ४८।३, ४८।४, ६३।

है कि चौरासी सिद्धों की परंपरा काफ़ी पुरानी है। सिद्धों की अपभ्रंश वाणियों में व्यक्त भावधारा संक्षेप में इस प्रकार है :

संसार की अविद्या से मुक्त होकर अपने ही अन्तर्गत रहने वाले सहजानन्द की प्राप्ति को प्रत्येक सिद्ध ने सर्वश्रेष्ठ बताया है। अन्य मार्गों को टेढा बताकर सहजमार्ग को अत्यन्त सीधा कहा गया है।

उजुरे उजु छाड़ि मा लेहु रे बंक।
निअड़ि बोहि मा जाहुरे लांक।
हाथेर कांकन मा लेउ दापन।
अपने अपा बुझत निअमन। —चर्या ३२, सरह

'अर्थात् सीधे को छोड़कर टेढे को मत अपनाओ, बोधि निकट है, दूर मत जाओ, हाथ में कंगन है, दर्पण मत लो, आत्मा को जानो।'

इस सहज मार्ग की प्राप्ति होने पर संसार का मोह नष्ट हो जाता है। यह निर्वाण या सहजानंद एक प्रकार से अहंभाव से मुक्त होने की दशा है।[1] साधक जिस समय भव-मोह को छोड़कर धर्मकाय, तथता या शून्यता में लीन हो जाता है उस समय इस दशा का अनुभव प्राप्त करता है, करुणा और शून्य दोनों के मेल से ही निर्वाण प्राप्त होता है।

कमल कुलिस वेवि मज्झठिउ जोसो सुरत विलास।
को स रमइ णह तिहुअणे हि कस्स ण पूरइ आस[2]।
सरह, दोहा, पृ० १४१।

शवरिपा के एक पद में सहजानन्द (परम निर्वाण) की प्राप्ति का क्रम से वर्णन मिलता है। योगी के शिर में सहस्त्रार कमल चक्र होता है। जब साधक का चित्त, गुरु उपदेश द्वारा चित्त को अचित्तता में लीन करके नैरात्मा (परिशुद्धा-वधूती) के सत्य रूप को पहचान लेता है तो उसका समस्त अज्ञान दूर हो जाता है, चित्त की इस आनन्दावस्था को प्राप्त होने पर शिरस्थित महासुख चक्र (सह-

---

१. सरह चर्या ३९। अद्भुअ भव मोहरे दिसइ पर अप्पना।
ए जग जलबिम्बाआरे सहजे सुन अपना।

२. कमल-कुलिश, शून्य और करुणा के वाचक हैं, यथा, सुण्ण तरुवर पुलिअउ करुणा विविह विचित। अण्णा भोअ परत्तफलु, एहु सोकल परु चित्त। दोहाकोष पृ० ३८, १०८।

स्त्रार- कमल) में प्रवेश कर वह चित्त लीन हो जाता है, इसी अवस्था को महा-निर्वाण कहते हैं[1]।

चित्त को तथा शरीर की वृत्तियों के शमन का सिद्धों ने बार बार उल्लेख किया है। लूइपा चित्त की चंचलता का उल्लेख करते हैं और साथ ही जगत को, जल में प्रतिबिम्बित चन्द्र के समान न झूठ कहते हैं न सत्य (चर्या० १.२) भूसुक आनन्द की स्थिति इस काव्य और चित्त से परे बताते हैं।

हरिणी बोलइ हरिणा सुनतो
ए वन छाड़ी होहु भान्तो।
भवतरंगे हरिणार खुर न दीसह।
भूसुक भणइ मूढ हिअहि ण पइसइ[2]। चर्या० ८

'हरिणी नैरात्मा कहती है, ए हरिण-चित्त ! सुनो। इस वन-काय रूपी चित्त को छोड़कर अन्यत्र भ्रमण करो। संसार के त्रास से हरिण के खुर नहीं दिखते। भुसुक कहते हैं मूर्ख के हृदय में यह तत्व नहीं प्रवेश करता।'

यह सहजसुख सर्वश्रेष्ठ आनन्द है। सिद्धों ने इस आनन्द की प्राप्ति के लिए गुरु की सहायता आवश्यक मानी है। बिना सद्गुरु के इस तत्व का बोध नहीं हो सकता, बारबार गुरु की सहायता के उल्लेखों से इस साधन पथ की दुरूहता का अनुमान किया जा सकता है। भूसुक कहते हैं कि जगत् के मायाजाल से सद्गुरु ही मुक्ति दिला सकते हैं :—

माआ जाल पसरिउ रे वाधेलि माआ हरिणी।
सद्गुरु बोहें बूझिरे कासु कहिनि।[3] चर्या० १०

सरह ने कहा है कि गुरु का उपदेश अमृतरस है उसके बिना शास्त्रादि के अध्येता प्यासे मरुस्थली में भटकनेवालों के समान हैं, और वे गुरु के वचनों में दृढ़ भक्ति करने का आदेश देते हैं[4]।

---

१. ढा० स्ट० पृ० ६५, चर्या ३९।

२. जगत् के भ्रामक रूप का भूसुक ने इस प्रकार उल्लेख किया है—
आइए अणुचना ए जग रे भान्तिएं भी पडिहाइ।
राज साप देखि जो चमकिउ, साचे कि ता बोडी खाय।
ढाका० स्ट० गीति ४१

३. अन्य उल्लेख : सद्गुरु बोहे करह सो निच्चल भूसुक।

४. चिन्ताचित्त वि परिहरहु तिम अच्छहु जिम वालु।
गुरु वअणें दिढभत्ति करु होइ जइ सहज उलालु। दोहाकोष।

इसी प्रकार काह्नूपा कहते हैं कि 'मन और इन्द्रियों का प्रसार गुरु की कृपा से ही नष्ट हो सकता है। मन-वृक्ष की पांच इन्द्रियां शाखाएँ हैं, आशादि फल और पत्ते हैं। गुरु वचन कुठार से काटने पर फिर यह वृक्ष हरा नहीं होता।'

मन तरु पांच इन्दि तसु साहा, आसा वहल पात फल वाहा।
वरगुरुवअणे कुठारें छिजअ, कान्ह मणलहतरु पुण न उइजइ।
ज० डि० लै० चर्या ४५।

तिलोपाद ने अपने पद्यों में अनेक बार गुरु की आवश्यकता बताई है[1]। कम्ब-लाम्बरपाद चित्तरूपी नौका को निर्वाण पथ की ओर ले जाने का रहस्य गुरु वाक्यों में बताते हैं :

सोने भरिली करुणा नावी
... ...
वाहउ कामलि सद्‌गुरु पुच्छि ।

डोम्बीपाद संकेत करते हैं कि भवसागर को पार करके सद्‌गुरु की कृपा से ही महासुख प्राप्त होता है।

सद्‌गुरु पाअपसाए जाइव पुनु जिनउरा ।

निर्वाणमार्ग राजपथ है और मायामोह का समुद्र अगाध है, उससे पार होने के लिए गुरु से मार्ग पूछना आवश्यक है[2]। गुरु की आज्ञा से विषयेन्द्रियों का सुख भी वर्जित नहीं है[3]। सिद्धों का परम उद्देश्य महासुख परमानन्द की प्राप्ति है। इस सुख की अनिर्वचनीयता का अनेक बार उल्लेख हुआ है, वाक् पथ से वह सुख अतीत है, उसकी किसी से समता नहीं की जा सकती। ताड़क उस आनन्द के विषय में कहते हैं, कि संसार का भय, जन्म, मृत्यु इत्यादि सब कुछ इस आनन्द की प्राप्ति से विस्मृत हो जाता है।

वांडकुरुण्ड सन्तारे जानी ।
वाक्‌पथातीत काहि बखानी । **चर्या ३७**

इस वाणी द्वारा व्यक्त न हो सकने वाले सहजसुख का गुरु आभास मात्र प्रदान कर सकते हैं, संपूर्ण रूप से इसकी व्याख्या नहीं कर सकते। काह्नूपा कहते हैं :—

---

१. पद्य ६, ८, २६ तथा ३१।
२. शान्तिपाद चर्या १५, भादेपा चर्या ३५, एवें मइ बूझिल सद्‌गुरु बोहें।
३. दारिकपा चर्या ३४।

आले गुरु उएसइ सीस ।
वाक् पथातीत कहिव कीस ।
जेतेंइ बोली ते तवि ढाल,
गुरु वोव से सीसा काल ।
भणइ कह्नु जिन रअण वि कइसा ,
कालें कोव संवोहिअ अइसा ।   चर्या ४० ।

'गुरु शिष्य को व्यर्थ ही उपदेश देते हैं, वाणी से यह परे है, कैसे कहें, सहज के सम्बन्ध में जो कहा जाता है वह उसकी अपव्याख्या ही है, गुरु गूंगा है और शिष्य वधिर । कान्हु कहते हैं कि अतीन्द्रिय सहजानन्द का समझाना वधिर का संकेत द्वारा गूंगे को समझाने के समान है' ।

इस अमृतरसरूप सहजावस्था को न गुरु समझता है न शिष्य :

णउ तम्वाअहि गुरु कहइ राउ तम्बुज्झइ सीस ।
सहजापन्थो अमिय रसु कासु कहिज्जइ कीस

'न तो उस तत्व को गुरु कहता है, न उसको शिष्य ही समझता है, वह सहजावस्था अमृतरस है, कैसे और किससे कहा जाय' ।

इस महासुख की प्राप्ति से संसार के दुःख नष्ट हो जाते हैं और ज्ञान-प्रकाश का उदय होता है[1] । कुछ सिद्धों ने परमसुख में मग्न होने की इस लोकातीत दशा का बड़े भावुक ढंग से वर्णन किया है ।

चेंअन न वेअन भर निद गेला, ।
सअल सुफल करि सुहे सुतेला ।
स्वपने मइ देखिल तिहुवन सुन,
घोरिअ अवनागमन विहुन ।   कृष्ण० चर्या ३६

'सहजानन्द योग निद्रा में चेतना, वेदना कुछ नहीं रही है । जगत् के सब व्यापारों को समाप्त कर के वे ज्ञान-निद्रा को प्राप्त हुए हैं । स्वप्नवत् सब जगत् अलीक दिखता है, त्रिभुवन शून्यमय दिखता है । जन्म मरण से वे मुक्त होगए हैं[2]' । जिस प्रकार लवण समुद्र में मिलकर समुद्ररूप हो जाता है उसी प्रकार मन

---

१. **घोरान्धएं चन्दमणि जिम उज्जोअ करेइ ।**
परम महासुह एक्कुखणें दुरिआसेस हरेए ।   सरह दोहाकोष दोहा ९७

२. **अन्य इस प्रकार की अनुभूति के वर्णन चर्या ३ विरुपाद, चर्या ४ गुंडरीपाद, चर्या ४७, धामपाद, चर्या ४६, जयनन्दीपाद, चर्या ४५ कंकणपाद, चर्या ३७ ताड़कपाद, चर्या १६ महीधरपाद ।**

शून्यता में मिलकर समरस हो जाता है[1]।

इस सहजसुख की प्राप्ति के लिए मन्त्र, तन्त्र, आगमादि शास्त्र ज्ञान की आवश्यकता नहीं है, और न शास्त्र ही उसके स्वरूप को व्याख्या कर सकते हैं, जिसका वर्ण, चिह्न रूप कुछ ज्ञात नहीं है उसको आगम वेद कैसे बता सकते हैं।

जाहेर वाणचिन्हरुव ण जाणी।
सो कइसे आगम वेएं वखाणी। लूइपा, चर्या २९।

दारिकपा कहते हैं कि मंत्र, तंत्र द्वारा किए गए ध्यान से यह महासुख प्राप्त नहीं हो सकता, चर्या ३८।[2] इसी प्रकार कृष्णाचार्यपाद कहते हैं कि पंडित और आचार्य अर्थात् केवल पुस्तकीय विद्या द्वारा यह पाश नहीं छूट सकता।

पाशि न चाहइ मोरि पान्डिआचाए। चर्या ३६।

इन कोरे शास्त्र ज्ञानियों से सरह ने और भी खरे शब्दों में कहा है।

पंडिअ सअल सत्थ वक्खाणअ,
देहहि बुद्ध वसन्त न जाणअ।
अवणागमण ण तेणवि खंडिअ,
तो वि णिलज्ज भणइ हउं पंडिअ॥
बागची-दोहाकोष पृ० १२६।

'पंडित सब शास्त्रों की व्याख्या करते हैं किन्तु देह में निवास करते हुए बुद्ध को नहीं जानते। आवागमन को नष्ट नहीं कर सके किन्तु निर्लज्ज अपने को पंडित कहते हैं।[3]

सरह ने अन्य मतों ब्रह्म, ईश्वर, अर्हन्त, बौद्ध, लोकायत और सांख्य षड् दर्शनों का खंडन किया है, ब्राह्मणों के जातिभेद, चार वेदों, यज्ञादि का खंडन करते हुए वे कहते हैं कि उनसे मुक्ति नहीं हो सकती है। ये अलीक हैं, और उन्हें छोड़ने का उपदेश देते हैं :

---

१. भूसुक, चर्या ४३।

२. सरह मन्त्रादि को विभ्रम का कारण बताते हैं :

मन्त ण तन्त ण धेअ ण धारण,
सव्वइ रे वड विब्भम कारण॥ दोहा। पृ० २०।

तथा कान्हपा दोहा० पद्य २८-२९।

३. कान्हपा ने भी शास्त्रज्ञान में अनास्था प्रकट की है, दोहा० पद्य० २, १२।

छड्डहु रे आलीका बन्धा ,

सो मुंचहु जो अच्छहु धन्धा ।। वही पृ० १७ ।

और कहीं कहीं सरह के पद्यों में संसार में शुभकर्म करने का उपदेश भी मिलता है, जैसे, दान, परोपकार आदि का :—

परऊआर ण किअऊ अत्थि ण दीअउ दाण ।

एहु संसारे कवण फलु वरु छड्डहु अप्पाण ।। वही पृ० ३९ ।

चर्यागीतों में सिद्धों ने अपने भावों को प्रायः रूपकों का सहारा लेकर व्यक्त किया है। सिद्धों ने कहीं कहीं इस प्रकार से दुरूहता को प्राप्त हुई क्लिष्टता का स्वयं संकेत भी किया है : ढेंढणपा कहते हैं ।

निते निते षियाला सिहे समजूझअ ।

ढेण्ढणपाएर गीत विरले वूझइ ।। चर्या ४१ ।

इसी तरह ताड़कपा भी संकेत करते हैं—जो वूझइ ता गले गलपाश—चर्या ४५ । अपनी साधना को सिद्धाचार्य कदाचित् अनधिकारी व्यक्तियों से छिपा कर रखना चाहते थे इसीलिए असाधारण रूप से अप्रचलित शब्दावली का उन्होंने प्रयोग किया है । इस विशेष प्रकार की शब्दावली के प्रयोग के कारण ही कदाचित् चर्यापदों के टीकाकार ने उनकी शब्दावली को 'सन्ध्या भाषा' कहा है[1], जिसका अर्थ टीकाकारों द्वारा व्यवहृत अर्थ के प्रकाश में रूपक की भाषा, अलंकार की भाषा या संप्रदाय में प्रचलित भाषा-अर्थ लिया जा सकता है[2] । और यह सत्य है कि इस सन्ध्या भाषा का ठीक ज्ञान हुए बिना टीका की सहायता से भी अपभ्रंश (—लोक भाषा) के इन पद्यों का अर्थ समझना सहज नहीं है ।

१. उदाहरणार्थ, भुसूक के गीति चर्या ६ की व्याख्या के प्रारंभ में टीकाकार कहता है "हरिणा शब्दः सन्ध्या भाषया कथयति", इसी प्रकार कम्बलाम्बरपाद (चर्या ८) की वाणी की व्याख्या करते समय 'करुणेति सन्ध्याभाषया तमेव बोधिचित्तं नावीति उत्प्रेक्षालंकार परं बोद्धव्यम्' कहा है ।

२. म० म० पं० विधुशेखर भट्टाचार्य संध्या भाषा या संधावचन से आभिप्रायिक वचन या नेयार्थवचन अर्थ लेते हैं ।
डा० विनयतोष भट्टाचार्य भूमिका साधनमाला, प्रथम भाग बड़ौदा ।
डा० बागची हेवज्रतंत्र के आधार पर इसे संध्याभाषा न कहकर संधा भाषा मानते हैं तथा इससे अभिप्राय समझते हैं प्रतीकात्मक भाषा, जो शब्दों के वाच्यार्थ से भिन्न अर्थ का संकेत करती है, स्टडीज इन द तंत्राज भाग १ पृ० २७, कलकत्ता, १९३९ ई० ।

सिद्धों ने प्रायः व्यावहारिक जीवन के पदार्थों को ही अपने रूपकों का उपकरण बनाया है। प्रधान रूपक इस प्रकार हैं :[1]

नौका के रूपक का सहारा कान्ह, डोम्बी, कम्बलाम्बरपाद और सरह ने लिया है, चर्या १३, १४, ३८, ८।

चूहे का रूपक-भूसुक द्वारा चर्या २१ में प्रयुक्त हुआ है।

वीणा का रूपक—वीणापा ने चर्या १७ में इसका प्रयोग किया है।

हाथी का रूपक—महीधरपाद तथा काह्नपा द्वारा चर्या १६, ९, १२ में प्रयुक्त हुआ है।

हरिण का रूपक—भूसुक चर्या ६।

डोम्बी से संयोग शृंगार का रूपक—काह्न, चर्या १०, १९।

संभोग शृंगार का रूपक—विरुपाद, चर्या ३।

रुई धुनने का रूपक—शान्तिपाद चर्या २६।

इन रूपकों में ध्यान देने योग्य रूपक प्रेम परक हैं, जिनमें डोम्बी, शुंडिनी को परिशुद्धावधूती नैरातमा माना गया है और नेरातमा के साथ से जो ब्रह्मानन्द मिलता है उसको शुंडिनी के रूपक द्वारा व्यक्त किया है (गीति ३), विवाह का रूपक देखने योग्य है; जो यह दिखाने के लिए पर्याप्त है कि सिद्धाचार्य संसार से बिल्कुल उदासीन नहीं थे :

भव निर्वाणे पड़ह मादला,
मन पवण वेणि करण्डकशाला।
जउ जअ दुन्दुहि साद उछलिआ,
कान्ह डोम्बी विवाहे चलिया।
डोम्बी विवाहिआ अहारिउ जाम,
जउतुके किथ आणुतु धाम। कृष्णापा, चर्या १९।

जिस प्रकार विवाह में वरयात्रा के समय पटह, ढोल, दुन्दुभि, पालकी चलते हैं और विवाह में दहेज (जउतुक) मिलता है उसी शब्दावली द्वारा सहजसुख की व्याख्या की है, भव और निर्वाण का ठीक ज्ञान करके महासुख को ग्रहण करके मनपवनादि (चित्त) विकल्पों से रहित शून्य और करुणा अभिन्न रूप से मिल गए हैं। और चित्त के ऊपर विजय हुई इससे अनाहत शून्यता शब्द हो रहा है,

---

१. डा० बागची ने इन रूपकों का सुन्दर अध्ययन अपनी कृति 'स्टडीज इन द तंत्राज' में प्रस्तुत किया है, वही पृ० ७४ और आगे।

अविद्या के प्रभाव से काह्न मुक्त हो गए हैं, डोम्बी को पाकर जन्मादि से छूट गए हैं और सर्वश्रष्ठ निर्वाणावस्था अक्लेश ही प्राप्त हुई है।

चौपड़, करह, वृक्ष, कमठ (कच्छप) आदि अन्य अप्रस्तुत उपकरण सिद्धों की रचनाओं में मिलते हैं। जो रूपकों की क्लिष्टता चर्या पदों में मिलती है वह दोहाकोष में संग्रहीत पद्यों में नहीं है। गीत शास्त्रीय हैं और संप्रदाय में दीक्षित शिष्यों के लिए हैं तो दोहा कोष के पद लोकप्रिय और लोक सामान्य की भावधारा के द्योतक हैं।

सिद्धों की वाणियों में प्रयुक्त छंदों में बहुत विविधता नहीं है। चर्यागीति गेय पदों के रूप में है। प्रत्येक चर्या के प्रारंभ में किसी न किसी राग का निर्देश मिलता है[1] जिससे अनुमान किया जा सकता है कि यह पद्य गेय रूप में प्रचलित रहे होंगे। अतः मात्राओं की संख्या एक गीति के सभी चरणों में एक समान नहीं मिलती। सभी छंद मात्रिक हैं। दोहाकोष में प्रधान छंद दोहा है जिसके प्रथम द्वितीय चरणों में १३, ११ मात्राएँ मिलती हैं और यही क्रम तीसरे चौथे चरणों में भी दुहरायागया है। दूसरा छंद सोरठा है जो दोहे के क्रम को उलट देने से बन जाता है, अर्थात् पहिले और तीसरे चरणों में ११ मात्राएँ तथा दूसरे और चौथे में १३ मात्राएँ मिलती हैं, तीसरा छंद पादाकुलक है (हिन्दी की चौपाई)। अन्य छंद अडिल्ला, पज्झटिका, गाथा, रोला, उल्लाला, रागध्रुवक[2] पारणाक[3], द्विपदी, महानुभाव, मरहट्टा प्रयुक्त हुए हैं[4]। प्रायः अन्त्यनुप्रास का प्रयोग सभी पद्यों में हुआ है किन्तु कुछ में इसके व्यतिक्रम भी मिलते हैं[5]। एक एक गीत में कई छंदों का भी मिश्रण हुआ है, यथा, चर्या ४७ (धामपाद) में रगड़ा ध्रुवक,

---

१. निम्नलिखित २४ रागों में चर्यापद रखे गए हैं: पटमंजरी, मलारी, भैरवी कामोद, गवड़ा, देशाख, रामक्री, वराड़ी, गुंजरी, गुर्जरी, अरु, देवक्री, मनसी, बड़ारी (वराड़ी), इंन्द्रताल, शवरी, वल्लाडि, मालसी, मालसी गबुड़ा, कह्न गुंजरी, बंगाल, और पटल।

२. चर्या ४७ धामपाद पद्य १।

३. चर्या ४७ धामपाद पद्य ३।

४. कुछ पंक्तियों में इस प्रकार का मात्रा क्रम मिलता है कि कोई छंद उस प्रकार का नहीं मिलता। दे० ले शां मिस्तीक भूमिका पृ० ५७ और आगे।

५. यथा चर्या ३४ दारिकपा, चिए, कुलें, पंक्ति १ २, चर्या ३७ ताड़कपा पद्य ३, चर्या ४७, धामपा, पद्य २, आगि पानी इत्यादि।

पारणक, पद्धडिया छंदों का प्रयोग है। चतुष्पदी छंदों का प्रयोग द्विपदी के समान किया गया है और दो चरणों से ही छंद पूरा हुआ मान लिया गया है।

सिद्धों की कविता की भाषा का अच्छा अध्ययन किया गया है और इन रचनाओं की भाषा में दो प्रकार के रूप मिलते हैं। एक रूप है जिसमें पूर्वी अपभ्रंश का रूप मिलता है लेकिन जिसमें पश्चिमी अपभ्रंश के भी शब्दरूप मिलते हैं[1] तथा दूसरा रूप पश्चिमी अपभ्रंश (शौरसेनी) का मिलता है। चर्यागीतों में पूर्वीरूप की प्रधानता है और दोहाकोष के पद्यों का रूप पश्चिमी अपभ्रंश का है।[2]

सिद्धों के समय के विषय में विद्वानों में पर्याप्त मतभेद है। एक वर्ग सिद्धों का प्रारंभ आठवीं शती ईस्वी मानता है और दूसरा वर्ग सिद्धों का काल १००० ई० के लगभग मानता है। राहुल सांकृत्यायन ने सबसे आदिम सिद्ध सरहपा का काल आठवीं शती ई० का उत्तरार्द्ध और नवमी का पूर्वार्द्ध माना है।[3] ऐतिहासिक प्रमाणों का राहुल जी ने विवेचन नहीं किया है। इन सिद्धों में बहुत से एक दूसरे के समसामयिक थे,[4] ऐसा नहीं है कि कालक्रम से इन ८४ सिद्धों की गुरु शिष्य जैसी परंपरा सी हो। जो हो इनका काल दो सौ वर्ष तक अवश्य चलता रहा होगा।[5] इनमें से अनेक सिद्धों ने अनेक कृतियों की रचना की थी।[6] सिद्धों की रचना में अक्खड़पन, वैराग्यभावना आदि बातें सामान्यरूप से मिलती हैं

---

१. पूर्वी रूपों के कारण उत्साहपूर्वक चर्यापदों को मैथिली, बंगाली, उड़िया, भोजपुरी विद्वान अपनी अपनी भाषाओं का पूर्वरूप बताते हैं।

२. दे० सु० कु० चै०, ओ० डि० बैं० लैं०, पृ० १११-११२, तथा ले शां मिस्तीक पृ० ३३ और आगे।

३. दे० पुरा० निबं० पृ० १६०-२०४, सिद्धों का काल राहुल जी ने ८००-१२०० ई० तक माना है।

४. यथा सरह, शबर, लूइपाद आदि का काल राहुल जी ने प्रायः एक ही दिया है, दे० वही।

५. सु० कु० चैटर्जी भाषा के आधार पर इन सिद्धों का समय ९५० ई० से १२०० ई० तक मानते हैं। ओ० डि० बैं० लैं० पृ० १२३।

६. राहुल जी ने सिद्धों की कृतियों की सूचियाँ दी हैं, किन्तु उनमें से कितनी वास्तव में अपभ्रंश में हैं या रही होंगी कहना बहुत कठिन है। दे० पु० नि० वही लेख।

और आगे यह सब प्रवृत्तियाँ हिन्दी के संत कवियों में भी मिलती हैं. । बौद्ध सिद्धों का क्रीड़ा क्षेत्र पूर्वी भारत था । बहुत से सिद्ध विहार मगध, बंगाल और वर्तमान उड़ीसा के रहने वाले थे ।

तंत्र शास्त्र से संबंधित दूसरी अपभ्रंश कृति 'डाकार्णव तंत्र' है ।[1] कृति का पूरा नाम 'श्री डाकार्णव महायोगिनी तन्त्रराज' है । डाकार्णव में बौद्धदर्शन के योगाचार और माध्यमिक बौद्ध दर्शनों पर आधारित बौद्धतंत्र या वज्रयान का विवेचन है । कृति में वज्रयान, शून्य, मंत्र, यंत्र, मुद्रा, धारणी, योग और समाधि को सिद्धि प्राप्ति के लिए साधन बताया गया है । इस साधना में गुरु का महत्वपूर्ण स्थान है अतः डाकार्णव में गुरु की आवश्यकता बताई गई है । डाकार्णव में भी सिद्धों की वाणियों के समान ही विवेचन श्रृंखलाबद्ध नहीं है ।

कृति की भाषा शौरसेनी अपभ्रंश पर आधारित अपभ्रंश है । इस भाषा पर पूर्वी भाषा का भी प्रभाव पड़ा है,[2] कृति में मात्रिक छंदों का प्रयोग हुआ है जिनमें चौपाई आदि प्रमुख हैं । छंदों में छंदशास्त्र के नियमों का पूरा पालन नहीं किया गया है, संभव है गेय रूप में होने के कारण मात्रा संख्या में यह शिथिलता रही हो ।[3] भाषा के आधार पर डाकार्णव का रचनाकाल विद्वानों ने बारहवीं शती ई० माना है ।[4] साहित्य की दृष्टि से डाकार्णव का कोई मूल्य नहीं है । भाषा और भावधारा की दृष्टि से ही उसका महत्व है ।

---

१. डाकार्णव, संपा० डा० नगेन्द्र नारायण चौधुरी, कलकत्ता, १९३५ ई० ।
२. वही, पृ० १९ और आगे ।
३. वही, पृ० ३३ आदि ।
४. वही, पृ० १६-१७ ।

६

धार्मिक अपभ्रंश : शैवों की अपभ्रंश रचनाएँ

काश्मीर अद्वैत या त्रिक् शैव संप्रदाय के अनुयायियों द्वारा रचित कुछ सांप्रदायिक कृतियाँ मिलती हैं जिनमें अपभ्रंश का प्रयोग किया गया है। अभिनवगुप्त का **तन्त्रसार** काश्मीर शैव संप्रदाय का एक प्रधान ग्रन्थ है। कृति में शैवमत की व्याख्या करते हुए कहा गया है कि व्यक्ति स्वयं परमशिव है, मल के कारण अज्ञान प्रच्छन होने के कारण परमशिव को देख नहीं पाता। व्यक्ति ज्ञान की सहायता से अपने में परमशिव का अनुभव करता है। अभिनवगुप्त कृत तन्त्रसार उनकी वृहत् कृति तन्त्रालोक का सार है। परमशिव (अद्वैत) ज्ञान या त्रिक् की अनुभूति के लिए तन्त्र सार में दो मार्ग बताए हैं, एक बिना किसी क्रिया की सहायता द्वारा और दूसरा इच्छा, ज्ञान और क्रिया पर आधारित सम्भव. शास्त्र और आण्व उपायों द्वारा। यह त्रिक् या अद्वैत शैव मत अन्य शैव दर्शनों से भिन्न है। त्रिक् दर्शन में अद्वैतवाद के समान ही परमेश्वर शिव, शक्ति आदि की मान्यता है।[1]

तन्त्रसार[2] में २२ आह्निक (—अध्याय) हैं। समस्त कृति संस्कृत गद्य में है। कुछ आह्निकों के अन्त में संस्कृत और कहीं प्राकृत अपभ्रंश पद्य मिलते हैं। प्रत्येक अध्याय में विवेचित वस्तु का जैसे सारांश इन पद्यों में दिया गया हो। प्राकृत या अपभ्रंश को क्यों यह स्थान मिला, विचारणीय प्रश्न है। महार्थ मंजरी में प्राकृत को एक स्थान पर संप्रदाय की भाषा कहा गया है, संभव है कि संप्रदाय की भाषा होने के कारण ही अपभ्रंश को आचार्य न भुला सके हों, या जनता में अपने दर्शन को प्रचारित करने के लिए अपभ्रंश को अपनाया होगा। तंत्रसार

---

१. दे० जगदीशचन्द्र चैटर्जी, काश्मीर शैविज्म, श्रीनगर, १९१४ ई०।

२. तन्त्रसार, संपा० म० म० मुकुंदराम शास्त्री, काश्मीर सीरीज़ अव् टैक्स्ट श्रीनगर, १९१८ ई०।

में १६ अपभ्रंश पद्य मिलते हैं[1]। कुछ पद्यों में प्राकृत का प्राधान्य है। कृति के विभिन्न अध्यायों के विवेच्य विषय का ही इन पद्यों में विवेचन मिलता है, एक पद्य उदाहरण के रूप में देख सकते हैं यथा कृति के प्रथम आह्निक का विषय है, विज्ञान भेद। आत्मा प्रकाशरूप शिव है, स्वतंत्र है, इसको इस प्रकार कहा है:

एहु पआसऊउ अत्ताणत सच्छन्दउ इक्कइ णिअऊउ ।
पूणु घअढह झढि अह कमयस्य एहत परमार्थण शिवरसु ।

'यह प्रकाशरूप आत्मा स्वच्छंद है, अपने रूप को ढंक लेती है। और शीघ्र ही पुनः प्रकट कर देती है तथा क्रमशः यह परमार्थ शिवरस को प्रकाशित करती है। पांचवे आह्निक में प्राण और अपान के कार्यों का वर्णन है तथा निजानंद, निरानन्द, परानन्द, ब्रह्मानन्द, महानन्द और चिदानन्द आनन्द भूमियों का उल्लेख किया है, अन्तिम आनन्द जगदानन्द है। अन्तिम दोहे में परमपद की इस प्रकार व्याख्या की है।

सुण्णउ रविससि दहन सउ उस्सउ एहु सबीरु ।
उहि अच्छन्नउ परमपउ पावइ अचिरें वीरु ॥ आ० ५ ।

इन पद्यों में दोहा, पादाकुलक, पद्धडिया, महानुभाव, सोरठा आदि छंदों का प्रयोग हुआ है। भाषा में कुछ विचित्र प्रयोग मिलते हैं, जैसे 'हत का प्रयोग 'हउं' के लिए मिलता है।[2] तन्त्रसार की रचना अभिनवगुप्त ने सन् १०१४ ई० के आसपास की।

एक दूसरी अद्वैत शैव सिद्धान्तों का विवेचन करने वाली कृति भट्ट बामदेव माहेश्वराचार्य की **जन्ममरणविचार** है।[3] कृति में कहा गया है कि एक ही आदि-

---

१. आह्निक १ के अंत में एक पादाकुलक, २. पादाकुलक ३, १ दोहा तथा एक और पद्य, ४. १ दोहा, ६. एक पद्य, ७. एक महानुभाव छंद, ९. २ दोहा, १२. एक दोहा, १३. एक दोहा और एक सोरठा, १४. पादाकुलक छंद, १९. एक पद्धडिया छंद, २०. एक दोहा छंद, और २१. एक पादाकुलक छंद। कुछ पद्यों में प्राकृताभास मिलता है और अपभ्रंश की विशेषताएँ भी लक्षित होती हैं।

२. यथा आह्निक ४ के अंत में।
हंत सिवणाहु 'अहं शिवनाथो' आदि।

३. काश्मीर संस्कृत ग्रंथावलि १९, संपा० म० म० पं० मुकुंदराम शास्त्री, श्रीनगर १९१८ ई०।

देव की स्वातन्त्र्य महिमा संसार में व्याप्त है। परम शिव की स्वातन्त्र्योद्भूत-शक्ति का विवेचन करते हुए एक अपभ्रंश पद्य उद्धृत किया गया है जिसमें आत्मा के स्वरूप का विवेचन किया गया है। पद्य दोहा छंद में प्रतीत होता है।[१] ग्रंथ का रचना काल ११ वीं शती ईस्वी का अन्तिम भाग माना जा सकता है क्योंकि माहेश्वराचार्य के गुरु योगीश्वराचार्य थे, जो अभिनवगुप्त के शिष्य थे।

गोरक्षनाथ के अमरौघशासन[२] में भी एक अपभ्रंश पद्य मिलता है जिसमें जीव के आवागमन जन्म मरण के संबंध में कहा गया है कि वह मरने के लिए जन्म लेता है और जीव काल के वश में ही रहता है। वह कन्दुक के समान उसे फेंकता रहता है।

काश्मीरी भाषा का सबसे प्राचीन नमूना लल्ला के वचनों **लल्लावाक्यानि**[३] में मिलता है। लल्लेश्वरी का समय यद्यपि १४ वीं शती ईस्वी है तथापि उनके गीतों को लिखित रूप बहुत पीछे दिया गया अतः उसमें भाषा की प्राचीनता ज्यों की त्यों नहीं मिल सकती। भाषा के सम्वन्ध में जो भी कहा जा सके भावधारा की दृष्टि से ललेश्वरी की वाणियों में शैवताँत्रिक संप्रदाय के रहस्यवाद का ऐसा व्यापक स्वरूप मिलता है जो अन्य मर्मियों के समान ही सार्वदेशीय, गूढ और उदात्त है।

काश्मीरी अपभ्रंश में शितिकंठाचार्य ने अपनी कृति महानय प्रकाश लिखी है।[४] कृति में लगभग ९४ अपभ्रंश पद्य हैं जो १४ उदयों में विभक्त हैं। शैव दर्शन के त्रिक् संप्रदाय का कृति में विवेचन है। कृति कृष्णदेवी की वंदना से प्रारम्भ होती है और महार्थ प्रकाश अथवा शिव के स्वरूप का विवेचन है। कृति में शारदा लिपि

---

१. पद्य इस प्रकार है, सअल उत्त पुरिपुण्ण उ, सअल्लउत्त उत्तिण्ण।
परि आणह अत्ताणउ परिमसिवेण समाणउ। वही, पृ० ५
छंद के प्रत्येक चरण में १२ मात्राएं हैं। चतुर्थ चरण में 'समाणउ' के स्थान पर 'सताण' या समण्ण होना चाहिये।

२. काश्मीर संस्कृत ग्रंथावली २० पृ० ९, गोरक्षनाथ की गोरखवाणी में संग्रहीत रचनाओं में अपभ्रंशाभास मिलता है, कदाचित् उनका सच्चा रूप वह नहीं है।

३. लल्लावाक्यानि, संपा० ग्रियर्सन और बारनेट, रायल एशियाटिक सोसायटी, लंदन, १९२० ई० तथा काश्मीर संस्कृत ग्रंथावलि श्रीनगर।

४. महानयप्रकाश, काश्मीर सं० ग्रंथ० २१, श्रीनगर १९१८ ई०।

के अक्षरों के रहस्यात्मक गुणों का भी विस्तृत विवेचन है। शितिकंठाचार्य ने अपने मूल अपभ्रंश पद्यों पर संस्कृत टीका भी लिखी है।

कृति की भाषा उस समय की अपभ्रंश है जब अपभ्रंश धीरे धीरे काश्मीरी का रूप ले रही थी।[1] कृति का रचना काल १५वीं शती ईस्वी का उत्तरार्द्ध है।[2] शितिकंठ की कृति में मात्रिक छंदों का प्रयोग हुआ है। प्रत्येक छंद में चार चरण मिलते हैं। पहिले और तीसरे चरणों में १६, १६ मात्राएँ मिलती हैं तथा दूसरे और चौथे चरणों में १५, १५ मात्राएँ मिलती हैं। इस प्रकार का अपभ्रंश में कोई छंद नहीं मिलता। कृति के छंदों में मात्राओं का क्रम सवैया से कुछ मिलता है।[3]

शैव संप्रदायानुयायियों की अपभ्रंश का जो परिचय दिया गया है उसमें साहित्यिकता का अभाव है। संप्रदाय के सिद्धान्तों का ही विवेचन प्रधान है। महानय प्रकाश के अपभ्रंश पद्यों का अर्थ तो टीका की सहायता से भी समझ सकना कठिन है। इस अपभ्रंश का महत्व दो दृष्टियों से है। इन रचनाओं से अपभ्रंश भाषा के प्रयोग के क्षेत्र का विस्तार और उसकी मान्यता की सूचना मिलती है और अन्यत्र व्यवहृत छंदादि को सर्वप्रियता का परिचय मिलता है। इन रचनाओं का सबसे अधिक महत्व है भावधारा की दृष्टि से। मध्ययुग में उत्तरी भारत के प्रायः प्रत्येक प्रदेश और प्रत्येक संप्रदाय के ऐसे मर्मियों, गूढवादियों की रचनाएँ मिलती हैं जिनका साधना मार्ग बहुत उदार और प्रशस्त था। बौद्ध सिद्धों ने ऐसी रचनाएँ पूर्वीय प्रान्तों में की और उसी प्रदेश में उन्होंने जाति-वर्ण भेद को मिटाकर, घर में ही रहने वाले देव का उपदेश दिया, जैन मर्मियों ने तथा गोरक्षनाथ आदि ने मध्य-प्रदेश में रहकर इस उदार रहस्यवाद का प्रचार किया। और अद्वैत शैवमत के अनुयायियों ने काश्मीर प्रदेश में उसी उदार, वैराग्यपूर्ण निरीह अक्खड़ भावधारा का उपदेश दिया। मध्ययुग के साधन पथों को समझने के लिए काश्मीर शैवों की यह कृतियाँ बहुत महत्वपूर्ण सामग्री प्रस्तुत करती हैं। भाषा और साहित्य की दृष्टि से भी उनका पर्याप्त महत्व है भले ही उसमें साहित्यिक सजीवता न हो और वे नीरस हों। अपभ्रंश की दिग्विजय के सूचक इन कतिपय अपभ्रंश पद्यों का इसी दृष्टि से महत्व है।

---

१. दे० ग्रियर्सन : द लैंग्वेज अव् द महानय प्रकाश 'मेम्वायर्ज़ अव् द रायल एशियाटिक सोसायटी, कलकत्ता १९२९ ई०।

२. दे० वही पृ० ७४।

३. वही, पृ० ७८–७९।

७

ऐहिकतापरक अपभ्रंश साहित्य

पीछे के पृष्ठों में अपभ्रंश साहित्य का जो अध्ययन प्रस्तुत किया गया है उसमें साहित्यिकता का पूर्णरूप से न तो अभाव है और न प्राधान्य। साहित्यिक दृष्टि-कोण भी अनेक कृतियों में प्रधान है किन्तु विशेष साम्प्रदायिक या धार्मिक दृष्टि-कोण को सामने रखकर ही जैन, बौद्ध या शैव अपभ्रंश कृतियों की रचना हुई प्रतीत होती है। साहित्यिक वातावरण होते हुए भी अनेक कृतियों को धार्मिक आवरण पहनाया गया है। फलस्वरूप इस समस्त साहित्य में एक सुनिश्चित धार्मिक उद्देश्य मिलता है और उसी उद्देश्य के कारण साहित्यिक सौन्दर्य को थोड़ी बाधा पहुंची है। विशुद्ध ऐहिकतापरक थोड़ी सी अपभ्रंश रचनाएँ भी मिलती हैं जो धार्मिक या साम्प्रदायिक विचार-धारा से मुक्त हैं। अलंकार शास्त्र से संबंधित ग्रन्थों से ऐसे कुछ प्रबन्ध काव्यों के अस्तित्व की भी सूचनाएँ मिलती हैं किन्तु अभी तक उनमें से एक भी ग्रंथ उपलब्ध नहीं हुआ है।[1] थोड़ा सा जो इस प्रकार का साहित्य उपलब्ध है उसे दो वर्गों में रखा जा सकता है। एक वर्ग में वे मुक्तक-स्वतंत्र पद्य आते हैं जो अलंकार शास्त्र, छंदशास्त्र, व्याकरणशास्त्रादि की कृतियों में उदा-हरण स्वरूप उद्धृत हुए हैं। काव्य सौन्दर्य, सजीवता, आदि की दृष्टि से इस प्रकार के मुक्तक पद्य बहुत ही सुन्दर हैं। इस प्रकार के पद्यों में सहज कल्पना एक या दो प्रकार के छंदों का प्रयोग और भाषा का सरल रूप मिलता है। ध्वनि विषयक उत्कृष्टता के कारण ही इन पद्यों को काव्य समीक्षकों ने उदाहरणों के लिए चुना होगा। दूसरे वर्ग में प्रबन्धात्मक कृतियों को रखा जा सकता है जिनकी रचना

---

१. हेमचंद्र ने काव्यानुशासन में अपभ्रंश के सन्धिबद्ध 'अब्धिमथन' तथा ग्राम्य भाषा के 'भीम काव्य' का उल्लेख किया है। का० नु० ८ सू० ६ तथा विश्व-नाथ ने साहित्यदर्पण में एक अपभ्रंश काव्य का उल्लेख किया है। दंडी द्वारा उल्लिखित आसारबन्ध काव्य भी हमारे सामने नहीं हैं।

किसी प्रकार के कथा सूत्र को लेकर हुई हैं। इन रचनाओं में अनेक प्रकार के छंदों का प्रयोग हुआ है तथा भाषा का रूप भी साहित्यिक (तथाकथित परिनिष्ठित) ही है। इन्हीं दो वर्गों में विभक्त करके इस साहित्य का संक्षिप्त अध्ययन यहाँ प्रस्तुत किया गया है।

१. स्फुट या मुक्तक काव्य :

कालिदास : विक्रमोर्वशीय (चतुर्थ अंक) में कुछ अपभ्रंश पद्य विक्षिप्त राजा पुरूरवा के मुख से कहलाये गए हैं। इन पद्यों के कालिदास कृत होने में पंडितों में गहरा मतभेद है।[1] कालिदास कृत इन पद्यों को न माननेवाले पंडितों ने यह संकेत नहीं किया है कि यह पद्य किस काल के रचे कहे जा सकते हैं। इन पद्यों के रचयिता, रचनाकाल आदि प्रश्नों को छोड़कर उनके काव्य सौन्दर्य पर ही विचार करना प्रस्तुत प्रसंग में संगत होगा। डा० पीशेल ने पन्द्रह पद्य अपने संकलन में उद्धृत किए हैं।[2] इन पद्यों में कालिदास की मनोरम और सजीव कल्पना के अनुकूल ही गीति काव्य का सौन्दर्य मिलता है। कुछ पद्यों में केवल कुछ प्राकृतिक दृश्यों का ही वर्णन है और कुछ में उर्वशी के संबंध में उर्वशी के सदृश गुण, धर्म वाले जीवों से राजा के प्रश्न हैं। रूढि मुक्त वातावरण इन पद्यों में मिलता है। रचयिता या पीछे के संपादक ने इन पद्यों को गेय शीर्षकों के साथ रखा है जैसे चर्चरी[3], कुटिलिका, मल्लघटी[4], खंडिका[5] आदि गीतों का शीर्षक देकर इन पद्यों को उद्धृत किया है। पद्यों के छंद लय प्रधान मात्रिक, अडिल्ला, चर्चरी, रासावलय, दोहा, विद्याधरदास, पज्झटिका आदि हैं। भरत के नाट्य शास्त्र में प्राप्त ध्रुवागीतों

---

१. दे० भूमिका विक्रमोर्वशीय शंकरपांडुरंग पंडित द्वारा संपादित, बंबई १९०१ ई०। तथा डा० ए० एन० उपाध्ये परमात्मप्रकाश, भूमिका, पृ० ५६। अपभ्रंश पद्यों के लिए पंडित का संस्करण देखिए, अंक ४ एपेन्डिक्स १।

२. माटेरिआलिएन त्सुर केन्टनीज़ डेजापभ्रंश, पृ० ५७-६४।

३. विकामोर्वशीय के टीकाकार रंगनाथ ने चर्चरी को गीति विशेष कहा है, वि० एपे० पृ० १४९।

४. टीकाकार ने कुटिलिका तथा मल्लघटी को नाट्य विशेष कहा है, वही, पृ० १५३-४।

५. टीकाकार ने खन्डक को विरह से व्याप्त प्राकृत भाषा निबद्ध गीत कहा है। वही, पृ० १५१-१५६। टीकाकार के उल्लेखों से ऐसा प्रतीत होता है कि चर्चरी आदि लोकगीति नृत्य रहे होंगे।

और प्रस्तुत पद्यों में पर्याप्त वस्तु साम्य है। विक्रमोर्वशीय के अतिरिक्त अन्य किसी संस्कृत रूपक में अपभ्रंश पद्य नहीं मिलते हैं। इससे लगता है कि कालिदास के पीछे यह पद्य उनकी कृति में सम्मिलित किए गए होंगे। भाषा के आधार पर इनका काल निश्चित नहीं किया जा सकता।

चंड—वैयाकरणों में सर्वप्रथम चंड ने अपभ्रंश का उल्लेख किया है तथा दो अपभ्रंश दोहे भी उद्धृत किए हैं जिनमें से एक में योगी को संबोधित करते हुए आत्मा को जानने का उपदेश दिया गया है।[1]

आनन्दवर्धन—ध्वन्यालोक में एक अपभ्रंश दोहा उद्धृत हुआ मिलता है जिसमें मनुष्य को चेतावनी दी है। इस पद्य को आनन्दवर्धन ने स्वरचित बताया है।[2] विषय की दृष्टि से इस दोहे से ऐसा लगता है कि भक्ति विषयक, चेतावनी, तथा उपदेश विषयक पद्यों की रचना अपभ्रंश में होती थी।

भोज—सरस्वतीकंठाभरण में भोज ने अठारह अपभ्रंश पद्य उद्धृत किए हैं। शृंगार रस, ऋतु वर्णन आदि इनकी परिचित भावधारा है। अपने आप में यह पद्य पूर्ण और मुक्त हैं। प्रधान छंद दोहा है, कुछ पद्य अडिल्ला, रासावलय छंद में भी हैं।[3] भोज की दूसरी कृति शृंगार-प्रकाश में भी अपभ्रंश पद्य उद्धृत हुए हैं।[4] उसी प्रकार कुछ अपभ्रंश दोहे रुद्रट के काव्यालंकार[5] तथा एक दोहा धनंजय

---

१. चंड के प्राकृत लक्षण का रचनाकाल ईस्वी छठी शती माना जाता है। परमात्मप्रकाश भूमिका पृ० ६६। अपभ्रंश का नामोल्लेख मात्र ही चंड ने किया है दोहा इस प्रकार है :

> कालु लहेविणु जोइया जिम जिम मोहु गलेइ।
> तिव तिव दंसणु लहइ जो, णियमें अप्पु मुणेइ।

'हे योगी, काल पाकर जैसे जैसे यह योगी मोह को नष्ट करता है तैसे तैसे दर्शन प्राप्त करता है और नियम से आत्मा को जानता है।' यह दोहा परमात्म प्रकाश में भी मिलता है प० प्र० दोहा १.८५।

२. ध्वन्यालोक, काव्यमाला, १९३५ ई० तथा माटेरिए० पृ० ४५, दोहे में कहा है कि अपना समझने वाले मनुष्य को काल वर्जित करता है लेकिन तो भी वह जनार्दन का ध्यान नहीं करता।

३. सरस्वती कंठाभरण, काव्यमाला, बंबई संस्करण।

४. भोज : शृंगार प्रकाश, मैसोर।

५. काव्यालंकार, पृ० ४.१५, ४.२१ तथा ५.३२।

के दशरूपक[1] में भी मिलता है। रुद्रट के पद्य स्वरचित हैं किन्तु धनंजय ने उसे अन्यत्र से उद्धृत किया है। कुछ अन्य कृतियों में[2] भी इसी प्रकार के अपभ्रंश पद्य मिलते हैं, किन्तु इन सब उद्धरणों से संख्या में अधिक तथा महत्त्वपूर्ण उद्धरण हेमचंद्र ने दिए हैं।

हेमचंद्र—हेमचंद्र ने अपने प्राकृतानुशासन में अपभ्रंश का व्याकरण प्रस्तुत करते समय अपभ्रंश के उदाहरण देते हुए पद्य उद्धृत किए है।[3] इन उद्धरणों में नाना प्रकार के भावों का चित्रण हुआ है। शृंगार तथा प्रेम वर्णन, वीररसात्मक उत्साह पूर्ण उक्तियाँ, वर्णन, नीति, सुभाषित, अन्योक्ति, भक्ति एवं प्रसिद्ध पात्रों के उल्लेख इन पद्यों में हैं। सभी पद्य मुक्तकों के रूप में हैं। कुछ पद्यों में नायिकाओं का सौन्दर्य वर्णन मिलता है, यथा—'गौरी (सुंदरी) के वदन की कंचनकान्ति प्रकाश से पराजित होकर, देखो, प्रफुल्लित कर्णिकार वनवास कर रहे हैं।'[4] या, 'देखो, गौरी के मुख से पराजित होकर मृगांक बादलों में जा छिपा है, और भी जो पराजित हुए हैं क्या वे निशंक भ्रमण करते हैं।'[5] नायिकाओं के रूप वर्णन के साथ कहीं नायक के रूप का भी उल्लेख किया है, यथा 'विट श्यामल वर्ण है और प्रिया चम्पक पुष्प के वर्ण की है, कसौटी पर सोने की रेखा के सदृश वह प्रतीत होती है।'[6] संयोग के अतिरिक्त वियोग के ऊहात्मक तथा स्वाभाविक दोनों प्रकार के चित्र कुछ पद्यों में मिलते हैं। कहीं अश्रुओं से अञ्चल को भिगोती और उच्छ्वासों से सुखाती हुई वियुक्ता नायिका का चित्र है[7] और विरहानल की ज्वालाओं से घिरे वियुक्त नायकों के चित्र हैं।[8] एक वियुक्ता नायिका का एक वर्णन इस प्रकार है :—

---

१. दशरूपक ४.३४, निर्णयसागर १९४१, दोहे का विषय शृंगार वर्णन है किन्तु अस्पष्ट है।
२. दे० बेताल पंचविंशतिका, लाइपज़िग १९१८, इत्यादि।
३. पद्य पूरे हैं, कुछ के केवल कुछ चरण ही हैं। १७९ पद्य हैम० ने उद्धृत किए हैं।
४. पूना संस्करण, पृ० १६१ सूत्र ३९६।
५. वही, सूत्र ४०१.२ पृ० १६१-६२।
६. सू० ३३०।
७. वही सू० ४३१।
८. वही सू० ४२९।

वलयावलि निवडण भएण धण उद्धभुय जाइ ।
वल्लह विरह महादहहो, थाह गवेसइ णाइ ।
सू० ४४४ ।

'विरह से दुर्बल नायिका कंगन के गिर जाने के भय से हाथ ऊपर उठाकर चलती है मानो वल्लभ विरह महासागर की थाह ले रही हो ।'

पति की वीरता पर प्रसन्न होने वाली नायिकाओं की वीरतापूर्ण उक्तियों[1] तथा युद्धोत्साह प्रकट करने वाली नायिकाओं के वचनों[2] में भी पर्याप्त सजीवता है । कुछ पद्यों में बलि, व्यास, कापालिक, उज्जैन, बनारस, लक्ष्मी, काम, जिनवर के उल्लेख तथा दान, कृपणता, योग, चरित्र के उल्लेख मिलते हैं । कुछ में अन्योक्ति पद्धति के सहारे सज्जनों की सज्जनता का वर्णन, वृक्षों की सदाशयता का उल्लेख करके किया है ।[3] एक भाग्यवती को संबोधित करते हुए कहा गया है कि आलस्य में बैठे रहने से सम्मुख आई हुई वस्तु का आदर करना अच्छा है (सूत्र ३८८ का उदाहरण) । भ्रमर, नेत्र, सत्पुरुष, पपीहा, मेघ, स्नेहादि पर भी अनेक सरस उक्तियाँ इन पद्यों में मिलती हैं । व्यंजना का एक उदाहरण निम्न पद्य में देख सकते हैं :

गयउ सु केसरि पिअहु जलु निच्चिन्तइं हरिणाइं ।
जसु केरइं हुँकारडुएं मुहहुँ पडन्ति तृणाइं ।
सूत्र ४२२ ।

'हरिणी । निश्चिन्त होकर जल पिओ, वह सिंह चला गया जिसकी हुँकार से तुम्हारे मुख की घास के तिनके गिर पड़ते थे ।'

कुछ पद्यों में वैराग्य भावना तथा ईश्वर के प्रति प्रेम की भी व्यंजना मिलती है[4] एक पद्य में कहा गया है कि 'मैं उस देश जाऊँगी जहाँ अपने प्रियतम का प्रमाण पा सकूंगी अथवा मैं उसी जगह निर्वाण प्राप्त करूँगी ।'—सूत्र ४१९ का उदाहरण । कहीं कहीं सरल पशुओं के भावों का चित्रण तथा मनुष्य के मन की कुटिलता के

---

१. प्राकृता सू० ३५१, ३८३ ।
२. वही सू० ३७६, ३८३ पृ० १५८ तथा एक पद्य में माता सुपुत्र के वीर होने से ही जीवन की सार्थकता बताती है । सूत्र ३९४ ।
३. वही सू० ३३६, ४४५, तथा हाथी और भ्रमर को संकेत करके कही हुई अन्योक्तियाँ सूत्र ३८७ के उदाहरणों में हैं ।
४. वही सू० ४१८ योग के संकेत सूत्र ४२२ का उदाहरण ।

उल्लेख, कहीं सीधे पुरुषों को बैल कही जाने वाली लोकोक्तियों का उल्लेख है। दो एक लोकोक्तियाँ इस प्रकार देख सकते हैं :

जेवडु अन्तरु रावण रामहं, तेवडु अन्तरु पट्टण गामहं ।

सू० ४०७ ।

'जितना अन्तर रावण और राम में है उतना ही अन्तर नगर और ग्राम में होता है।'

इस लोक सरलता के द्योतक वातावरण के साथ ही कुछ पद्यों में काव्य रसिकों के प्रिय वातावरण की भी झलक मिलती है। एक पद्य इस प्रकार है :

चम्पक कुसुमहो मज्झि सहि भसलु पइट्ठउ ।
सोहइ इन्दनीलु जणि कणइ बइट्ठउ ।

सू० ४४४ ।

'सखि! भ्रमर ने चम्पक पुष्प में प्रवेश किया है और ऐसा चमकता है मानो इन्द्रनील मणि को सोने में जड़ दिया हो।'

हेमचन्द्र द्वारा उद्धृत हुए पद्य समाज के साहित्य-रसिक और सरल ग्रामीण दोनों वर्गों का स्पर्श करते हैं। अतः परंपरागत साहित्यिक कल्पना के साथ इन पद्यों में आडंबरहीन सरल उक्तियाँ भी मिलती हैं। साहित्यिक और लोक जीवन दोनों के ही चित्र इन पद्यों में मिलते हैं। पद्यों में दोहा छंद का सर्वाधिक प्रयोग हुआ है इसके अतिरिक्त सोरठा, सम चतुष्पदी वर्ग के छंद, तथा दो वर्गों के छंदों से बने हुए छंदों का प्रयोग हुआ है। सभी छंद मात्रिक हैं। हेमचंद्र ने यह पद्य विभिन्न क्षेत्रों से संकलित किए हैं, संभव है कुछ पद्य उनके स्वरचित भी हों। पद्यों के मूल रचयिताओं या स्रोतों का पता लगाना संभव नहीं है। पीशेल ने अनुमान किया है कि यह पद्य सतसई के सदृश किसी संग्रह ग्रंथ से लिए गए होंगे।[1] भाषा भेद तथा कल्पना के विभिन्न स्तरों से भी इनके विभिन्न आधारों का अनुमान करना संगत प्रतीत होता है।[2]

इसी प्रकार के अनेक पद्य हेमचंद्र के छंदोनुशासन में हैं, किन्तु उनमें मुक्तक

---

१. कुछ पद्यों के आधार ज्ञात हो चुके हैं, कुछ पद्य पाहुड दोहा में मिलते हैं पा० दो० भूमिका पृ० २२-२३। कुछ पद्य परमात्मप्रकाश में मिल जाते हैं, वही भूमिका पृ० ४५-४६ और कुछ पद्य राजस्थानरादूहा में मिलते हैं। दे० ग्रामाटिक, परिच्छेद ३०।

२. हेमचंद्र के समय पर पीछे विवेचन किया गया है।

की स्वतंत्रता नहीं प्राप्त होती। कदाचित् छंदों के उदाहरणों के लिए हेमचंद्र ने इन पद्यों की रचना स्वयं की होगी। जैसी वचन विदग्धता उनके व्याकरण में संग्रहीत अपभ्रंश पद्यों में मिलती है वैसी छंदोनुशासन के अपभ्रंश पद्यों में नहीं।

प्राकृत पैंगलं[1]—कथा का संकेत करने वाले तथा कहीं कहीं मुक्तक पद्य **प्राकृत पैंगलं** में भी मिलते हैं। कुछ पद्यों में बड़ी मार्मिक उक्तियाँ हैं, वर्षा ऋतु के संबंध में एक कृषक की उक्ति इस प्रकार है कि वर्षा तभी सुखकर होती है जब घर की छत ऊँची हो, स्वच्छ घर विनयशील तरुण स्त्री हो और घर धन से पूर्ण हो।[2] इसी प्रकार की मार्मिक उक्ति एक दरिद्र व्यक्ति की इस प्रकार है कि यदि एक सेर घी मिल जाता तो बीस मंडा पकाता और यदि एक टंक नमक मिल जाता तो जो रंक है वह राजा हो जाता।[3] ऋतुओं के वर्णन भी कुछ पद्यों में मिलते हैं।[4] कथा या व्यक्तियों से संबंधित पद्यों में देवताओं के उल्लेख हैं जिनमें शिव, कृष्ण तथा सेतुबंध की कथा के संकेत हैं।[5] राजाओं में काशीराज दिवोदास, कर्ण, हम्मीर, चंद्रेश्वर के उल्लेख हुए हैं।[6] सेना और युद्ध, तुरक और हिन्दुओं के युद्धों का भी कुछ पद्यों में संकेत हैं।[7] हेमचंद्र के पद्यों के समान प्राकृत पैंगलं के रचयिता ने भी पद्य विभिन्न क्षेत्रों से लिए होंगे, इन पद्यों की भाषा स्वयंभू या पुष्पदंत की अपभ्रंश के समान साहित्यिक अपभ्रंश नहीं है किन्तु सरल अपभ्रंश है जिसको परिवर्तनकालीन अपभ्रंश कहा जा सकता है।

प्राकृत पैंगलं के रचयिता और रचना काल के संबंध में निश्चित रूप से कुछ ज्ञात नहीं हो सका है। परंपरा द्वारा प्रसिद्ध पिंगल सूत्रों के रचयिता पिंगल के इस कृति का कोई संबंध स्थापित नहीं किया जा सकता। कृति में हम्मीर का उल्लेख

---

१. प्राकृत पैंगलं के दो संस्करण हो चुके हैं, एक कलकत्ते से विब्लियोथेका सीरीज में कलकत्ता, १९००-२ ई० ,तथा दूसरा बम्बई से। प्राकृत टैक्स सोसाइटी से कृति का एक नया संस्करण अभी निकला है, जिसमें हिन्दी अनुवाद भी दिया है, बनारस १९५९ ई०।

२. प्राकृत पैंगलं १.१७४ कलकत्ता संस्करण।

३. वही, १.१३०।

४. वही वर्षा का एक दृश्य २.१९५, बसंत० २.१९७। २.२०३।

५. वही १.८२, ९८, १९५, २०७, २०८ और २.४६।

६. वही १.७०, ७२ आदि।

७. वही १.६०, १५७ इत्यादि।

है तथा कुछ शब्दों के प्रयोग जैसे सुलतान (१.१०८), खोरासान और उल्ला (१.४४७) साही तथा तुल्क (तुर्क) तथा हिंद्रू (१.१५७) तथा प्रस्तुत कृति पर अनेक संस्कृत टीकाएँ मिलती हैं जिसमें से सभी सोलहवीं शती के पीछे की हैं। कृति को तेरहवीं शती के पहिले का नहीं माना जा सकता। चौदहवीं या पंद्रहवीं शती उसका संकलन काल माना जा सकता है।

मेरुतुंग—मेरुतुंगाचार्य द्वारा रचित प्रबंधचिन्तामणि[1] (वि० सं० १३६१) में अपभ्रंश के अनेक पद्य मिलते हैं। विक्रम, मूलराज, मुंज राजाओं से संबंधित प्रसंग इन पद्यों में है।[2] तैलंग देश के राजा द्वारा बंदी किए मुंज के पद्य बड़े ही हृदय-द्रावक हैं। तैलंगाधिपति की बहिन मृणालवती के धोखा देने पर मुंज स्त्री जाति को इस प्रकार धिक्कारता है :

सउ चित्तइ सट्ठी भमहँ (?) बत्तीसडा हियांइ।
अम्मी तेनर डड्ढसी जे वीससइं तियांह। पृ० २३।

'वे नर मूर्ख हैं-जो स्त्री पर विश्वास करते हैं, जिस स्त्री के चित्त में सौ, मन में साठ और हृदय में बत्तीस आदमी बसते हैं।'

रस्सी में बाँधकर भिक्षार्थ घुमाए जाते हुए मुंज की एक उक्ति इस प्रकार है :

झोली तुट्टवि किं न मुउ किं हुउ छारह पुंजु।
हिंडइ दोरी दोरियउ जिम मंकडु तिम मुंजु।

पृ० २३।

'बंदर के समान डोरी में बाँध कर घुमाया जाता हुआ मुंज झोली के टूट जाने से (बाल्यावस्था में) क्यों न मर गया या आग में जलकर राख क्यों न हो गया।'

मुंज द्वारा कहलाए गए ये मर्मस्पर्शी पद्य स्त्री चरित की दुरूहता, लक्ष्मी

---

१. सिंघी जैन ग्रन्थमाला शान्तिनिकेतन, बंगाल, १९३३ ई०।

२. प्रबन्धचिन्तामणि, प्रबन्धकोश, पुरातन प्रबन्ध संग्रह ग्रंथों के विविध प्रबन्धों में जो अपभ्रंश पद्य मिलते हैं उनके आधार पर यह अनुमान करना स्वाभाविक प्रतीत होता है कि ये विभिन्न पद अनेक स्वतंत्र कृतियों में से लिए गए हैं जो अब उपलब्ध नहीं है। मुंज, पृथ्वीराज आदि राजाओं से संबंधित स्वतंत्र अपभ्रंश कृतियों के अस्तित्व की कल्पना उन राजाओं से संबंधित प्राप्त पद्यों के आधार पर सहज ही की जा सकती है।

की अस्थिरता[1] तथा भाग्य की चपलता को संबोधित करके लिखे गए हैं। इसके अतिरिक्त भोज भीम प्रबंध, तथा कुमारपाल प्रबंध में अपभ्रंश के पद्य मिलते हैं, शेष प्रबन्धों में भी यत्र तत्र कुछ पद्य बिखरे हुए हैं। प्राय: सभी पद्य दोहा छंद में हैं।

राजशेखरसूरि—राजशेखर सूरि कृत प्रबंधकोश[2] (वि० सं० १४०५) में भी सुभाषित, उपदेश, शृंगारात्मक कुछ अपभ्रंश पद्य मिलते हैं। ऊहात्मक वियोग का एक पद्य में इस प्रकार वर्णन है:—

पसु जेम पुलिंदउ पउ पियइ पंथिउ कवणिण कारणिण।
कर वेवि करंपिअ कज्जलिण मुद्धह अंसु निवारणिण, पृ० ३२।

'पथिक! पुलिंद, पशु की भांति जल किस कारण पी रहे हो। मुग्धा के अश्रुओं को रोकने के लिए दोनों हाथों को पीछे किए हूँ अत: पशु की भाँति जलपान कर रहा हूँ।' प्रबन्धकोश के पद्य भी प्राय: दोहा छंद में हैं, सोरठा के प्रयोग भी मिलते हैं।

पुरातन प्रबन्ध संग्रह—पुरातन प्रबन्ध संग्रह[3] में भी इसी भाँति कुछ अपभ्रंश पद्य मिलते हैं। इस कृति के उद्धृत पद्यों में से कुछ पद्य प्रबंध चिन्तामणि के भी मिलते हैं। एक पद्य हेमचंद्र के व्याकरण में पाया जाता है।[4] प्रस्तुत कृति के पृथ्वीराज प्रबन्ध में उद्धृत चार अपभ्रंश पद्य विशेष मनोरंजक हैं।[5] इन चार पद्यों में से दो षट्पदी पद्य कुछ रूप परिवर्तन के साथ पृथ्वीराज रासो के वर्तमान रूप में भी मिलते हैं। इन पद्यों के आधार पर रासो के रूप के संबंध में कुछ भी निर्णयात्मक

---

१. एक पद्य में लक्ष्मी की चंचलता का सजीव चित्रण इस प्रकार है, एक स्त्री पड़ों (भैंस के बच्चे) को छाछ पिला रही थी। मुंज ने कहा कि इन पड़ों पर गर्व न कर, मुंज के चौदह सौ छहत्तर हाथी थे, पर वे भी चले गए, वही, पृ० २४।
परन्तु उस स्त्री ने जो उत्तर मुंज को दिया था वह और भी सुंदर है 'जिसके घर चार बैल हैं, दो गाएं हैं और मैं मिष्टभाषिणी स्त्री हूँ, ऐसे कुटुम्ब को ए मुंज ! हाथी बाँधने की क्या जरूरत है? वही पृ० २४।
२. सिंघी जैन ग्रंथमाला ६, कलकत्ता १९३५ ई०।
३. सिंघी जैन ग्रंथमाला २, कलकत्ता, १९३६ ई०।
४. डुल्लउ सामलउ धण चंपा वन्नी। छज्जइ....वही, पृ० २१।
५. वही, पृ० ८६ तथा आगे।

रूप से नहीं कहा जा सकता। मुंज, हमीर के संबंध में जिस प्रकार प्रबंध मिलते हैं उसी प्रकार पृथ्वीराज के संबंध में भी इस प्रकार के पद्य रहे होंगे और 'पृथ्वीराज रासो' में उन्हें भी संकलित किया गया होगा।[१] या संभव है कोई छोटी कृति पृथ्वीराज से संबंधित हो उसी में से पुरातन प्रबन्ध संग्रह के संग्रहकर्ता तथा रासोकार दोनों ने इन पद्यों को लिया होगा। और पुरातन प्रबन्ध भी निश्चित रूप से इतना प्रामाणिक नहीं माना जा सकता है कि वर्तमान पृथ्वीराज रासो के संबंध में कुछ निश्चित निष्कर्ष पर पहुँचा जा सके।

इन अर्द्ध ऐतिहासिक संग्रह ग्रन्थों में प्राप्त अपभ्रंश पद्य प्रधान रूप से दोहा छंद में हैं। भाषा का उनमें बहुत सरल रूप मिलता है और कहीं कहीं राजस्थानी और गुजराती का भी प्रभाव मिलता है। परिवर्तनयुगीन भाषा का रूप उनमें प्राप्त होता है। इस प्रकार की अपभ्रंश परंपरा का स्थान धीरे धीरे आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं ने ले लिया। माधवानल कामकंदला (गणपतिरचित)[२] तथा ढोला मारूरा दूहा[३] तथा कबीर की वाणियाँ इसके आगे की विकसित रचनाएँ हैं। राजस्थान रादूहा[४] में विभिन्न विषयों से संबंधित दोहे संकलित हुए हैं, जिनमें से कुछ

१. इन पद्यों के आधार पर 'रासो' के सम्बन्ध में कुछ विद्वानों ने बड़े आशा और उत्साहपूर्ण शब्द कहे हैं तथा रासो के संभावित अपभ्रंश रूप की भी कल्पना की है जो बहुत उचित नहीं कही जा सकती। यथा दे० भूमिका, पु० प्र० सं० आदि।

२. गायकवाड्ज़ ओरिएंटल सीरीज़ में प्रकाशित, बड़ौदा, १९४२ ई०।

३. काशी नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, १९९१ वि०।

४. कुछ अन्य इस प्रकार के पद्य वेताल पंचविंशतिका, लाइपजिग १८८१, ऊले के संस्करण में तथा भट्टारक द्वात्रिंसिका, लाइपजिग १८८१, तथा पंचतंत्र, हर्वर्ड ओरिएंटल सिरीज, एजरटन द्वारा संपादित में भी मिलते हैं। तथा विदग्धमुख मंडनं, निर्णयसागर, बंबई, १९१८ ई० में अपभ्रंश में अनेक प्रहेलिकाएं मिलती हैं। उनमें काव्य की सरसता नहीं है। दे० परिच्छेद ३। इसी प्रकार संस्कृताभास लिए दो अपभ्रंश पद राग गूजरी और राग मारू में जयदेव कृत गुरुग्रंथ साहब में मिलते हैं, दे० पारिजात १९४७ ई० में रामसिंह तोमर का लेख। 'जयदेव और उनकी अपभ्रंश कविता' तथा चैटर्जी, ओ० डि० बैं० लैं० पृ० १२४। जयदेव के गीतगोविंद की भाषा यद्यपि संस्कृत है किन्तु लय, छंद, ढंग सब लोकभाषा के समान हैं दे० वही पृ० १२५ तथा पीशेल ग्रा० परि० ३२।

का रूप श्रुति परंपरा में रहने के कारण बहुत कुछ बदल गया है वह भी इसी प्रकार की रचना है। साहित्यिक अपभ्रंश की मुक्तकधारा के यही कतिपय पद्य उपलब्ध हैं। यह पद्य वैराग्य, शृंगार, उपदेश और सुभाषित तथा ऐतिहासिक व्यक्तियों से संबंधित हैं। शृंगार, उपदेश और सुभाषित धारा अविच्छिन्न रूप से हिन्दी साहित्य में भी प्रवाहित होती रही।

मुक्तक पद्य यद्यपि मात्रा में कम ही मिले हैं तथापि जो विविधता उनमें मिलती हैं उसमें शृंगार, उपदेश, वैराग्य, नीति आदि भाव धाराओं के साथ साथ काव्य की सजावट का भी ध्यान रखा गया है। एक दोहा छंद को इस प्रकार के अनेक विषयों का माध्यम बनाया गया है। अपभ्रंश के इन दोहा पद्यों की धारा अपने पूरे वैभव और अनेकरूपता के साथ हिन्दी में भी प्रवाहित होती रही। ब्राह्मण, जैन, बौद्ध, शैव सभी ने अपभ्रंश में वैराग्य, अध्यात्म ज्ञान के उपदेशों से पूर्ण पद्यों की सृष्टि की है यह धारा भी प्राचीन हिन्दी काव्य में प्रवाहित होती रही। मुक्तकों की यह धारा इस प्रकार क्रमबद्ध रूप से लगभग एक सहस्र वर्ष तक उत्तरी भारत में बहती रही। हिन्दी साहित्य के रीतिकाल में आकर इस मुक्तक धारा का आध्यात्मिक स्वर मंद हो गया किन्तु काव्य की सजधज वाला शृंगारपरक रूप और भी पुष्ट होकर प्रवाहित हुआ।

२. प्रबंधात्मक रचनाएं

दंडी, हेमचंद्र और विश्वनाथ आदि के प्रमाणों के आधार पर यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि अपभ्रंश में उच्च ऐहिकता मूलक, धार्मिकता के बोझ से मुक्त साहित्यिक प्रबंधात्मक कृतियों की भी रचना हुई थी। हेमचंद्रादि द्वारा निर्देशित की हुई कृतियाँ अभी तक उपलब्ध नहीं हुई हैं। किन्तु अपभ्रंश की प्रबन्धात्मक धारा का आँशिक दृष्टि से प्रतिनिधित्व करने वाले ग्रंथ अब्दुल रहमान कृत संदेश रासक[1] और विद्यापति कृत कीर्तिलता[2] तथा कीर्ति पताका[3] हैं, जिनका संक्षिप्त अध्ययन यहाँ प्रस्तुत किया गया है।

---

१. डॉ० एच० सी० भायाणी द्वारा संपादित, सिंघी जैन ग्रन्थमाला २२, बंबई २००१ वि०। डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी और उनके शिष्य—विश्वनाथ त्रिपाठी का एक नया संस्करण प्रकाशित हुआ है—हिंदी ग्रंथ रत्नाकर कार्यालय, बंबई—१९६० ई०। प्रस्तुत संस्करण की विशेषता हैं—मूल कृति की संस्कृत अवचूरिका (संक्षिप्त टीका) का हिन्दी रूपान्तर दे दिया गया है। भायाणी की अँग्रेजी भूमिका

सन्देश रासक : कालिदास के मेघदूत की तरह संदेशरासक २२३ पद्यों में समाप्त संदेश काव्य है। तीन प्रक्रमों में कवि ने कृति को विभक्त किया है। प्रथम चालीस पद्यों में मंगलाचरण तथा भूमिकारूप अपनी कृति-रचना के औचित्य का प्रसंग है। मुख्य विषय का प्रारंभ विजयनगर की एक विरहिणी नायिका के वर्णन से होता है। वह एक पथिक द्वारा जो सामोरु[1] नगर से आया था और खंभात तीर्थ जा रहा था, अपने पति को संदेश भेजना चाहती है। खंभात में ही उस नायिका

के भी कुछ भागों को हिन्दी में अनूदित कर दिया गया है। आचार्य द्विवेदी ने 'संदेश रासक के विचारणीय पाठ और अर्थ' अध्याय में कुछ कठिन स्थलों पर विचार किया है। उनके यह सुझाव इसके पहिले नागरी-प्रचारिणी पत्रिका में निकल चुके थे। स्थान स्थान पर यह कहकर कि 'यदि ऐसा पाठ होता तो अधिक सुंदर होता' सुंदर अर्थों की कल्पना की गई है। जयपुर में प्राप्त एक नई हस्तलिखित प्रति के संबंध में प्रशंसापूर्ण शब्द कहे हैं। प्रति के एक पृष्ठ का चित्र भी दिया गया है किन्तु प्रति के पाठ भेदों की कहीं चर्चा नहीं की गई है और जहाँ तहाँ पाठ बदल दिए गए हैं जिनके आधार का कोई उल्लेख नहीं किया गया है। अवचूरिका में कई स्थलों का अर्थ स्पष्ट नहीं हो सका है, ऐसे स्थलों को स्पष्ट करने की चेष्टा संपादकों ने की है किन्तु कहीं कल्पना के सहारे विचित्र अर्थ कर डाला है—जो हो हिन्दी पाठकों को एक संस्करण मिल गया।

२. कृति के दो संस्करण ऐतिहासिक महत्त्व के हैं, (१) बंगानुवाद समेत म० म० पं० हरप्रसाद शास्त्री द्वारा संपादित, १९२८ ई० तथा (२) हिन्दी अनुवाद, भूमिकादि सहित डॉ० बाबूराम सक्सेना द्वारा संपादित, काशी, प्रथम संस्करण १९३२ ई०, दूसरा संस्करण। एक तीसरा संस्करण इधर निकला है जिसकी भूमिका—में अपभ्रंश के बिना पर्याप्त आधारों के दो भेदों—परिनिष्ठित और अवहट्ठ के विषय में चर्चा की है। संस्करण पाठ की दृष्टि से भी विशेष महत्त्व नहीं रहता—विद्यापति और उनकी कीर्तिलता, संपादक—शिवप्रसाद सिंह, काशी।

३. कीर्तिपताका अभी तक अप्रकाशित है। एक अधूरी प्रति लेखक को डा० उमेश मिश्र से प्राप्त हुई थी। साहित्य की दृष्टि से कृति महत्वपूर्ण नहीं है।

१. सामोरु नगर का कवि ने विस्तृत वर्णन किया है। वही, पद्य ४२-६५।

का पति रहता था, अतः उस नगर का नाम सुनते ही वह भावविह्वल होकर पथिक को अपना करुणापूर्ण संदेश कहने लगती है। आश्वासन देता हुआ पथिक उसे धैर्य बंधाता है। अपने भावों को व्यक्त करने में असमर्थ पाकर वह पथिक से उसकी दशा का वर्णन करने का आदेश देती है। इसी प्रसंग में ऋतुओं का विस्तृत वर्णन भी कवि ने किया है। प्रत्येक ऋतु से संबंधित नवीन उत्साह, पर्व आदि का कवि ने उल्लेख किया है। एक ओर संयोग अवस्था वालों को जो ऋतुएँ सुख देती हैं, दूसरी ओर इस विरहिणी नायिका को वे ऋतुएँ संतप्त करती हैं।[1] अपने दुःख का वर्णन कर वह पथिक को प्रिय वचनों से युक्त संदेश कहने की विनती कर आशीर्वाद देकर उसे विदा करती है। इसी समय दक्षिण दिशा से वह अपने पति को आता हुआ देखती है। हर्ष से वह उल्लसित हो जाती है। पाठकों को मंगल कामना करता हुआ कृतिकार ग्रंथ को समाप्त करता है।

कवि ने विरहिणी नायिका के भावों का चित्रण बड़ी संवेदना और गहनता से किया है। यों तो ऋतु वर्णन एक ओर उद्दीपन के रूप में प्रयुक्त हुआ है किन्तु अपने आप में वह कृति का सब से मौलिक और पूर्ण अंग है। परंपरागत ऋतु वर्णन की शैली से भिन्न इस वर्णन में कहीं अधिक सरसता और साहित्यिकता है। दीपावली, कुन्द चतुर्थी, वसंतपंचमी तथा होली के वर्णन तन्मय होकर कवि ने प्रस्तुत किए हैं। कहीं कहीं कवि ने अनावश्यक नामावली दी है। वृक्षों की नामावली इसी प्रकार की नीरस सूची है। वेश्यावाड के वर्णनादि, पथिक द्वारा नायिका के सौंदर्य की प्रशंसा ऐसे स्थल हैं जो अनुपात की दृष्टि से कुछ विस्तृत हैं।[2]

संदेशरासक सरल साहित्यिक अपभ्रंश में निर्मित हुआ है। कुछ पद्य प्राकृत[3] में तथा प्राकृत से प्रभावित हैं।[4] हेमचंद्र के दोहों के समान कृति में पश्चिमी अपभ्रंश का रूप मिलता है। कृति में देशी, तथा ध्वन्यात्मक शब्दों के बड़े स्वाभाविक प्रयोग हुए हैं।[5] मात्रिक तथा अनुप्रासयुक्त वर्णवृत्तों के प्रयोगों की कृति में प्रधानता

---

१. सं० रा०, पद्य ६६ से २२२।

२. वही, प्रक्रम २।

३. सं० रा० १, १७, ३२, ४०, ७२, ८४, ९०, ९३, १२६, १२९, १४९, १५२, १५३, १७२, २१३, २२१, १०६।

४. वही, १००, १७१, १७३।

५. वही, झंखरु १३२, झंखडु १९२, ढंखरु, तडतडिय खहसह ३ १३२ आदि।

है।[१] प्राकृत पद्य गाथा छंद में हैं।

रचयिता ने अपने संबंध में बताया है कि पश्चिम में पूर्व काल के प्रसिद्ध मलेच्छ नामक देश में मीरसेन नामक तन्तुवाय (जुलाहा) रहता था। उसका पुत्र कुल-कमल प्राकृत काव्य तथा संगीतादि में निपुण अद्दहमाण (अब्दुलरहमान)[२] हुआ और उसने संदेशरासक की रचना की। कवि ने संस्कृत, प्राकृत, अवहट्ठ और पैशाची भाषाओं में भी काव्य रचना करने का उल्लेख किया है।[३] प्रसंग वश कृति में कुछ स्थानों के नाम आए हैं। विरहिणी विजयनगर[४] की निवासिनी थी, पथिक ने अपने आने तथा जाने के स्थान क्रमशः 'सामोरु'[५] तथा 'खंभाहत'[६] बताए हैं। टीकाकारों ने 'सामारु' को मुख्य स्थान (मुल्तान) तथा खंभाहत्त को स्तम्भ तीर्थ[७] बताया है। डाक्टर कात्रे मूलस्थान को वर्तमान मुल्तान निश्चित करते हैं और खंभात वर्तमान खंभात हैं, विजयनगर को उन्होंने मालवा का विद्यानगर बताया है[८] और मुनि जिनविजय जी ने टीकाकारों का अनुसरण करते हुए विजय-नगर को विक्रमपुर माना है। विक्रमपुर वर्तमान जैसलमेर में एक स्थान का नाम है।[९] इन स्थानों के उल्लेखों से यह अनुमान किया जा सकता है कि कदाचित् कवि

---

१. छंदों के विवेचन के लिए भायाणी के सं० रा० की भूमिका दृष्टव्य। सबसे अधिक रासक छंद का प्रयोग हुआ है।

२. अद्दहमाण से अब्दुल रहमान की व्युत्पत्ति संतोषजनक नहीं प्रतीत होती। किन्तु संदेशरासक के टीकाकार ने अब्दुलरहमान नाम दिया है, इसी आधार पर विद्वानों ने इस नाम को स्वीकार किया है। कृति के प्रारंभ का एकेश्वरवादी प्रकार का मंगलाचरण तथा अन्त में जो निर्देश किया है तथा कृति में वेश्यावाड तथा कुछ अन्य ऐसे वर्णन हैं जिनके आधार पर कृति का रचयिता मुसलमान हो सकता है।

३. वही : पद्य ३-४ तथा ६।

४. विजय नयरहु कावि वररमणि, प्रक्रम २ का प्रारंभ।

५. वही पद्य ४२।

६. वही पद्य ६५।

७. क्रमशः पद्य ४२ तथा ६५ की टीकाएं।

८. कात्रे : 'ए मुस्लिम कान्ट्रिब्यूशन टु अपभ्रंश लिटरेचर' द कर्नाटक हिस्टारिकल रिव्यू, भाग ४ अंक १-२, पृ० १८-१९।

९. सं० रा० प्रस्तावना पृ० १२।

का संबंध मुल्तान से रहा होगा। अब्दुल रहमान ने बड़ी सहृदयता के साथ हिन्दुओं के तीर्थों, सामाजिक प्रथाओं, उत्सवों, स्त्रियों के आभूषणों तथा अन्य अनेक शास्त्रीय तथा लौकिक बातों के एललेख किए हैं।[1] संभव है वे पहले हिन्दू रहे हों या समन्वय वादी सहानुभूतिपूर्ण उदार दृष्टिकोण के मुसलमान ही हों।

कवि ने अपने तथा अपनी रचना के निर्माण काल के संबंध में कोई उल्लेख नहीं किया है। संदेश रासक की टीका सं० १४६५ वि० की लिखी हुई प्राप्त हुई है अतः इसके पूर्व ही कृति की रचना हुई होगी। मुल्तान के वर्णन से ऐसा लगता है कि उस समय वह नगर समृद्धिपूर्ण था। मुहम्मद गोरी ने उसे नष्ट नहीं किया था। खम्भात कवि के अनुसार व्यापार का अच्छा केन्द्र था। सिद्धराज तथा कुमारपाल चालुक्य राजाओं के पश्चात् उस नगर की दशा गिर गई थी। अतः कृति का काल विक्रम की तेरहवीं शती अनुमित किया जा सकता है।[2] कवि की अन्य किसी रचना का पता नहीं लगा है।

विद्यापति : विद्यापति ने संस्कृत, अपभ्रंश और मैथिली में अपनी कृतियाँ लिखीं। अपभ्रंश (अपभ्रष्ट-अवहट्ठ) में उनकी पूर्ण कृति कीर्तिलता प्राप्त हुई है। कीर्तिलता ऐतिहासिक चरित काव्य है। अपने आश्रयदाता कीर्ति सिंह के यश वर्णन के लिए इसकी रचना हुई है। प्रारंभ में संस्कृत पद्यों में मंगलाचरण है,[3] आगे आश्रयदाता की प्रशंसा,[4] दुष्टों का स्मरण और फिर अपभ्रंश भाषा में लिखने के लिए सफ़ाई दी है।[5] इस संक्षिप्त प्रस्तावना के अनन्तर कवि ने भृंगी और भृंग के प्रश्नोत्तर के रूप में कृति की प्रधान कथा का प्रारंभ किया है। कीर्तिसिंह के वंशादि तथा वीरता के वर्णन के साथप्र थम पल्लव, समाप्त हुआ है। कृति चार पल्लवों में विभक्त हैं।

दूसरे पल्लव में पिता के वध करने वाले तथा राज्यापहरण करने वाले तुरुक असलान से बदला लेने के लिए कीर्तिसिंह तथा उनके भाई वीरसिंह के बादशाह से सहायता लेने के लिए जौनपुर जाने का वर्णन है। जौनपुर के मार्गों, तथा अन्य

---

१. भाषाओं, भरतनृत्य, वेद, लक्षण छंद रामायण रासक आदि के उल्लेख।

२. संदेश रासक : प्रस्तावना पृ० ११-१५।

३. कीर्तिलता : सक्सेना संस्करण, पद्य १-३।

४. वही, पद्य ४-५।

५. वही, पृ० ६-८।

अनेक दृश्यों, मुसलमानों की उद्धतता तथा हिन्दुओं की दयनीय दशा के अनेक सुन्दर वर्णन इस पल्लव में मिलते हैं।[1]

तीसरे और चौथे पल्लवों में सेना के प्रस्थान, युद्ध तथा कीर्ति सिंह की विजय और राज्य अभिषेक के वर्णन हैं, आशीर्वाद और मंगल कामना के साथ कृति समाप्त हुई है।

कीर्तिलता में काव्य-वैभव बहुत ही कम है। विभिन्न स्थानों, दशाओं के वर्णन कुछ स्वाभाविक और आकर्षक हैं, कहीं कहीं इन वर्णनों में ग्राम्य प्रयोग भी मिलते हैं।[६] आश्रयदाता की दीनदशा का चित्रण कवि की स्पष्टवादी प्रकृति का द्योतक कहा जा सकता है। कृति में गद्य, पद्य दोनों का व्यवहार हुआ है, गद्य में भी एक प्रकार की लय का प्रयोग मिलता है। पद्य भाग में दोहा, छप्पय, अडिल्ला, भुजंग-प्रयात, मनवहला, गीतिका, रड्डा आदि प्रयुक्त हुए हैं। कीर्तिलता की भाषा पर मैथिली का प्रभाव स्पष्ट लक्षित होता है, कीर्तिलता की भाषा का प्रमुख आधार शौरसेनी अपभ्रंश है।[2]

डा० सुकुमार सेन ने 'विद्यापति गोष्ठी' में एक पद्य विद्यापति का उद्धृत किया है। उन्होंने अनुमान किया है कि वह पद्य कीर्तिपताका में है। इस पद्य में देवसिंह के परलोकगमन और शिवसिंह के सिंहासन पाने का वर्णन है। शकाब्द १३२४ का उल्लेख इस पद्य में है।[3] विद्यापति की दूसरी कृति कीर्तिपताका है। जिसमें कुछ अपभ्रंश पद्य पाए जाते हैं। राजा शिवसिंह का यश प्रस्तुत कृति में वर्णित है। बीच बीच में संस्कृत तथा मैथिली मिश्रित गद्य भाग है। प्रारंभ में शिव, सरस्वती और गणेश की वंदना है और फिर क्रमशः सज्जन और दुर्जनों का स्मरण किया गया है। विद्यापति का समय ई० १४वीं–१५वीं शती है।[4]

विद्यापति की अपभ्रंश कृतियों में अपभ्रंश की नैसर्गिकता का अभाव है। संदेशरासक और कीर्तिलता दोनों ही अपभ्रंश युग के समाप्ति काल की रचनाएँ हैं किन्तु जो काव्य सौन्दर्य, सहज चित्रण, संवेदनामूलक कल्पना और विषय के

---

१. जैसे पृष्ठ ४२, पंक्ति १.२

२. दे० वही, भूमिका, पृ० ५ और आगे।

३. दे० विद्यापति गोष्ठी, पृ० ९४-९६, साहित्य सभा, वर्द्धमान, बं० सं० १३५४।

४. दे० विद्यापति ठाकुर : हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद तथा कीर्तिलता भूमिका पृ० ४ और आगे।

साथ तन्मयता संदेशरासक में मिलती है वह विद्यापति की कृतियों में नहीं मिलती। साहित्यिक अपभ्रंश में इन्हीं कतिपय प्राप्त कृतियों की रचना हुई होगी ऐसा विश्वास किसी प्रकार नहीं किया जा सकता। इन कृतियों के रचयिताओं के सामने काफी समृद्ध अपभ्रंश साहित्य रहा होगा और उसी से प्रेरणा पाकर इन कवियों ने अपनी कृतियों की रचना-की होगी। आश्चर्य का विषय है कि बहुत ही कम अजैन अपभ्रंश साहित्य सुरक्षित रहा। अपभ्रंश और समस्त प्राकृत साहित्य को कदाचित् लोग मध्यकाल में भूलने लगे थे, संस्कृत का अध्यपन, अध्यापन अवश्य चलता रहा। प्राकृतों का अध्ययन संस्कृत छाया के माध्यम द्वारा ही होने लगा था। इस उपेक्षा के कारण अधिकांश अपभ्रंश साहित्य नष्ट हो गया। जैनों ने अपने साहित्य को किसी प्रकार सुरक्षित रखा। इस प्रकार जो भी अपभ्रंश साहित्य इस समय उपलब्ध है वह, जहाँ तक अपभ्रंस साहित्य के प्रमुख प्रतिनिधि काव्य रूपों का संबंध है, अपभ्रंश की काव्य धाराओं का परिचय देने के लिए पर्याप्त है। किन्तु, अपभ्रंश काव्य में जो विविधरूपता रही होगी उसका पूर्ण रूप आज सामने नहीं है। इसलिए जो रूप हिन्दी के मध्ययुगीन साहित्य का मिलता है उसके पूर्णरूप के पूर्ण चित्र की, जैनेतर अपभ्रंश साहित्य के लुप्त हो जाने से, कल्पना करना थोड़ा कठिन है। यह सहज ही अनुमान किया जा सकता है कि हिन्दी के कवियों के सामने निश्चित ही वे समस्त काव्यरूप और भावधाराएँ थी जिन्हें उन्होंने अपनाया है, इनमें से अधिकांश की स्पष्ट और कुछ की अस्पष्ट झलक पीछे प्रस्तुत किए गए प्राकृत और अपभ्रंश साहित्य में मिल जाती है इसका संक्षिप्त अध्ययन आगे प्रस्तुत किया जा रहा है।

९

काव्य के रूपों पर प्रभाव

प्राकृत और अपभ्रंश साहित्य की जो रूपरेखा पीछे प्रस्तुत की गई है उसमें निम्नलिखित काव्यरूप मिलते हैं :

१. **प्राकृत प्रबन्धकाव्य**

अ. साहित्यिक महाकाव्य, सेतुबन्धादि ।

आ. जैन धार्मिक प्रबन्धात्मक रचनाएँ––महावीरचरितादि ।

इ. गद्य-पद्य-मिश्रित कथा कृतियाँ : वसुदेवहिंडी तथा समराइच्चकहा ।

२. **मुक्तक**

अ. गाथा सप्तशती, वज्जालग्ग जैसे मुक्तक संग्रह ।

आ. अन्य कृतियों में बिखरे मुक्तक या गीतात्मक पद्य ।

३. **रूपकादि में प्रयुक्त पद्य तथा प्राकृत भाषा निबद्ध सट्टक रचनाएं ।**

अपभ्रंश

१. **प्रबन्धात्मक काव्य**

अ. **चरित काव्य**––विशाल पुराण जिनमें अनेक पात्रों की कथाएँ हैं, जैसे, पुष्पदन्त का महापुराण आदि तथा एक ही पात्र की कथा से संबंधित काव्य । पौराणिक; जैसे, रामायणादि; तथा लोक के सामान्य व्यक्तियों के चरित्रों से संबंधित प्रेमप्रधान चरित काव्य, जैसे, भविष्यदत्तकथादि ।

आ. **खंड काव्य :** १. कल्पना प्रधान विशुद्ध काव्य कृतियाँ, जैसे, संदेश रासक ।

२. ऐतिहासिक खंड काव्य या चरित काव्य––कीर्तिलता ।

३. व्रतादि से संबंधित छोटी छोटी पद्यबद्ध कथाएँ ।

२. **मुक्तक :** १. दोहाबद्ध वैराग्य उपदेश प्रधान धारा ।

२. दोहाबद्ध शृंगार प्रधान धारा, हेमचंद्रादि के दोहे ।

३. **पद शैली के गीति**—बौद्ध सिद्धों के गीति ।

नाटच समीक्षकों ने नाटकों में प्रयुक्त भाषाओं में अपभ्रंश को कोई स्थान नहीं दिया । कदाचित् इसी कारण विक्रोमोर्वशीय के अतिरिक्त किसी रूपक भेद या उपरूपक में अपभ्रंश का न तो प्रयोग ही मिलता है और न स्वतंत्र कृति की ही रचना हुई है, संभव है कुछ श्रव्यकाव्यों को ही गाकर सुनाया जाता होगा और दृश्य काव्यों का आनंद उनसे लिया जाता होगा । रासक या नाटचरासक कृतियों की कदाचित् अपभ्रंश में रचना होती होगी और उनको गीत नृत्य की सहायता से अभिनीत किया जाता होगा, और दृश्यकाव्य के अभाव की पूर्ति इनसे होती होगी ।[1]

जैसा पीछे के अध्ययन से स्पष्ट होना चाहिए अपभ्रंश काव्यों की रचना प्रधान रूप से हिन्दी के प्रारम्भ काल तक होती रही, इसको यों कहा जाय तो अधिक संगत होगा कि अपभ्रंश की काव्यधाराएँ धीरे धीरे कालान्तर में परिवर्तित रूप के साथ हिन्दी साहित्य में भी प्रवाहित होती रही हैं । वास्तव में जिस प्रभाव की चर्चा आगे की जावेगी उसके द्वारा लेखक का अभिप्राय यह दिखाना है कि जो रूप, शैली आदि हिन्दी के मध्ययुगीन प्राचीन साहित्य में मिलता है उसका अनायास १४वीं या १५वीं शती से ही प्रारंभ नहीं हुआ किन्तु वह क्रमशः विकाशशील कुछ अपभ्रंश काव्य धाराओं का विकसित और पुष्ट रूप है । मध्यकाल के प्राप्त हिन्दी साहित्य के समस्त रूपों का प्रारंभ वास्तव में कई सौ वर्ष पूर्व अपभ्रंश के कवियों ने किया था यही दिखाना इस अध्ययन का उद्देश्य है । 'प्रभाव' से लेखक का यह तात्पर्य कदापि नहीं है कि किसी विशेष कवि ने सीधे अपभ्रंश की किसी रचना को पढ़कर अपनी कृति की रचना की, अथवा कोई विशेष अपभ्रंश काव्य धारा जैसी की तैसी हिन्दी में अपना ली गई है । वास्तव में अपभ्रंश के विविध काव्य रूपों में से कुछ का संबंध सीधा जनता से था और समयानुसार उस संबंध को स्थिर रखने के लिए उन्हीं काव्य रूपों में केवल परिवर्तित भाषा का प्रयोग होने लगा जिसे हिन्दी काव्य धारा कहा जा सकता है । भावधारा के लिए मध्ययुगीन अनेक हिन्दी कवियों ने संस्कृत साहित्य की ओर देखा है किन्तु काव्य के बाह्य समस्त रूपों के लिए वे अपभ्रंश की ओर झुके हैं । आगे के पृष्ठों में अपभ्रंश और हिन्दी काव्य की इन्हीं सामान्य विशेषताओं की ओर संकेत किया गया है । अपभ्रंश

---

१. **दे० आगे इसी अध्याय में ।**

साहित्य की ओर खोज तथा अध्ययन करने पर हिन्दी काव्यधाराओं की पूर्ववर्ती समस्त लुप्त कड़ियों का उद्घाटन किया जा सकेगा ऐसा लेखक का दृढ़ विश्वास है। जिस रूप और मात्रा में अभी अपभ्रंश साहित्य मिल सका है उसके आधार पर भी हिन्दी काव्य की कई धाराओं के प्रारंभ को कम से कम आठवीं शती ईस्वी तक तो ले ही जाया जा सकता है।

उत्तर मध्यकालीन तक के हिन्दी काव्य के रूपों की प्रमुख धाराएँ निम्न हो सकती हैं :

१. प्रबन्धात्मक रूप

१. **चारण काव्य :** रासो या रासक नामक रचनाएँ तथा (ऐहिकता मूलक) राजाओं की प्रशंसा में लिखे गये चरित काव्य।

२. **धार्मिक साहित्यिक चरित काव्य**—रामचरित मानस आदि। धार्मिक साहित्यिक शिथिल प्रबन्धात्मकता वाले काव्य—सूरसागर आदि।

३. **आध्यात्मिक झलक लिए प्रेमकथाएं**—पद्मावत आदि।

४. **ऐहिकतामूल प्रेमकथाएं**—ढोलामारूरा दूहा आदि। तथा

५. **साहित्यिक प्रबन्धकाव्य**—रामचन्द्रिका।

२. मुक्तकरूप

१. **विषय-प्रधान मुक्तक**—पदशैली में गोरख कबीर आदि के पद्य। **विषय प्रधान मुक्तक, दोहाशैली**—बिहारी आदि के दोहे तथा विविध छंदबद्ध रीतिकाल के सवैया आदि।

२. उपदेश, नीति, शृंगार, सुभाषितादि से युक्त मुक्तक।

३. **गीति काव्य**—विद्यापति, सूर, मीरा आदि के विषयि प्रधान गीति।

मध्ययुग के हिन्दी साहित्य में दृश्य काव्य का कोई भी रूप नहीं मिलता, क्योंकि अपभ्रंश साहित्य में यह धारा कभी नहीं थी। इस अध्याय में इन विभिन्न काव्य रूपों पर अपभ्रंश साहित्य के प्रभाव को स्पष्ट करने का यत्न किया गया है।

चारण साहित्य—चारणों का उल्लेख ब्राह्मण धर्म के प्राचीन पुराणादि ग्रंथों तथा जैन पुराणों में देवताओं तथा ऋषियों के साथ मिलता है।[1] कहीं कहीं

---

१. वाल्मीकि रामायण में अनेक बार चारणों का उल्लेख मिलता है, बालकांड १७.९, २३, ४५.४५, ४८.३३ इत्यादि। महाभारत, आदिपर्व १२६।

उनको ईश्वर की स्तुति गाते हुए चित्रित किया गया है। मध्ययुग के राज यश या युद्धों गायकमें वीरों का उत्साह बढ़ाने वाली राजस्थान की चारणजाति तथा उस की उत्तराधिकारिणी वर्तमान चारण जातियों का ऐतिहासिक संबंध पुराणों के देवताओं और ऋषियों से तो स्थापित नहीं किया जा सकता किन्तु जहाँ तक यश गाने का संबंध है दोनों में समान प्रवृत्तियाँ ढूंढ़ निकाली जा सकती हैं। एक ईश्वर या उसके भक्तों का यश गाते थे तो दूसरे वीरों का, और आश्रयदाताओं का। जो हो, बहुत प्राचीन समयसे राजसभाओंमें चारण भाट रहते थे और उनका स्थान बहुत सम्मान का था।[1] काव्य रचना में चारण भाट निपुण और अभ्यस्त होते थे और कुशल तथा कला मर्मज्ञ होते थे। प्रस्तुत अध्ययन में केवल चारण जाति विशेष द्वारा रचित सम्पूर्ण साहित्य को ही नहीं लिया गया है किन्तु चारण परम्परा में आने वाले हिन्दी साहित्य को चारण साहित्य के अन्तर्गत माना गया है और उसकी भी कुछ प्रमुख कृतियोंको ही स्थान दिया गयाहै। राजाओं, आश्रयदाताओं, प्रसिद्ध वीर पुरुषोंतथा जनसमूह को प्रभावित करने वाले युद्ध या घटना से संबंधित कृतियों को इस काव्य रूप के अन्तर्गत लिया गया है। तात्पर्य यह है कि केवल सुविधा के लिए इस नाम का प्रयोग किया गया है, यों लेखक 'रासकपरंपरा' अच्छा नाम समझता है।

हिन्दी के व्यापक क्षेत्र को ध्यान में रखते हुए चारण साहित्य को सुविधा की दृष्टि से दो वर्गों में रखा जा सकता है। एक वर्ग में ब्रज भाषा (पिंगल) प्रधान रचनाएँ रखी जा सकती हैं और दूसरे में डिंगल भाषा प्रधान रचनाएँ। गुजराती रास परंपरा को भी एक अलग वर्ग में रखा जा सकता है और वह चारणीय साहित्य नहीं है। इस प्रकार निम्न रचनाएँ चारण साहित्य की सामने आती हैं। इन दोनों ही वर्गों की कृतियों में विषय, शैली, छंद आदि अनेक दृष्टियों से समानता मिलती है।

११, द्रोणपर्व ३७.१४ इत्यादि। मत्स्यपुराण २४८.३५-३६, ब्रह्मपुराण ३६.३६, वायुपुराण आदि अनेक पुराणों में चारणों के उल्लेख हुए हैं, उनको देव माना गया है। कहीं ऋषि और सिद्ध कहा गया है। जैन पुराणों में चारणों का मुनि के रूप में उल्लेख मिलता है। दे० झवेरचंद मेघाणी : चारणों अने चारणी साहित्य, अहमदाबाद १९४३।

१. राजसभा में सात अंगों का होना आवश्यक माना जाता था

विद्वांसः कवयो भट्टा गायकाः परिहासकाः।
इतिहास पुराणज्ञाः सभा सप्तांग संयुता ॥

१. प्रथम वर्ग की रचनाएँ : [1] भाव धारा की दृष्टि से इन रचनाओं को दो वर्गों में पुनः विभाजित किया जा सकता है अजैन रचनाएँ और जैन रचनाएँ।
अ. अजैन रचनाएँ

इन रचनाओं के दो रूप प्राप्त होते हैं। पहिला रूप अधिक स्वाभाविकता लिए हुए है। इस रूप में कथा को या वर्ण्य विषय को अत्यंत सरल ढंग से बिना अधिक सजावट के प्रस्तुत किया गया है। काव्य भार से उसे बोझिल नहीं बनाया गया है। इस वर्ग की हिन्दी रचनाओं में **बीसलदेव रासो** सर्वप्रमुख कृति है। दूसरे वर्ग की रचनाओं में निम्न प्रतिनिधि कृतियों को रखा जा सकता है :

१. पृथ्वीराज रासो[2] चंदवरदाई कृत।
२. वीरसिंह देव चरित केशवदास, सं० १६६४ वि०।
३. राजविलास : मानकृत रचना सं० १७३४-१७३७ वि०।
४. छत्रप्रकाश : गोरेलाल कृत, रचना सं० १७६४ वि०।
५. जंगनामा : श्रीधर कृत रचना सं० १७६९ वि०।
६. सुजान चरित : सूदन कृत रचना सं० १८०२-१८१० वि०।
७. हिम्मत वहादुर विरदावली : पद्माकर कृत, र० सं० १८५६ वि०।
८. हम्मीररासो : जोधराज कृत रचना सं० १८८५ वि०।
९. हम्मीरहठ : चन्द्रशेखर कृत र० सं० १९०२ वि०।
१०. करहिया को रायसौ : गुलाब कवि चतुर्वेदी, र० सं० १८२४ वि०[3]।
११. भगवंतरासा : सदानंदमिश्र र० सं० १७९२ वि०[4]।

---

१. केवल उपलब्ध रचनाओं को ही यहाँ लिया गया है, जिनके केवल नाम मिलते हैं, कृतियाँ अप्राप्य हैं उनका विशेष उल्लेख आवश्यक नहीं समझा गया है।
२. हिन्दी साहित्य के इतिहासों में 'खुमाण रासो' का उल्लेख भी मिलता है लेकिन वह इतनी प्राचीन रचना प्रतीत नहीं होती। दे० ना० प्र० पत्रिका भाग ४, सं० १९९६ में अगरचंद नाहटा का लेख जिसमें उन्होंने इस कृति को बहुत पीछे की सिद्ध किया है। इसी प्रकार की अस्थिर रूप वाली कृति 'आल्हखंड' है। इन कृतियों के विषय में, इनका कोई रूप निश्चित न होने के कारण, यहाँ चर्चा नहीं की गई है।
३. ना० प्र० प० भाग १०, १९८६, पृ० २७१–२८९।
४. वही भाग ५, १९८१, पृ० १०३-३१।

१२. कायमरासा : जान कवि कृत[1]।

फुटकर संग्रह : शिवराज भूषण—भूषणकृत।

ऊपर की सभी रचनाओं में प्रबन्धात्मकता है। चरित नायक प्रायः ऐतिहासिक वीर पुरुष हैं, उनके पराक्रम का अतिशयोक्ति पूर्ण वर्णन है। नानाविध छंदों का प्रयोग हुआ है। कुछ असमानताएँ भले हों लेकिन सब कृतियों के रूप प्रायः एकसे ही हैं। वर्णन के ढंग आदि प्रतिभा के अनुकूल भिन्न हैं, अन्यथा प्रकार में अन्तर नहीं है।

आ. जैन रचनाएं :

हिन्दी (व्रज) में अनेक रास नामक जैन कवियों की कृतियाँ मिलती हैं जिनमें काव्यत्व अपेक्षाकृत कम मिलता है किन्तु काव्यरूप उपर्युक्त कृतियों में बीसलदेव रासो आदि के समान है। अन्तर इतना है कि अनेक कवियों ने किसी राजा या योद्धा की वीरता को या यशगान को ही अपनी कृतियों का विषय बनाया है, जैन कवियों ने किसी धार्मिक व्यक्ति या व्रतादि की कथाओं को अपनी कृतियों में प्रधानतया स्थान दिया है। काव्यसौन्दर्य को छोड़कर काव्य परंपरा को समझने के लिए इन कृतियों का भी महत्व है, इस प्रकार की कुछ कृतियों का यहाँ उल्लेख करना उचित होगा :

जंबूस्वामीरास की रचना धर्मसूरि ने सं० १२६६ में,[2] गोतमरासा की सं० १४१२ में उदयवंत, श्वेताम्बर साधु, ने,[3] संघपति समरशाह के जीवन से संबंधित 'समराशाह रास' की रचना अंबदेव ने सं० १३७१ में की।[4] सार सिखामनरास सं० १५४८, त्रेपनक्रियारास १६८४ वि०, अंजनासुंदरीरास तपागच्छीय महानंदकृत सं० १६६१, यशोधररास सोमकीर्तिकृत सं० १६००, श्रुतपंचमीरास पृथ्वीपाल

---

१. राजस्थान भारती में अगरचंद नाहटा का लेख जानकवि पर।

२. प्राचीन गूर्जर काव्य संग्रह, बड़ौदा १९२० पृ० ४१-४६। संपादकों ने इस संग्रह में संग्रहीत रचनाओं को प्राचीन गुजराती कहा है किन्तु कुछ के व्याकरण की रूपरेखा देखने से सुविधा के साथ इनको बीसलदेवरासो के साथ रखा जा सकता है। जैनों द्वारा रचित परिवर्तनयुगीन भाषा साहित्य में बहुत साम्य है। काव्य परंपरा की दृष्टि से तो यह एक ही धारा है।

३. दे० हिन्दी जैन साहित्य का संक्षिप्त इतिहास, कामता प्रसाद जैन, पृ० ६५।

४. प्रा० गू० का० सं० पृ० २७-३८।

कृत सं० १६९२, सोलह कारण व्रत रास भी इसी प्रकार की रचनाएँ हैं।[1] तथा नेमिजिनेश्वररास की रचना सं० १६१५ वि० कडवकबद्ध पश्चिमी हिन्दी में हुई है। श्रावकाचार रास की भट्टारक प्रतापकीर्ति ने स० १५७४ में रचना की। विक्रम की सत्रहवीं शती के पूर्वार्द्ध में ब्रह्मचारी रायमल्ल ने कडवकबद्ध 'परदवण-रास' 'सीलसुदर्शनरास' तथा 'श्रीपाल रास' की रचना की। 'सम्यक्त्वरास' और 'यशोधररास' की रचना सत्रहवीं शती में जिनदास ने की। धर्म रासो की रचना सं० १७२३ में अचलकीर्ति ने की, इसके अतिरिक्त श्रीपति का रत्नपालरास सं० १७३०, तथा आदिपुराणरास की प्रतियाँ भी मिलती हैं।[2]

इन समस्त जैन रास रचनाओं में एक विचित्र समानता है। सभी कृतियाँ आकार में लघु हैं। इनमें से कुछ रचनाओं में छंदों की संख्या भी दी गई हैं। यथा, प्रद्युम्न रास में इस प्रकार छंद संख्या दी है :—

हो कडवा एक्सो अधिक पंचांणू, हो रासरहस परदमन वषाणो

—प्रद्युम्न रास की हस्तलिखित प्रति से।

उपर्युक्त उद्धृत पंक्ति के समान दो और पंक्तियाँ मिलाकर एक कडवा प्रस्तुत कृति में माना गया है। अन्य जैन रास कृतियों का आकार प्रायः इतना ही बड़ा है। इन जैन रास कृतियों में किसी गंभीर विषय या सिद्धान्त का विवेचन नहीं है और न युद्ध, रौद्र, वीभत्स के गंभीर प्रसंग ही हैं। शांत, शृंगार और त्यागपूर्ण उत्साह के प्रसंग उनमें मिलते हैं। जो विषय अपभ्रंश जैन चरित काव्यों में मिलते हैं उन्हीं को सरल ढंग से इन कृतियों में प्रस्तुत किया है। सभी चरित पौराणिक हैं, या सभी रास कृतियों में व्रत कथाएँ हैं ऐसी बात नहीं है। दानशील व्यक्तियों के चरित्रों को भी रास रचनाओं में स्थान मिला है। समराशाह रास में शत्रुञ्जय तीर्थ के उद्धारक समराशाह सेठ की दानवीरता का चित्रण है। इन समस्त जैन कृतियों की एक अन्य विशेषता है, छंदों के प्रयोग की। चौपाई, दोहा, छप्पय के प्रयोग तो मिलते हैं। इनके अतिरिक्त देशी लोकप्रचलित गेय छंदों का प्रयोग इन कृतियों में अधिकता से हुआ है। जिस प्रकार प्राकृत और अपभ्रंश में रचना करके जैन कवियों ने अपने आपको लोकभाषा, जनरुचि के समीप रखा उसी प्रकार इन

---

१. हि० जै० सा० सं० इ० क्रमशः पृ० ३५, ६७-६८, १३५, १०८, ११०, १३५, १३५, १४०।

२. **लेखक इन समस्त कृतियों के अध्ययन के लिए आमेर शास्त्र भंडार जयपुर का कृतज्ञ है।**

रास कृतियों में देशी, ढाल, जकड़ी छंदों का प्रयोग करके लोकरुचि की ओर ध्यान दिया है।[१] काव्य रूप की दृष्टि से जैन रचनाओं की श्रेणी में वीसलदेव रासो आता है। अन्य रास नामान्त कृतियाँ कृत्रिम साहित्यिक वातावरण से ओतप्रोत हैं।

डिंगल में रचित इस प्रकार के काव्यरूपों के उदाहरण छन्द राउ जइतसीरउ[२] तथा वचनिका रतन सिंघ री[३] हैं। राणा रासो,[४] विजयपाल रासो[५] आदि कृतियाँ इस प्रकार के अन्य उदाहरण हो सकते हैं। पिंगल अजैन कृतियों और डिंगल की इन कृतियों में असमानता की अपेक्षा समानताएँ अधिक हैं। दोनों ही वर्ग की कृतियों की रचना प्राय: आश्रयदाता ऐतिहासिक पात्रों को आधार बनाकर हुई है, और उन्हीं को केंद्र बनाकर और अन्य कथाएँ आई हैं। राजाओं के पूर्वजों की प्रशंसा आदि प्राय: एक सी शैली में मिलती हैं। इन कृतियों में एक ही प्रकार के छंदों का प्रयोग किया गया है। काव्य के शास्त्रीय पक्ष पर इनके रचयिता कवियों की दृष्टि निश्चित ही बराबर रही है।

तीसरे वर्ग की प्राचीन गुजराती रास रचनाओं का भी संक्षेप में उल्लेख किया जा सकता है सबसे प्राचीन गुजराती रास कृति शालिभद्र सूरिकृत, सं० १२४१ में रचित, भरतेश्वर बाहुबलि रास[६] है। इसमें ऋषभ के पुत्र भरतेश्वर और बाहु-

---

१. आगे छंदों के अध्याय में इसका विशेष विवेचन किया गया है।

२. बिब्लियोथेका इंडिया में डा० एल० पी० तेसीतोरी द्वारा संपादित होकर प्रकाशित, कलकत्ता १९२०। कृति में रचयिता चारण विठू नगराजीत ने अपने आश्रयदाता बीकानेर के राउ जैतसी की कामरान के ऊपर विजय का वर्णन और प्रशंसा की है। इसी विषय से संबंधित अन्य कृतियों की भी डिंगल में रचना हुई है। दे० वही भूमिका पृ० १० और आगे। छन्द राउ० का रचनाकाल सं० १५९८ के लगभग है।

३. डा० तेसीतोरी द्वारा संपादित, बि० इं० कलकत्ता १९१७। गद्य, पद्यमयी इस रचना में जगमाल ने रतलाम के राजा रतनसिंह की उज्जैन के युद्ध में वीरतापूर्ण मृत्यु का यश गाया है। घटना सं० १७१५ की है।

४. दे० राजस्थानी साहित्य की रूप रेखा पृ० ६५। कृति में ऐतिहासिक तथ्यों का सहारा लिया गया है।

५. दे० वही पृ० ४१ करौली के राजा विजयपाल से संबंधित ऐतिहासिक आधार को लेकर कृति की रचना हुई है।

६. भारतीय विद्या भवन बंबई, १९९७ वि० संपा० मुनि जिनविजय।

बलि की पौराणिक कथा को सरल गुजराती में वर्णित किया है। वस्तु, चौपई, चौपाई, रास, दोहा आदि छंदों का कृति में प्रयोग हुआ है। कुछ रास कृतियाँ प्राचीन-गुर्जर काव्य संग्रह में संकलित की गई मिलती हैं। महेन्द्रसूरि के शिष्य धर्म द्वारा सं० १२६६ में रचित जंबूस्वामीरास[1] का पीछे संकेत किया गया है। कृति में जंबू की चरित्रविषयक दृढ़ता की परीक्षा का चित्रण है। प्रभव चोर अनेक प्रकार के तर्क देकर जंबू के हृदय में संसार के प्रति अनुराग उत्पन्न कराना चाहता था किन्तु वह स्वयं प्रभावित होकर विरक्त हो जाता है। लोक प्रचलित[2] छंदों का कृति में प्रयोग हुआ है। दूसरी लघु कृति सं० १२८८ में रचित विजयसेनसूरि रचित रवंतगिरिरासु[3] है जिसमें रेवंत पर्वत की प्रशंसा की गई है क्योंकि वहाँ जिनेश्वर का मंदिर है। कृति चार कडवकों में विभक्त है। दोहे के अतिरिक्त अन्य छंद देशी हैं। सप्तक्षेत्रि रासु[4] १३२७ वि० किसी अज्ञात कवि की रचना है, उसमें १२ व्रत और सात क्षेत्रों का साम्प्रदायिक दृष्टि से वर्णन है। द्विपदी, चौपाई, रोला आदि छंदों के प्रयोग हुए हैं। गुजराती में १८वीं शती तक रास कृतियों की रचना होती रही और इस प्रकार गुजराती में यह धारा अविच्छिन्न रूप से मिलती है।[5] फागु, बारहमासा, चर्चरी तथा रास रचनाएँ विषय, आकार, शैली आदि की दृष्टि से एक ही वर्ग में रखी जा सकती हैं। धार्मिक उपदेश अपेक्षाकृत रास रचनाओं में अधिक स्पष्ट रहता है। इन रास रचनाओं में छंदों के प्रयोगों में बड़ी प्रगति मिलती है। जैन हिन्दी और गुजराती रास रचनाएँ इस दृष्टि से और भावधारा की दृष्टि से एक दूसरे से बहुत मिलती हैं। देशी, ढाल, ठवणि, भास, त्रोटक, दूहर, छप्पय

---

१. कृति का नाम 'जंबूसामिचरिय' है, किन्तु अन्त में जंबूस्वामिरास' मिलता है। दे० प्रा० गु० का० सं० पृ० ४६।
२. भास, ठवणि छंदों के शीर्षक हैं। यह छंद छंदशास्त्र के ग्रंथों में नहीं मिलते। दे० आगे छंदों का अध्याय।
३. वही, पृ० १ और आगे।
४. प्रा० गु० काव्य में कछूलीरास, पेथडरास आदि और रास हैं। अन्य अनेक रास रचनायें निम्न कृतियों में संग्रहीत हैं। ऐतिहासिक रास संग्रह भाग ४, भावनगर, श्री जैन रास संग्रह भाग प्रथम, अहमदाबाद, १९३०। हिन्दी गुजराती मिश्रित कुछ रास कृतियां ऐतिहासिक जैन काव्य संग्रह में भी संग्रहीत हैं कलकत्ता १९९४ वि०। और भी दे० मो० द० देसाई, जैन गूर्जर कवियो भाग १-२, बंबई, १९२६, १९३१ ई०।

इत्यादि छंद इन रचनाओं के परिचित छंद हैं। सभी कृतियाँ एक प्रकार के खंड काव्य हैं। किसी व्यक्ति का पूरा चरित्र इन रचनाओं में वर्णित नहीं मिलता है अपितु जीवन का कोई एक विशेष आकर्षक पक्ष ही रास रचनाओं के लिए चुना जाता है।

अजैन हिन्दी रास तथा तत्तुल्य अन्य वीर चरितात्मक रचनाओं और जैन रास रचनाओं में बहुत बड़ी असमानता है उनकी विभिन्न रूपरेखा ओं की। प्रथम में से करहिया को रायसो तथा भगवंत रायसा आदि कुछ कृतियों को छोड़कर सब में कथा नायकों की पूर्ण कथा कही गई है। लंबी लंबी वर्णन सूचियाँ मिलती हैं, भाषा का बनावटी रूप मिलता है[1] और प्रायः छंदाशास्त्रियों द्वारा अनुमोदित छंदों के प्रयोग मिलते हैं। प्रबन्धात्मकता लाने का पूरा प्रयत्न किया गया है। वीसलदेव रासो इन रचनाओं से मेल न खाकर जैन रास रचनाओं के समान है। प्रेम का कोमल प्रसंग उसमें मिलता है, सरल प्रयासहीन भाषाशैली और देशी छंदों का प्रयोग हुआ है।

रास नामक काव्यरूप के उपलब्ध इतिहास पर यहाँ संक्षेप में विचार कर लेना अनुपयुक्त न होगा। रास का सबसे प्राचीन निश्चित उल्लेख बाण (वि० आठवीं शती) ने हर्ष चरित में किया है। बाण के उल्लेखों से रासक के मंडलाकार नृत्त तथा अश्लील पदों का गान होने की सूचना मिलती है।[2] इसी प्रकार का एक उल्लेख उद्योतनसूरि रचित कुवलयमालाकथा (८वीं शती ई०) में भी मिलता है जिसमें रास के नृत्त से संबंधित होने का संकेत किया गया है, जिसमें स्त्रियाँ भी रहती थीं।[3] जैन कवि वीर ने अपनी अपभ्रंशकृति जंबूस्वामीचरित (रचना काल

---

१. चारणों की भाषा आदि सीखने का अभ्यास करना पड़ता था इसी कारण अठारहवीं शती के कवियों की कृतियों में भी भाषा प्राचीन सी दिखती है। दे० छंद राउजइतसीरउ, भूमिका पृ० १२। तथा सुजान चरित आदि कृतियों की भाषा देखी जा सकती है, जानबूझ कर प्राचीनता का आवरण पहनाया है।

२. सावर्त इव रासकमंडले : पृ० १३०, तथा कर्णामृतान्यश्लीलरासकपदानि, पृ० १३२, निर्णयसागर १९३७ ई०।

३. जहातेण केवलिणा अरण्णं पएसिऊण पंच चोरसयाइं रासणच्चणच्छलेन.
रासयम्मि जइलब्भइ जुअती सत्थउ।
चच्चरीए संबोहियाइं : अप० का० त्रयी की भूमिका में उद्धृत।

सं० १०७६ वि०) में रासक के गेय काव्य रचना होने का उल्लेख किया है। चर्चरी और रास दोनों गाए जाते थे।[1] अंबादेवीरास नामक रचना का जिन सेवकों द्वारा नृत्त किया जाता था।३ भारतेश्वर बाहुबलि रास तथा वीसलदेव रासों में उन रचनाओं के नृत्तनाट्य होने का स्पष्ट उल्लेख किया गया है, भारतेश्वर बाहुबलि रास में रास छंद में कृति की रचना करने का उल्लेख हुआ है जिसे जनमन को आनंद देने वाला कहा गया है।[2] और वीसल देव रासो में तो कृति को नृत्त गीत में अभिनय करने के लिए स्पष्ट निर्देशन भी दिए हैं। कदाचित् अजैन होने के कारण लेखक इस प्रकार की शृंगारपरक ऐहिकता मूलक रचना करने के लिए अधिक मुक्त था। राजमती और वीसलदेव की इस मनोरम सुखान्त प्रेमकथा को कवि ने बार-बार रस से पूर्ण कहा है,[3] नृत्त करके रचना को रसास्वादन के योग्य वनाने के लिए कवि का निर्देश इस प्रकार है :

गावणहार मांडइ और गाई रास कह यह बंसली वाई।
ताल कई समचइ घूंघरी ....
मांहिली मांडली छीदा होइ, बारली मांडली सांघणा।
रास प्रगास ईणी विध होइ[4]।
वीसल० १. ११

'गानेवाला गावे और सब ठीक रखे, बाँसुरी बजाकर रास करना चाहिये, घुंघरु ताल सम के अनुसार बजना चाहिये, अंदर का मंडल सघन हो न, बाहर की मंडली सघन हो। इस प्रकार रास का प्रकाश होता है।' नृत्त के अनुकूल वीसल-देव रासों का रूप सरल, सरस और लघु है, एक बैठक में ही पूरे रास का प्रदर्शन समाप्त हो जाता होगा इसीसे आकार की लघुता पर रचयिता ध्यान देते होंगे।

---

१. चंचरिय बंधि विरइउ सरसु, गाइज्जइ संतिउ तारु जसु।
नच्चिज्जइ जिणपयसेवर्याहिं, किउ रासउ अंबादेवर्याहिं।
संधि १ जंबूस्वामिचरिउ की हस्तलिखित प्रति से।

२. हुं हिव पभणिसु रासह छंदिहिं, तं जनमनहर गन आणांदिहिं, मा० रा० पद्य ३।
पद्य ३। तथा कीधउं ए तीणि चरितु, भरहन रेसर राउ रास छंदि ए, वही, पद्य २०२।

३. यथा नाल्ह रसायण रसभरिगाई, १.३ आदि।

४. और भी मंडली के उल्लेख मिलते हैं १.६, १.८ इत्यादि।

अन्य रास कृतियों में भी ऐसे उल्लेख मिलते हैं[1] जिनके आधार पर यह पर्याप्त दृढ़ता के साथ कहा जा सकता है कि प्रारंभ में रास-काव्य-कृतियों की रचना वृत्त और गान को ध्यान में रख कर की जाती थी। जैन कवियों द्वारा रचित अनेक रास कृतियों में वहुत मुक्त और हल्का वातावरण मिलता है केवल उसे किसी धार्मिक व्यक्ति या पर्व से संबंधित कर दिया गया है और इसके सहारे जगत् के सरस पक्ष को ग्रहण किया है। बीसलदेव रासो के रचयिता के सामने ऐसा कोई धार्मिक प्रतिबन्ध नहीं था अतः उसमें रचयिता को धार्मिक दृष्टिकोण रखने की आवश्यकता ही नहीं पड़ी।

यहाँ रासक के संबंध में नाट्य संगीत, छंद समीक्षाशास्त्रियों की भी साक्ष्य को देख लेना चाहिए। रूपकों के अतिरिक्त उपरूपकों का भी अस्तित्व बहुत पहिले से था, किन्तु नाट्याचार्यों के एक वर्ग ने उनका शास्त्र में उल्लेख नहीं किया। नृत्यप्रधान इन उपरूपकों का धनंजय (१० वीं शती ई०) ने भी कदाचित् जान-बूझ कर उल्लेख नहीं किया होगा। अन्य अनेक लेखकों को, जैसा कि ऊपर के विवेचन से स्पष्ट होगा, रासक के अस्तित्व का पता था किन्तु नाट्य समीक्षकों को पता न हो यह आश्चर्य की बात है। सबसे पहिले अभिनवगुप्त ने अनेक उपरूपकों के अस्तित्व की सूचना दी है। उन्होंने किसी प्राचीन-आचार्य-परंपरा से उपरूपक संबंधी सूचना को ग्रहण किया है जैसा कि उनके 'तदुक्तं चिरन्तनैः' शब्दों से प्रकट होता है। अभिनवगुप्त (१००० ई०) ने भरत के नाट्यशास्त्र की टीका में किसी प्राचीन आचार्य को उद्धृत करते हुए डोम्बिका, उद्धत, मसृण,

---

१. 'सप्तक्षेत्रिरासु में तालारस, लकुटारस (तालरास, लकुटरास) का उल्लेख है, प्रा० गु० का० सं० पृ० ५२, तथा आपणा कवियों पृ० १९४ तथा पेथड रास में जिन मन्दिर में 'तालमेल' में रास 'रमण' करने का उल्लेख है। रास रमेवउ जिणभुवणि तालमेल ठवि पाउ। वही एपेंडिक्स, पृ० २४। इस रास के अन्तिम छंदों में नृत्य और गीत के उल्लेख है और छंद की लय आदि गेय हैं, वही पृ० २९-३०।
रेवंतगिरिरासु (१२८८ सं०) में भी 'रंगिहि ए रमह जो रासु' कहा है, वही पृ० ७.२०।
लक्ष्मणगणि (११४३ ई०) ने 'केवि उत्तालतालाउलं रासयं'—कुछ ऊंची तालों-तालियों से आकुल रासक है—कहा है। आपणा कविओ, के० का० शास्त्री, अहमदाबाद, पृ० ९०४२ पृ० १४७।

प्रेरण, रामाक्रीडक, रासक, हल्लीसक आदि नृत्यभेदों का उल्लेख तथा लक्षण दिए हैं। इनमें से हल्लीसक और रासक के लक्षण इस प्रकार हैं. . . .मंडलाकार नृत्त को हल्लीसक कहते हैं जिसमें एक ही नेता होता है जिस प्रकार गोपियाँ में कृष्ण, और रासक में चित्र, ताल, लय से युक्त अनेक नर्तक नर्तकियाँ रहती हैं, जिनकी संख्या ६४ तक हो सकती है। इसके मसृण और उद्धत दो प्रकार होते हैं ?[१] आगे रासक और नाट्यरासक[२] दो भेदों का उल्लेख मिलता है और रासक के अंतर्गत चर्चरी आदि को भी रखा गया है[३]। सभी इस बात में एक मत हैं कि यह नृत्यप्रधान उपरूपक अनेक नर्तक नर्तकियों की सहायता से अभिनीत होता था। अभिनवगुप्त के उद्धरण के अनुसार उसके विषय के अनुसार ही भेद हो सकते थे, एक मसृण जिसमें सुकुमार विषयों शृंगारादि रसों से युक्त विषयों के समावेश की कल्पना की जा सकती है और दूसरा उद्धत (कठोर) जिसमें वीर-रसात्मक विषय रहते होंगे। बाण के उल्लेख में रासक के मंडलाकार नृत्य होने की सूचना पीछे देख चुके हैं। इनके आधार पर दो प्रकार की रासक रचनाओं की सहज कल्पना की जा सकती है एक कोमल विषयों से संबंधित और दूसरी कठोर विषयों से संबंधित रचनाओं की। फलस्वरूप वीररसात्मक और शृंगारात्मक या शाँतभाव प्रधान धाराएँ मिलती हैं।

संगीत शास्त्र की कृतियों में से संगीत रत्नाकर (१२०० ई०) में एक प्रकार के नृत्य को रासक कहा है,[४] छंदशास्त्र की कृतियों में, अपभ्रंश के अनेक मात्रिक छंदों का नाम रास, रासक, रासावलय मिलता है[५]। और इनमें से कुछ छंदों

---

१. नाटयशास्त्र, बड़ौदा संस्करण :

> मंडलेन तु यन्नृत्तं हल्लीसकमितिस्स्मृतम् ।
> एकस्तत्र तु नेता स्याद्गोपस्त्रीणां यथा हरिः ॥
> अनेकनर्तकी योज्यं चित्रताललयान्वितम् ।
> आचतुष्षष्टियुगलाद्रासकं मसृणोद्धतम् ॥ —पृ० १८३ ।

२. भोज (शृंगार प्रकाश), शारदातनय (भाव प्रकाशन) और विश्वनाथ ने इन भेदों का उल्लेख किया है।

३. दे० भावप्रकाशन पृ० २६४.१० ।

४. आपणा कविओ पृ० १४७ ।

५. समचतुष्पदी—कुसुम रासक, छंदोनुशासन ५.१५, विभ्रम रासक, छंदो० ५.१४, दुर्दुर रासक, वही, ५.१०, आमोद रासक, वही, ५.११, रासक,

का रासक कृतियों में प्रयोग भी हुआ है[1]। यह सभी समचतुष्पदी या अर्धसम-चतुष्पदी वर्ग के छंद हैं। इन छंदों के जो उदाहरण छंदशास्त्रियों ने दिए हैं उनमें से कुछ में कृष्ण और गोपियों की रास क्रीड़ा के संकेत हैं। इन उल्लेखों से यह निष्कर्ष निकल सकता है कि रासक रचनाएँ रासक छंदबद्ध होती होंगी, जैसा कि 'भारतेश्वर बाहुबलि रास' जैसी कुछ कृतियों में संकेत भी किए गए हैं। इन छंदों में से बहुत से लोक में पर्याप्त प्रचलित रहे होंगे जैसा कि छंदग्रंथों में प्राप्त कुछ छंदों के नामों से प्रतीत होता है।[2] पूर्वी वर्ग के प्राकृत वैयाकरण क्रमदीश्वर ने रासक और नागर का संबंध बताया है। एकसूत्र में उन्होंने कहा है 'शेषो नागरे रासकादौ'। नागर अपभ्रंश में रासकों की रचना होती थी—इतनी सूचना क्रम-दीश्वर के इस कथन से मिलती है।[3] यह काफी महत्वपूर्ण है। नागर अपभ्रंश का क्षेत्र पश्चिमी भारत था और वहीं रासकों की रचना का प्राधान्य रहा।

उपर्युक्त विवेचन से रासो परंपरा पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। लोक में प्रचलित एक प्रकार के नृत्य संगीत को ही आधार मानकर इस सुंदर काव्य धारा का विकास हुआ और इसके कई रूप हो गए। एक रूप परिष्कृत होकर अधिक पांडित्यपूर्ण होगया जो डिंगल और पिंगल की रचनाओं में विकसित हुआ जिसका विकास रास नृत्य के उद्धत रूप से हुआ कहा जा सकता है।[4] दूसरे मसृण रूप

वही ५.३, तथा स्वयंभू छंद ८.५०, अवतंसक रासक, छंदो० ५.५, कुन्द रासक, वही, ५.६, कोकिल रासक, वही, ५.९, विद्रुम रासक, वही, ५.१२, मेघ रासक, वही ५.१३, रास, वृत्ति जातिसमुच्चय, ४.८५, रासावलय, छंदो० ५.२६, कविदर्पण २.२५, रासक, वृत्तिजाति० ३.२८। अर्ध सम-चतुष्पदी रास, छंदो० ५.१६, ६.१९.९, स्वयंभू० ६.१४। रासाकुलं, छंदकोश, २९, ज० यू० बं० भाग २, खंड ३।

१. संदेशरासक में आधे से अधिक छंद रासक वर्ग के छंद हैं।
२. छंदो० में ६.१९.९ में एक रास वर्ग के छंद का नाम रावणहस्त है। राजपूताने में एक वाद्य यंत्र का नाम भी रावणहत्ता है जिसको बजाकर गाते हैं। उसी के साथ गाए जाने के कारण कदाचित् छंद का नाम रावण हस्तक पड़ा होगा।
३. ले ग्रामेरिएं प्राक्रीतस्, पृ० १४३।
४. बुन्देलखंड में यह रूप मौखिक परंपरा में अभी भी वर्तमान है, पुराने वीरों के कथानकों को लेकर अनेक राछड़ा (रासड़ा) अभी भी सुने जाते हैं।

की कई शाखाएं हुईं। कुछ लोक में प्रचलित हुईं कुछ कोमल काव्य के रूप में विकसित हुईं[1] किन्तु लोकरुचि के अधिक समीप यही रूप रहा। अनेक जैन रास-कृतियाँ और वीसलदेव रासो इस धारा के उदाहरण कहे जा सकते हैं।

इन दोनों काव्यरूपकों का पूर्ववर्तीरूप अपभ्रंश साहित्य में मिल जाता है। रास नामक कुछ कृतियों के तो केवल उल्लेख मात्र मिलते हैं किन्तु इनके नामोल्लेखों से इतना अनुमान तो लगाया ही जा सकता है कि रास परंपरा काफी पहिले काव्यक्षेत्र में प्रतिष्ठित हो चुकी थी। दो रचनाएं उपदेशरसायनरास तथा संदेशरासक उपलब्ध हैं। प्रथम कृति में अत्यंत सहज शैली में कुगुरु निंदा, सुगुरु स्तुति जैसे सरस प्रसंग हैं। ८० पद्धडिका छंद की इस कृति के टीकाकार ने इसके गेय रचना होने का संकेत किया है।

अत्र पद्धडिकाबन्धे मात्रा षोडश पेदिगाः
अयं सर्वेषु रागेषु गीयते गीतिकोविदैः। उप० प्रारंभ।

'प्रत्येक पाद में सोलह मात्रा युक्त पद्धडिया छंद-बद्ध यह रचना गीतकोविदों द्वारा किसी भी राग में गाई जा सकती है।' दोहा छोड़ कर तुलसी की २० चौपाइयों के बराबर संपूर्ण कृति का आकार है। संपूर्ण कृति में एक ही छंद का प्रयोग हुआ है। काव्य चमत्कार या शास्त्रीय पक्ष से दूर आडंबरहीन शैली में कृति की रचना हुई है। नृत्तगेय पक्ष पर दृष्टि रहने के कारण इस प्रकार की कृतियों का आकार बड़ा हो ही नहीं सकता था। इस रास रूप का प्रतिनिधित्व सभी जैन रास रचनाएं तथा वीसलदेवरासो करते हैं। वीसलदेव रासो का आकार, विषयनिरूपण शैली, सरल कथा पक्ष, एक छंद का प्रयोग सभी उसे उपदेशरसायन रास की श्रेणी में रखने में सहायक सिद्ध होते हैं। जैन कवि की रचना होने के कारण उपदेश० शांत रस प्रधान रचना है।

संदेश रासक में भी वीसलदेव रासो की राजमती के समान एक वियुक्ता नायिका का संदेश है। दोनों ही कृतियों में एक सी ही संवेदना मूलक भावना है। संदेश रासक में काव्य चमत्कार अधिक है, वीसलदेवरासो में सहज ढंग मिलता

---

१. लोक में इस धारा का प्रतिनिधि रूप रासलीला में मिलता है। कृष्ण की रासक्रीड़ा के संबंध में श्री मद्भागवत के रासपंचाध्यायी प्रसंग में तथा विष्णुपुराण के हल्लीसक्रीड़ा प्रसंग में उल्लेख हुए हैं। श्रीमद्भागवत् के टीकाकार श्रीधर ने परस्पर हाथ पकड़ कर स्त्रियों के साथ मंडली रूप में नृत्य विनोद को रास कहा है।

है। छंदों का वैभव संदेश रासक की दूसरी भिन्न विशेषता है और इस दृष्टि से उसे पृथ्वीराजरासो, सुजान चरित आदि रचनाओं का पूर्वरूप कह सकते हैं। संदेशरासक के एकतिहाई से अधिक भाग में रासा या रासक छंद का प्रयोग हुआ है। संदेशरासक में भी रासक रचनाओं के गाए जाने के उल्लेख मिलते हैं।[1] रास परंपरा की कई विशेषताएँ इस कृति में इस प्रकार विद्यमान हैं।

अपभ्रंश-रास-परंपरा की इन दो रचनाओं को[2] ध्यान में रख कर हिंदी रास या चारण काव्यधारा के संबंध में निम्न निष्कर्ष पर पहुँचते हैं। अपभ्रंश रास रचनाओं की लोकप्रियता के फलस्वरूप हिंदी में यह धारा प्रवाहित हुई। हिंदी के कुछ कवियों ने आगे चलकर आश्रयदाताओं से संबंधित चरित काव्यों को रास या रासो नाम दिया। जैसा कि ऊपर रास के संबंध में विवेचन किया गया है, उसको ध्यान में रखकर इस साहित्य की परीक्षा करने पर दो वर्ग स्पष्ट दिखते हैं। एक वर्ग है वास्तव में रास, रासक रचनाओं का जिसके अंतर्गत नृत्य गेय रचनाएं आवेंगी। रास रचनाओं का प्रारंभ बाणादि के उल्लेखों के आधार पर सातवीं या आठवीं शती मान सकते हैं। कौमुदी महोत्सव, मदनोत्सव जैसे अवसरों के समान ही अन्य अवसरों पर रास, चर्चरी, फागु आदि के भी गान जनता में, राजसभाओं में होते होंगे। रास और चर्चरी और फागु तीनों ही नामों से अपभ्रंश और प्राचीन गुजराती में रचनाएं मिलती हैं। हिन्दी में वीसलदेव रासो इसी प्रकार की रचना है। इस प्रकार की रचनाओं का कब तक काल रहा उसका अनुमान अन्य रास नामान्त रचनाओं से लगाया जा सकता है। आगे चलकर रास ने दृश्य-नृत्य-काव्य के क्षेत्र से निकलकर श्रव्य काव्य के क्षेत्र में प्रतिष्ठा प्राप्त की। रास-नृत्य, चर्चरी-नृत्य के साथ जो काव्यात्मक रूप था उसका कदाचित कुछ परिवर्तित परिस्थितियों के कारण स्वरूप भुला दिया गया। फागु आदि का काव्यरस से हीन रूप चलता रहा। काव्य में भी इस परंपरा के वास्तविक स्वरूप को भूलकर कवि लोग राजाओं के चरितों की रचना करने लगे, यह चारण काव्य

---

१. दे० १.४, २.४३।

२. **प्राकृत अपभ्रंश में आश्रयदाताओं की प्रशंसा में अन्य काव्यों की भी रचना हुई है। कीर्तिलता को इस प्रकार की रचनाओं का एक अन्तिम स्मारक माना जा सकता है। सब कुछ मिलाकर देखने से कुमारपाल प्रतिबोध जैसी रचनाओं में भी कुछ कुछ ऐसा ही वातावरण मिल सकता है।**

का दूसरा रूप है। पृथ्वीराज रासो,[1] राजविलास आदि समस्त रचनाएं एक प्रकार के प्रबंधात्मक चरित काव्य हैं और रास परंपरा में वे नहीं आते। आश्रयदाता राजाओं के वंशों की प्रशंसा, उनका यश, शौर्य वर्णन इन कृतियों के प्रधान विषय हैं, जबकि उपदेशरसायन रास, भरतेश्वर बाहुबलिरास, तथा रास कृतियों में यह सब कुछ नहीं मिलता। चारण काव्य के इस दूसरे काव्य रूप पर अपभ्रंश के चरित काव्यों का प्रभाव है। यह प्रभाव जहाँ तक काव्य के वाह्यरूप का प्रश्न है वहीं तक है। विषय और उसके निर्वाह की प्रेरणा इन काव्यों के रचयिताओं को बाहर से नहीं मिली। वह आश्रयदाता के व्यक्तित्व के प्रभावरूप प्राप्त हुई। छंदों का प्रयोग आदि का इस रूप के लिए प्रयोग अपभ्रंश की कृतियों के रूप में इन कवियों के सामने अवश्य था और उसे इन्होंने अपनाया।

निष्कर्षरूप मेंकहा जा सकता है कि चारण काव्य की दो धाराएं मिलती हैं एक रास परंपरा, दूसरी वीररसात्मक चरित काव्य परंपरा। दोनों क ही आदि रूप अपभ्रंश में प्राप्त होते हैं। अत्यंत मनोरम रास परंपरा का प्रवाह साहित्यिक धारा के रूप में पंद्रहवीं शती के आगे रुक गया और चरित काव्य धारा अठारहवीं शती तक अपनी एकरूपता को लिए हुए प्रवाहित होती रही। पिंगल और डिंगल इस धारा के दोनों ही रूपों में बहुत समानता रही। एक ही प्रकार के वर्णन, शैली, कृत्रिम भाषा और न्यूनाधिक रूप से एक ही प्रकार के छंद इस धारा के कवियों के द्वारा व्यवहृत होते रहे। इतिहास और कल्पना का मिश्रण इन सभी कृतियों में मिलता है।

प्रेमाख्यानक काव्य रूप : हिन्दी साहित्य में सबसे अधिक रूप विविधता प्रेमकथाओं में मिलती है। इन कथाओं के अनेक प्रकार और अनेक स्तर हैं। विभिन्न उद्देश्यों को सामने रख कर रचना करने के कारण प्रेमकथाओं के रूप भिन्न हो गए हैं। कुछ में भावधारा की भिन्नता के कारण अंतर आगया है। सभी प्रेमकथाओं में परिचित साहसपूर्ण प्रेमकथाओं को स्थान मिला है, कवियों

---

१. पृथ्वीराज रासो का जो प्रकाशित संस्करण है वह बहुत पीछे का है। पृथ्वीराज रासो की जिन हस्तलिखित प्रतियों के विवरण लेखक ने पढ़े हैं उनमें से किसी भी एक प्रति का आकार इतना बड़ा नहीं है। सब सामग्री की परीक्षा करने पर पृथ्वीराज रासो के मूलरूप के समीप पहुँचा जा सकता है जो बहुत छोटा होगा और तेरहवीं शती की रचना हो सकती है प्रस्तुत लेखक का ऐसा दृढ़ विश्वास है।

के अपने व्यक्तित्व के फलस्वरूप उनकी साहित्यिक उत्कृष्टता या न्यूनता में अंतर आ गया है। भावधारा की दृष्टि से इन प्रेम कथाओं के मोटे तौरपर दो वर्ग किए जा सकते हैं। एक वर्ग में वे रचनाएं रखी जा सकती हैं जिनमें कवियों ने जीवन के गंभीर पक्ष का भी ध्यान रखा है और यत्र तत्र आध्यात्मिकता को जीवन का महत्व पूर्ण पक्ष समझकर स्थान दिया है। दूसरे वर्ग में वे सभी रचनाएं आती हैं जिनमें प्रेम की परीक्षा कराते हुए अंत में प्रेमी प्रेमिका के सुखपूर्ण संयोग का चित्रण किया गया है। पहिले वर्ग में जायसी की पद्मावती और उस वर्ग की अन्य कृतियाँ आती हैं। प्रमुख कृतियाँ इस प्रकार हैं।

मृगावती—कुतुबन कृत[१]।

पद्मावती—मलिक मुहम्मद जायसी कृत[२], रचनाकाल १५२० ई०।

मधुमालती—मंझन कृत[३], रचनाकाल १५५२ ई०।

चित्रावली—उसमान कृत[४], रचनाकाल १६१३ ई०।

इन्द्रावती—नूरमुहम्मदकृत[५], रचनाकाल १७४४ ई०।

पुहुपावती—दुखहरनदास कृत[६], रचनाकाल १६६९ ई०।

इत्यादि ...

उपर्युक्त सभी लेखकों ने कल्पित कथाएं ग्रहण की हैं, केवल जायसी ने अपनी कृति के उत्तरार्द्ध में इतिहास के वृत्त को लाकर उपस्थित कर दिया है, कदाचित् प्रेमियों की परीक्षा के लिए जायसी ने कल्पित कथा के साथ ऐतिहासिक घटना को मिला दिया है। इन सभी कृतिकारों की अपेक्षा जायसी में कवि प्रतिभा

---

१. नागरी प्रचारिणी सभा, खोज रिपोर्ट, १९०० ई०, नोटिस ४।

२. संपा० रामचन्द्र शुक्ल, प्रयाग, १९३५ ई०। एक दूसरा संस्करण ग्रियर्सन और सुधाकर द्विवेदी ने तैयार किया था, अभी हाल ही में डा० लक्ष्मीधरने अंग्रेजी अनुवाद सहित पद्मावती का संपादन किया है।

३. हस्तलिखित प्रति का विद्वानों ने उल्लेख किया है। कृति का अध्ययन अभी तक संभव नहीं हो सका है। दे० चित्रावली की भूमिका, पृ० ३-५, वर्मा जी ने मंझनकृत इस कृति का थोड़ा सा परिचय दिया है।

४. संपा० जगन्मोहन वर्मा, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, १९१२ ई०।

५. संपा० श्यामसुन्दरदास, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, १९०६ ई०।

६. कृति की सुंदर हस्तलिखित प्रति नागरी प्रचारिणी सभा, काशी में है।

है और काव्य की दृष्टि से पद्मावती सर्वश्रेष्ठ है। प्रबन्धात्मकता भी उसमें अधिक है।

इन कृतियों के अतिरिक्त कुछ ऐसी प्रेमकथाएँ भी हैं जो वास्तव में ऐहिकता-मूलक हैं जिनका उद्देश्य केवल एक प्रेमकथा कहना मात्र है किसी प्रकार की अन्य व्यंजना या ध्वनि प्रस्तुत करना नहीं। बाह्य काव्य रूप की दृष्टि से पद्मावती के समान चतुर्भुजदास निगम कायस्थ कृत मधुमालती[१] है। केवल दोहा छंद का ही जिनमें प्रयोग हुआ है ऐसी प्रेम कथाएँ हैं गणपति कृत माधवानल कामकंदला[२] और ढोला मारूरा दूहा[३]। इन कथाओं के अतिरिक्त अन्य अनेक पौराणिक और लौकिक प्रेम कथाएं मिलती हैं,[४] जैसे सत्यवती कथा, उषा[५] अनिरुद्ध, नलदमयन्ती[६] कथा तथा पदमतिलक कृत सदैवच्छ चरित तथा सदैवच्छ सावलिंना की चौपाई। भद्रसेन विरचति दोहाबद्ध चंदनमयलागरी की कथा।[७] इनमें से अनेक कथाएं काल की सीमाओं का अतिक्रमण करती हुई रूप परिवर्तन के साथ अभी भी लोक में प्रचलित हैं। उदाहरणार्थ सुदैवच्छ (सदयवत्स) सावलिंगा की कथा को

---

१. हस्तलिखित प्रति के लिए लेखक डा० माता प्रसाद गुप्त और मुनि कान्ति-सागर जी का कृतज्ञ है।

२. संपा० एम० आर० मजूमदार, गायकवाड्स ओरिएंटल इन्स्टिटयूट, बड़ौदा १९४२ ई०; कृति में परिशिष्ट के रूप में कवि आनन्दधर विरचित 'माधवानलाख्यानम्' वाचक कुशलाभ रचित' माधवानल कामकन्दला चउपई' और कवि दामोदर विरचित 'माधवानलकथा' उद्धृत की है। अंतिम दो में दूहा, सोरठा, वस्तु, चौपाई, गाहा छंदों के प्रयोग हुए हैं।

३. संपा० रामसिंह आदि, नागरी प्र० सभा, काशी, १९९१ वि०। परिशिष्ट में कथा के अन्य रूपान्तर भी दिए हैं।

४. हिन्दुस्तानी, भाग ७, १९३७ ई०।

५. भारथसाह तथा रामदास द्वारा लिखित। नंददास कृत रूपमंजरी भी इसी प्रकार की कृति है।

६. जान कवि कृत तथा सूरदास लखनवीकृत।

७. आमेर शास्त्र भंडार जयपुर में लेखक ने कृतियों की हस्तलिखित प्रतियां देखी थीं।

सकते हैं। नल और दमयन्ती की प्रेमकथा तथा सुदैवच्छ कथा[1] की लोकप्रियता का उल्लेख संदेशरासक में इस प्रकार किया गया है।

कह व ठाइ सुदयवच्छ कत्थ व नलचरिउ । २.४४

इसी प्रकार इन प्रेम कथाओं की लोकप्रियता के संबंध में जायसी ने पद्मावती[2] में तथा बनारसीदास ने अर्द्धकथा[3] में उल्लेख किये हैं। उपर्युक्त प्रेमकथाओं के रूपों पर संक्षेप में यहाँ विचार किया जा सकता है। पद्मावती, मधुमालती, मंझनकृत, चित्रावली, पुहुपावती, हंस जवाहिर, इंद्रावती इत्यादि प्रेमकथाओं का रूप एक प्रकार का कहा जा सकता है। इन कृतियों में एक ही प्रकार की शैली का अनुगमन किया है। एक ही प्रधान कथा आदि से अंत तक कही गई है। छंदों का क्रम भी एक ही प्रकार का प्रधानतः इन कृतियों में मिलता है[4]। प्रेमी प्रेमिकाओं के एक दूसरे के प्रति प्रेम की दृढ़ता की परीक्षाएँ भी एक हीप्रकार से ली गई हैं। चतुर्भुजदास कृत मधुमालती कथा का रूप दूसरे प्रकार का है। उसमें प्राकृत में लीलावती कथा, करकंडुचरिउ, पंचतंत्र की कथा शैली का अनुसरण किया है। प्रमुख कथा तो चलती ही रहती है उससे संबंधित अनेक अवान्तर कथाएँ भी

---

१. सदयवत्स की कथा का एक रूपान्तर गुजराती में 'सदयवत्स चरिउ' नाम से मिलता है जिसकी रचना सं० १४६६ में भीम ने की। कृति में दोहा, पद्धडी, चौपाई, वस्तु, छप्पय, कुंडलिया, मौक्तिकदाम आदि मात्रिक छंदों का प्रयोग हुआ है। शृंगार, वीर, अद्भुत रसों की प्रधानता है। दे० आपणा कविओ पृ० ३१९-३२२। आजकल भी लोक में यह कथा 'सारंगा सदा-वृच्छ' नाम से प्रचलित है।

२. दुष्यंत शकुंतला, माधवानल कामकंदला पद्मा० पृ० ९८, तथा विक्रम स्वप्नावती, मधूपाछ डा० माताप्रसाद गुप्त इसके स्थान पर 'सुदैवच्छ' पाठ ठीक बताते हैं। मुग्धावती, मृगावती, खंडावती, मधुमालती, प्रेमा-बती, उषानिरुद्ध प्रेम कथाओं के उल्लेख किए हैं। पद्मा० पृ० ११३-११४, कृति में अन्य अनेक प्रेमकथाओं के यत्र तत्र उल्लेख मिलते हैं।

३. मधुमालती मिरगावती, पोथी दोइ उदार, पद्य ३३५, प्रेमी संस्करण बंबई १९४३।

४. दोहा चौपाई शैली का अनुगमन किया है। प्रति दोहे के बीच में अर्द्धालियों की संख्या में अन्तर है। कुछ कवियों ने ८ अर्द्धालियों का प्रयोग किया है कुछ ने ७ का।

कृति में कही गई है। माधवानल कामकंदला तथा चंदन मलयागिरी की कथा के रूपों में थोड़ी भिन्नता है। वे विशुद्ध प्रेम कथाएं हैं। धार्मिक या आध्यात्मिक व्यंजना उनमें बिल्कुल नहीं है। प्रथम में प्रेमकथा के अनुरूप ही प्रारंभ में कामदेव की वंदना है, सरस्वती, गणेश आदि की वंदना पीछे की गई है, कृति का प्रारंभ प्रेम के सर्वोच्च देवता, सुर, नर, ब्रह्मा सबको वश में करने वाले रतिरमण कामदेव के स्मरण से हुआ है।

कुंअर कमला रति रमण, मयण महाभउ नाम।
पंकजि पूजिय पय कमल, प्रथम जि करूं प्रणाम।

ढोला मारूरा दूहा में किसी भी देवता की वंदना नहीं मिलती।[1] बिना किसी भूमिका के अकस्मात् कृति का प्रारंभ नरवर के राजा और पूगल के राजा के परिचय से होता है। कथा कहने का सीधा ढंग अपनाया गया है। और ढोला और मारू (मारवणी) का बाल्यावस्था में ही विवाह हो जाता है। वयस्क होने पर मारू के हृदय में ढोला के प्रति प्रेम जागृत होता है और कवि ने वियोगादि का वर्णन करके संयोग वर्णन किया है। बड़े सरल ढंग से प्रेमियों के प्रेम की परीक्षा का भी कवि ने वर्णन किया है।[2]

इन सभी प्रेमकथात्मक कृतियों के रचयिताओं का प्रधान उद्देश्य रहा है कथा कहना — जीवन के अन्य पक्ष प्रेमकथा के अंग होकर ही आए हैं। प्रेम की व्यंजना को व्यापक बनाने के लिए नायकों के चरित्रों को इन सभी कवियों ने साहस सम्पन्न चित्रित किया है। सभी नायक परम सुंदर और पुरुषार्थी हैं। नायिकाएं भी नायकों में दृढ़ रति रखने वाली हैं। इन प्रेमकथाओं में से कुछ में कवियों के विशेष दृष्टिकोण के कारण थोड़ी गंभीर पारलौकिक सत्ता की व्यंजना भी मिलतीहै और कुछ विशुद्ध सरल प्रेमकथाएँ हैं। यह प्रेमकथाएँ किसी भी प्रकार प्रबंध काव्य के अंतर्गत महाकाव्यों की श्रेणी में नहीं रखी जा सकती हैं। प्रबन्धात्मकता, कथा प्रवाह इनमें मिलता है लेकिन जो वस्तु व्यापार की महानता

---

१. परिशिष्ट में दिए हुए कृति के अन्य रूपान्तरों में से कुछ के प्रारंभ में सरस्वती वंदना मिलती है।

२. एक सांप के काटने से रास्ते में मारवणी की मृत्यु हो जाती है। लोग ढोला से और मारवणी स्त्री से विवाह करने के लिए कहते हैं किन्तु उसका प्रेम दृढ़ रहता है। एक योगी आकर मारवणी को पुनः जीवित कर देता है और दोनों प्रेमी प्रसन्न होते हैं। ढोला मारू० पद्य ६११ और आगे।

जटिलता और भव्यता, वर्णनों की उत्कृष्टता और फिर एक सुसंबद्ध प्रबंधपटुता महाकाव्यों के लिए अपेक्षित है वह इन प्रेमकथाओं में नहीं प्राप्त होती। उत्सुकता के तत्त्व को साथ लिए प्रेमी और प्रेमिका की कथा प्रस्तुत करना इन कृतियों का प्रधान उद्देश्य है। प्रसंगवश जहाँ तहाँ सुंदर वर्णन और संवेदनात्मक संयोग वियोग के चित्र भी मिल जाते हैं। अन्य समस्त व्यापार इस व्यापक और कभी संकीर्ण प्रेम के ही अंग होकर आए हैं। ये समस्त प्रेम-आख्यानक प्रधान कृतियाँ 'कथा साहित्य' के अंतर्गत आवेंगी।

यहाँ कथा के संबंध में संक्षेप में विवेचन किया जा सकता है। अपभ्रंश साहित्य में इस प्रकार की प्रबन्धात्मक अनेक प्रेम कथाएं मिलती हैं जिनको धर्म का आवरण पहना कर प्रस्तुत किया गया। जैन लेखकों ने कथा के संबंध में, काफी सतर्क उल्लेख किए हैं, वसुदेव हिंडी (छठी शती ई०) में इस प्रकार की अनेक गद्यबद्ध कथाएं मिलती हैं।[1] एक स्थान पर कथा (चरित) के संबंध में विवेचन भी मिलता है[2] जिसमें कहा गया है कि कथा दो प्रकार की होती है चरिता (सत्य) और कल्पिता। इसमें चरिता चरित पर आधारित दो प्रकार की होती है स्त्री की और पुरुष की। धर्म, अर्थ और कामविषयक कार्यों में दृष्ट, श्रुत और अनुभूत वस्तु चरिता कहलाती है। इसके विपरीत पहिले जिसका कुशल-पुरुषों के द्वारा उपदेश किया गया हो और फिर स्वमति से उसकी योजना की गई हो वह कल्पित है। पुरुष स्त्री तीन प्रकार के होते हैं उत्तम, मध्यम और निकृष्ट, उनके चरित भी तीन प्रकार के होते हैं, इस प्रकार अद्‌भुत, शृंगार, हास्य रस से पूर्ण चरित और कल्पित आख्यान होते हैं।

---

१. भामह और दंडी के कथा और आख्यायिका के विवेचन के समान ही वसुदेव हिंडी का विवेचन प्राचीन है। भामह के समकालीन ही प्रस्तुत कृति का रचना काल होना चाहिए।

२. दुविहा कहा चरिया य कप्पिया य। तत्थ चरिया दुविहा इत्थीए पुरिसस्स वा, धम्मत्थ कामकज्जेसु दिट्ठं सुयमणुभूयं चरियं ति वुच्चति। जं पुण विवज्जासिय कुसलेंहि उवदेसियपुव्वं समतीए जुज्जमाणं कहिज्जइ तं कप्पियं, पुरिसा इत्थीओ य तिविहा वबुद्धसु उत्तिमा, मज्झिमा णिक्किट्ठा य, तेंसिह चरियांणि वि तिव्विहाणि। ततो सो एवं वोत्तूण चरिय कप्पियाणि अक्खाणयाणि अब्भुयसिंगार हासरसबहुलाणि वण्णेति। वसु० दसमो लंभो, पृ० २०८-९।

दशवैकालिकनिर्युक्ति में भी कथाओं के संबंध में विस्तृत विवेचन मिलता है। कथाओं के भेदों की चर्चा करते हुए अर्थकथा, कामकथा, धर्मकथा और मिश्रित कथा भेदों की चर्चा की है और कहा है इनमें से एक एक के अनेक भेद होते हैं। कथा के अतिरिक्त विकथा की भी चर्चा की है जिसमें स्त्री, भक्त, राजा, और चोर आदि की कथा हो सकती है।[1] हरिभद्र (७५० ई०) ने समराइच्चकहा के प्रारंभ में कथा के संबंध में विस्तार से लिखा है। कथावस्तु के तीन भेद उन्होंने किए हैं, दिव्य, दिव्यामनुष और मानुप, दिव्य में केवल देवचरित वर्णित रहता है। दिव्यामानुप में देव और मनुष्य दोनों का चरित्र वर्णित रहता है और मानुष में केवल मनुष्य का चरित्र वर्णित रहता है। कथावस्तु के आधार पर उन्होंने कथा के चार प्रकार माने हैं—अर्थकथा, कामकथा, धर्मकथा और संकीर्ण कथा[2] और आगे हरिभद्र ने श्रोताओं के प्रकारों का भी उल्लेख किया है[3]। उद्योतन (७७९ ई०) ने कुवलयमाला कथा में कथाओं का विवेचन करते हुए सकलकथा, खंडकथा, उल्लावकथा, परिहासकथा, संकीर्णकथा भेदों का उल्लेख किया है और फिर अनेक उपमेदादि की चर्चा की है। सिद्धर्षि की उपमितिभवप्रपंचाकथा,[4] कौतूहल कृत लीलावती कथा,[5] कथासरित्सागर,[6] काव्यानुशासन आदि कृतियों में भी कथा के संबंध में इस प्रकार के विवेचन मिलते हैं। वसुदेवहिंडि, समराइच्च कहा, लीलावती कथा, इसी प्रकार के कथा ग्रंथ हैं। अपभ्रंश में इस प्रकार की कथाकृतियों में भविष्यदत्त कथा, सुदर्शनचरित, उपमश्रीचरित, जिनदत्तचरिउ आदि कृतियाँ ली जा सकती हैं। सब में दिव्य मानुष पात्र मिलते हैं। लीलावती कथा (प्राकृत) में देव श्रेणी के पात्र मनुष्यों की सहायता करते हैं

---

१. धम्मो अत्थो कामो उपइस्सइ जत्थ सुत्त कलेसु। लोगे वेए समए सा उकहा मीसिया नामा, २१२।
इत्थिकहा भत्तकहा रायकहा चोर जणवय कहा य। नउ नट्टजल्ल मुट्ठिय कहा उ ऐसा भवे विकहा, २१३।
इत्यादि दशवैकालिक निर्युक्ति, अर्नस्ट लायमन्न—जेड० डी० एम० जी० भाग ४६, पृ० ६५२-३।
२. समरा० पृ० २-४, याकोबी संस्करण।
३. उप० पृ० ३-६, याकोबी संस्करण, कलकत्ता १९१४।
४. लीला० पद्य ३५ आदि।
५. कथा० १.२.४७-४८।
६. कथा. १.२. ४७-४८।

और मनुष्यों के समान ही प्रेमादि व्यापारों में रत रहते दिखते हैं। लीलावती कथा विशुद्ध प्रेम कथा है। अपभ्रंश में भविष्यदत्तकथा को उसके रचयिता ने कथा कहा है। कृति के अधिकांश में भविष्यदत्त और भविष्यानुरूपा की कथा है। दोनों के प्रेम की परीक्षा होती है। समुद्र में कष्ट सहकर भी अपने पति और प्रेमी भविष्यदत्त को वह नहीं भूलती। यक्ष मणिभद्र आकर भविष्यदत्त की सहायता करता है। लोक प्रचलित साहसपूर्ण प्रेम कथा को जैन कवि ने धार्मिक रूप दे दिया है। पद्मश्री चरित में पद्मश्री और समुद्रदत्त की प्रेमकथा है, जिसको पूर्वजन्म के कर्मों से संबंधित कर धार्मिक रूप दिया गया है। अन्य बहुसंख्यक अपभ्रंश चरित काव्यों में किसी न किसी रूप में प्रधान अंश प्रेम कथात्मक ही रहता है, कृति को सद्परिणाम पर्यवसायी बनाने के लिए प्रधान पात्रों को धार्मिक प्रवृत्ति का चित्रित किया गया है और इस प्रकार कृतियों को धर्मकथा का रूप दे दिया गया है। इन कृतियों का भी कथा कहना प्रधान उद्देश्य प्रतीत होता है। प्रसंगवश काव्यमय वर्णनादि अवश्य मिलते हैं, किन्तु पूर्ण काव्यत्व इन कृतियों में नहीं मिलता।

बाह्यरूप, छंदों की गठन, घटनाओं के आधार पर कृति का विभिन्न संधियों में विभाजन इन कृतियों में एक समान है। समस्त कृतियाँ कडवकों में विभक्त मिलती हैं। कथा कहने के लिए इस शैली की लोकप्रियता का इससे सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है। हिन्दी के अधिकतर कवियों ने अपनी कथा कृतियों में इसी शैली का प्रयोग किया है। और उन समस्त कथन प्रकारों को भी अपनाया है जिनके संकेत अपभ्रंश कृतियों में मिलते हैं। जैनेतर पद्यवद्ध अपभ्रंश कथा ग्रंथ अभी तक उपलब्ध नहीं हैं। किन्तु जैन अपभ्रंश चरितात्मक कृतियों के आधार पर उनके स्वरूप का भी अनुमान किया जा सकता है। निश्चय ही हिन्दी के प्रेमाख्यानक दोहाचौपाई वाले काव्यरूप का पूर्ववर्ती रूप अपभ्रंश की यही कृतियाँ हैं। घत्ता के स्थान पर दोहा का प्रयोग करनेवाली अपभ्रंश कृतियाँ अवश्य रही होंगी किन्तु इस समय वे उपलब्ध नहीं हैं।[1] केवल दोहेवाला अपभ्रंश रूप भी पूर्णरूप में इस समय उपलब्ध नहीं है किन्तु हेमचंद्र द्वारा उद्धृत पद्यों में जो श्रृंगार भावना मिलती है उसके आधार पर यह निस्संकोच कहा जा सकता है कि प्रेमकथाओं के लिए अपभ्रंश में दोहा छंद का भी प्रयोग होता था। माधवनल कामकंदला और ढोला मारूरा दूहा वाले प्रेम कथा रूप के पूर्ववर्ती रूप की

१. कहीं-कहीं अपभ्रंश कृतियों में घत्ता के स्थान पर दोहा भी प्रयुक्त हुआ मिलता है।

कल्पना हेमचंद्र द्वारा संग्रहीत शृंगारपरक दोहों में की जा सकती है। अनेक स्थलों पर इन पद्यों में ऐसे संकेत मिलते हैं।

ढोला सामला धण चंपा वण्णी

प्रा० व्या० सूत्र ३३०।

अथवा **ढोल्ला मइं तुहुं वारिया मा कुरु दीहा माणु।**
निद्दए गमिही रत्तडी दडवड होइ विहाणु

वही, ३३०।

इसी प्रकार के अन्य पद्यों में किसी कल्पित ढोल्ला (ढोल्ला-दुल्हा-दुर्लभ) की कथा के संकेतों की कल्पना की जा सकती है।

इन सभी प्रेमकथाओं (अपभ्रंश औरहिन्दी) की कथाएं कल्पित हैं। कहीं कहीं ऐतिहासिक पात्रों का समावेश कवियों ने कर दिया है किन्तु उसमें परंपरा के अतिरिक्त ऐतिहासिकता ढूंढना दुस्साहस मात्र प्रतीत होता है। प्रेमपरीक्षा के लिए जायसी ने अलाउद्दीन का वृत्त जोड़ दिया है, संभव है उसमें ऐतिहासिक सत्य हो किन्तु अन्य सभी नाम केवल कथा कहने के लिए प्रयुक्त हुए हैं। इसी प्रकार अन्य प्रेमकथाओं में पात्रों और स्थानों के नाम मात्र ऐतिहासिक हो सकते हैं। घटनाएं लोकप्रचलित या कल्पित हैं। ढोला मारू नाम भी ऐतिहासिक है किन्तु कथा का रूप कल्पित है। हिंदी प्रेमकथाओं के इन नानारूपों की झलक उपलब्ध अपभ्रंश साहित्य में मिल जाती है।

अपभ्रंश चरित काव्यों का जैसा बाह्यरूप मिलता है उसी प्रकार का बाह्य-रूप हिन्दी में तुलसीदास के रामचरितमानस का मिलता है। अपभ्रंश में राम-चरित को लेकर स्वयंभू की स्वतंत्र कृति 'पउमचरिउ' मिलती है। पुष्पदन्त के महापुराण में भी रामायण की कथा मिलती है। ऐसे कोई निश्चित प्रमाण नहीं हैं जिनके आधार पर यह कहा जा सके कि तुलसीदास को इस रामकथा साहित्य का पता था या नहीं। यह निश्चित है कि कडवकबद्ध अपभ्रंश साहित्य की शैली की किसी विकसित साहित्य धारा से उनका परिचय अवश्य था और चरित काव्यों के लिए उस शैली की महत्ता को उन्होंने स्वीकार किया और रामचरित मानस में उसे अपनाया। कुछ विद्वानों ने[1] स्वयंभू के पउमचरिउ और रामचरित मानस में कुछ समानताओं का उल्लेख किया है किन्तु वे समानताएं बहुत ही ऊपरी हैं।[1]

---

१. राहुल सांकृत्यायन ने प्राचीन हिन्दी काव्य धारा की भमिका में ऐसे संकेत किए हैं, किताबमहल, इलाहाबाद।

स्वयंभू की कृति के प्रारंभ और रामचरितमानस के प्रारंभ में कुछ स्थल समान हैं। स्वयंभू ने रामकथा की नदी से समानता की है—

रामकहाणइ एह कमागय।
अक्खरवासजलोहमणोहर सुअलंकार सद्दमच्छोहर।
दीहसमासपवाहावंकिय सक्कयपाययपुलिणालंकिय।
देसीभासाउभयतडुज्जल कवि दुक्कर घणसद्दसिलायल।
अत्थवहलकल्लोला णिट्ठिय आसासयसमतूहपरिट्ठिय।
एह रामकहसरिसोहंती. . . . .

'यह रामकथा नदी क्रमागत है। अक्षर समूह ही मनोहर जल समूह है। अच्छे अलंकार और शब्द मत्स्यादि हैं। दीर्घसमासादि वक्र प्रवाह है। संस्कृत-प्राकृत रूपी अलंकृत पुलिन हैं। देशी भाषा दोनों उज्ज्वल तट हैं। कवि दुष्कर-सघन-शब्द-समूह शिलातल है। अर्थ बहुलता ही कल्लोल है। आश्वासक रूपी तीर्थों में विभक्त यह रामकथा-सरिता शोभित है।'

आगे कवि ने बड़े ही नम्रतापूर्ण शब्दों में अपनी असमर्थता प्रकट की है:

बुहयण सयंभु पइ विन्नवइ मइं सरिसउ अण्णु णत्थि कुकइ।
वायरणु कयावि न जाणियउं न वि वित्ति सुत्तु वक्खाणियउं।
ण उ पच्चाहारहो तत्तिकिय ण उ संधि हे उप्परि बुद्धिथिय।
...पउमचरिउ १.३

'बुधजन! स्वयंभू आपसे विनती करता है 'मेरे समान अन्य कोई कुकवि नहीं है। व्याकरण मैं कदापि नहीं जानता और न वृत्ति सूत्र का ही वर्णन किया, न प्रत्याहार के तत्व का ज्ञान है और न संधि के ऊपर वुद्धि स्थिर हुई।'

कवि ने आगे दुर्जनों का स्मरण इस प्रकार किया है:

छुडुहोंतु सुहासियवयणाइं गामिल्लभासपरिहरणाइं।
एहुसज्जणलोयहो किउ विणउ जंअवुहुपदरिसिउअप्पणउं।
जइएम वि रुसइ को वि खलु तहो हत्थुत्थल्लिउ लेउछलु।
घत्ता-पिसुणें किं अब्भत्थिएण जसु कोवि न रुच्चइ।
किं छण चंदुमहागणेह कंपंतुवि मुच्चइ।
अवहत्थिवि खलयणु निरवसेसु... वही १.३.४।

'ग्रामीण भाषा से युक्त वचन युक्ति के कारण सुभाषित वचन हो जाते हैं। सज्जनों के विनय करता हूँ जो मैंने अपनेअबोध को प्रदर्शित किया है, यदि इस पर भी कोई खल रुष्ट होता है उसके हाथों को छल ही मिलेगा। पिशुन

की अभ्यर्थना करने से क्या लाभ जिसको कोई भी अच्छा नहीं लगता, महाग्रह से ग्रसित चंद को क्या। वह मुक्त हो ही जाता है। समस्त खलजनों की अभ्यर्थना करके....'

तुलसीदास के रामचरित मानस में भी रामकथा-सरोवर का रूपक,[१] उनका विनय प्रदर्शन और दुर्जनों का स्मरण ऐसे ही प्रसंग हैं। संभव है कि अपभ्रंश की इस परंपरा से उनका परिचय रहा हो। अपभ्रंश का पंडित मंडली में आदर नहीं होता होगा इसी कारण प्रायः प्रत्येक अपभ्रंश कवि अपनी कृति के प्रारंभ में इन निंदक पंडित-खलों का स्मरण करता मिलता है। यही स्थिति भाषा के कवियों की भी रही होगी अतः उसी प्रकार के उद्‌गार हिन्दी के कवियों ने भी प्रकट किए हैं। या पीछे प्रथा के रूप में इसका पालन होने लगा होगा। तुलसीदास के मानस तथा 'पउमचरिउ' में प्राप्त होने वाली ये समानताएँ इसी कवि परंपरा द्वारा आई कही जा सकती है। इन समानताओं के अतिरिक्त तुलसी की कृति में प्रायः छंदों की रूपरेखा अपभ्रंश चरित्र काव्यों के समान ही है। उसका मूल स्रोत अपभ्रंश के इन चरित्र काव्यों को माना जा सकता है। और किसी प्रकार का प्रभाव जैन अपभ्रंश की कृतियों का पड़ा होगा नहीं कहा जा सकता। पद्धडिया-घत्ता शैली का ही परिवर्तित रूप चौपाई-दोहा शैली को कहा जा सकता है।[२]

हिन्दी में विशुद्ध साहित्यिक महाकाव्य लिखने का प्रयास केशवदास की रामचंद्रिका[3] में मिलता है। इस प्रकार के प्रयास अपभ्रंश में मिलते हैं जहाँ कवियों ने अनेक प्रकार के छंदों का प्रयोग एक ही कृति में किया है। नयनंदि का सुदर्शनचरिउ और लाखू का जिनदत्त चरिउ इस प्रकार की दो रचनाएँ ली जा सकती हैं। २१२ कडवकों (चौपाइयों) में समाप्त सुदर्शनचरित में सत्तर विभिन्न मात्रिक और वर्णिक छंदों का प्रयोग हुआ है।[४] इसी प्रकार जिनदत्तचरिउ में ३० के लगभग विभिन्न

---

१. रामचरितमानस १.३७ सरोवर का रूपक, १.४०-४१ सरिता का रूपक विनय, वही १.९, १२-१४। दुर्जनों का स्मरण, वही १.४ ६।

२. घत्ता के स्थान पर कहीं कहीं अपभ्रंश कृतियों में दोहा का भी प्रयोग मिलता है। दोहाकोष में ऐसे स्थल मिलते हैं तथा लाखू के जिनदत्त चरित में भी ऐसे कतिपय स्थल मिलते हैं।

३. केशव कौमुदी दो भाग, संपा० लाला भगवानदीन, इलाहाबाद १९३१ ई०।

४. कुछ छंद निम्नलिखित हैं : पद्धडिया, विद्युल्लेखा, तोटणक, मंदाक्रान्ता, शार्दूलविक्रीडत, रमणी, भुजंग प्रयात, प्रमाणिका, पादाकुलक, तोणाम

छंदों का प्रयोग हुआ है। रामचंद्रिका के रचयिता के सामने अवश्य ही विविध तुकान्त अपभ्रंश छंदों के प्रयोग से युक्त कुछ इस प्रकार की कृतियाँ रही होंगी। जहाँ तक इस विविध छंदात्मकता का प्रश्न है रामचंद्रिका को सुदर्शन चरित जैसी अपभ्रंश कृतियों का प्रतिरूप माना जा सकता है। दोनों कृतियों की शैलियों में कोई साम्य नहीं मिलता। कथा, प्रवाह, रचनाशैली के लिए केशवदास ने अपनी प्रतिभा या अन्य आधारों का सहारा लिया होगा। तुलसीदास की कवितावली में भी सुदर्शन चरित वाले रूप का अनुकरण किया गया है।

सूरदास की महत्वपूर्ण कृति सूरसागर में भी कथा का हल्का सा सूत्र मिलता है। पदों का रूप बौद्ध सिद्धों के 'गानों' में मिलता है। बौद्ध सिद्धों ने रागबद्ध पदों की रचना की है और उसी प्रकार के पद हिन्दी के कवियों की रचनाओं में भी मिलते हैं। किन्तु पदों के रूप में प्रबन्ध रचना का कोई भी उदाहरण अपभ्रंश साहित्य में नहीं मिलता। छंदों की दृष्टि से पदों के पूर्ववर्ती रूप की रूपरेखा उपलब्ध अपभ्रंश साहित्य में मिल जाती है किन्तु सूरसागर में कथा कहने के लिए जिस ढंग से पदों का प्रयोग मिलता है वह अपभ्रंश साहित्य में अभी तक नहीं मिल सका है। संभव है पदों का स्फुट विषयों के लिए प्रयोग होता होगा किन्तु कृष्ण कथा के लिए उनका प्रयोग सूरदास आदि भक्तों का मौलिक प्रयोग या किसी अन्य अज्ञात धारा के प्रभावस्वरूप हो सकता है।

मुक्तक रूप : पद शैली

पदों का वाह्यरूप तो गोरखवानी[1], कबीर, विद्यापति, कृष्णभक्त कवियों,

---

रसारिणी, पद्धडिकाविषमपद, मालिनी, मत्तमातंग, दोधकं, काम वाण, समाणिका, दुवई मदनविलास, मोटनक, मदन, मदनावतार, आनन्द, उपेन्द्रवज्रा, उपजाति, मंजरी, खंडिता, त्रिभंगिका, चप्पई, मौक्तिकदाम, दुवई चंद्रलेखा, वसंत चवई, आरणाल, तोमर पुष्पमाल, हेला दुवई, मंदयारति, अमरपुर सुन्दरी, कामबाण, चन्द्रलेखा, रतनमाल पद्धडिका, विषमपदपादाकुलक, संवत्थ, मागहणकुडिका, उर्वशी, कामलेखापद्धडिका, सालभंजिका, विलासिणी, दिनमणि, वसंतचवर, दोहा, सारीय, तुष्ठिका, चंडपाल, भ्रमरपद, आवली, रयडा, पृथ्वी, णिसेणी, विलासिणी, पंचचामर, सोमराजी, रचिता इत्यादि।

१. गोरखवानी—संपादक डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल, प्रयाग १९४२ ई०। गोरखनाथ का समय दशवीं शती विक्रम है किन्तु गोरखवानी में संग्रहीत

तुलसीदास, 'मीरा'[१], आदि सभी में प्रायः एक समान ही है। विषय का विवेचन कुछ कवियों में प्रधान है। गोरखवानी, कबीर, कृष्णभक्त कवियों में से कुछ के पदों में, तुलसीदास की विनयपत्रिका के बहुसंख्यक पदों में विषय विवेचन की प्रधानता है। जैसा ऊपर संकेत किया जा चुका है गेय पदों का रूप बौद्ध सिद्धों के पदों में मिलता है। सिद्धों के इन पदों में गीति तत्व कम मिलता है, विषय के विवेचन का प्रयास अधिक है। भावधारा की दृष्टि से सिद्धों के पदों और गोरखवानी तथा कबीर के पदों में बहुत साम्य है।[२] नाद, विन्दु, रवि, शशि आदि शब्दावली की समानता के अतिरिक्त जो खंडन की प्रवृत्ति सिद्धों के दोहाकोष में मिलती है वही कबीर की वाणियों में भी प्राप्त होती है। चर्यागीतों के कुछ पदों में गीतात्मकता की भी झलक मिलती है जहाँ सिद्धों ने परमसुख के अनुभव को व्यक्त किया है। यथा :

चिअ कन्नहार सुनत मांगे, चलिल कान्ह महासुह सांगे।

चर्या २१.

अथवा, **नाना तरुवर मौलिल के गअणत लागेली डाली।**
एकेली सबरी ए वन हिंडई कर्णकुंडल वज्र धारा।

चर्या० ३८.

जो हो हिन्दी के पद साहित्य के वाह्य रूप, संगीतात्मकता आदि के पूर्वरूप का आभास सिद्धों के इन चर्यागीतों में मिल जाता है।

रचनाएं दशवीं शती की नहीं हो सकती। गोरखवानी की रचनाओं का रूप बहुत पीछे का प्रतीत होता है।

१. i संत कबीर, डा० रामकुमार वर्मा, प्रयाग, १९४७। बीजक, रामनारायण लाल, इलाहाबाद, १९२८।

ii विद्यापति पदावली, संपा० खगेन्द्रनाथ मित्र, कलकत्ता १९४५।

iii सूरसागर, बेंकटेश्वर प्रेस, तथा नागरी प्रचारिणी सभा संस्करण। नंददास ग्रंथावली, इलाहाबाद यूनीवर्सिटी।

iv विनयपत्रिका; गीताप्रेस संस्करण।

v मीराबाई की पदावली प्रयाग, १९९८ वि०।

२. दे० चर्यापद गीति १, ५, २७, ३५, गोरखवानी पृ० १५६ पद ५६, पृ० १५०, पद ५४, पृ० १३६, पद ४२ इत्यादि तथा संत कबीर पृ० २.२, पृ० ४५ पद ४२. १, पद ५२, पृ० १०८ पद १८ इत्यादि।

स्फुट पद्यों का हिन्दी में एक दूसरा रूप दोहों के रूप में मिलता है। दोहों का प्रयोग अनेक प्रकार के विषयों के लिए कवियों ने किया है, उपदेश, मत-विवेचन, खंडन-मंडन, शृंगार, नीति इत्यादि विषयों को व्यक्त करने के लिए दोहों का प्रयोग हुआ है। संतों की साखियों में दोहों का प्रयोग सिद्धान्त-विवेचन, उपदेश, तथा अन्य मतों के खंडन के लिए हुआ है। तुलसीदास जैसे कवियों ने दोहों का प्रयोग भक्ति, उपदेश, सुभाषितादि के लिए किया है।[1] बिहारी जैसे कवियों ने बड़ी ही सफलतापूर्वक दोहों का प्रयोग नीति, उपदेश, सुभाषित और शृंगार परक विषयों के लिए किया है। प्राकृत की गाथा सप्तशती और वज्जा लग्ग में इन्हीं विषयों से सम्बन्धित पद्य संग्रहीत हैं। गाथा सप्तशती और बिहारी के अनेक पद्यों में बहुत भावसाम्य है[3] और वह आकस्मिक नहीं हो सकता। संतों की साखियों में जो धारा मिलती है उसका पूर्ववर्ती रूप योगीन्द्र, मुनि रामसिंह, देवसेन के पद्यों में मिलता है।[4] हेमचंद्र द्वारा उद्धृत अनेक पद्यों से बिहारी के पद्यों की सरलता-पूर्वक समता की जा सकती है।[5]

सवैया और कवित्त प्राचीन अपभ्रंश कृतियों में नहीं मिलते हैं। अपभ्रंश छंद ग्रन्थों में अवश्य मिलते हैं। स्फुट पद्यों की इस धारा का पूर्णरूप प्राप्त अपभ्रंश साहित्य में नहीं मिलता है। संभव है वह रूप रहा हो और अभी तक उस धारा की कृतियाँ न मिल सकी हों। पीछे हिन्दी साहित्य के प्रमुख काव्यरूपों की चर्चा की गई है उनमें प्रायः सभी धाराओं के बाह्यरूपों के मूल अपभ्रंश साहित्य में मिल जाते हैं। हिन्दी के चरित काव्यों, रासक रचनाओं, प्रेमाख्यानक कृतियों, स्फुट पदों, दोहा सभी के मूल आधार अपभ्रंश में प्राप्त हैं। अनेक रूपों में व्यवहृत

---

१. दोहावली, गीताप्रेस संस्करण।

२. बिहारी सतसई संपा० रामवृक्ष बेनीपुरी, लहेरियासराय। सतसई (सं० सप्तशती, प्रा० सत्तसई) अर्थात् सात सौ पद्यों के संग्रह की प्रथा, संभव है, गाथा सप्तशती से ही प्रारंभ हुई होगी। गाथा सप्तशती की उत्कृष्टता से प्रभावित होकर प्राकृत से यह रूप संस्कृत में ग्रहीत हुआ। और उसी से प्रभावित होकर हिन्दी में यह रूप आया।

३. दे० गाथा सत्तसई की भट्ट मथुरानाथ शास्त्री द्वारा लिखित भूमिका, निर्णयसागर प्रेस।

४. दे० पीछे अपभ्रंश का अध्याय--रहस्यवादी धारा।

५. दे० पीछे अपभ्रंश; ऐहिकतापरक अध्याय में हेमचंद्र का प्रकरण।

भावधारा भी अपभ्रंश साहित्य में मिल जाती है। कुछ में वाह्यरूप तो अपनाया गया है किन्तु वर्ण्य विषय अन्य श्रोतों से लिया गया है। जहाँ तक काव्य के विविध रूपों की मोटी रूपरेखाओं का प्रश्न है वे सब किसी न किसी रूप में अपभ्रंश में भी मिलती हैं। इसके आधार पर यह आशा की जा सकती है कि अपभ्रंश साहित्य का और अध्ययन करने पर यह रूपरेखाएँ और भी स्पष्ट हो सकेंगी।

२
रचनाशैली, छंदों पर प्रभाव

रचना शैली :

प्राकृत और अपभ्रंश काव्य की रचना शैलियों में अन्तर है। अपभ्रंश चरित काव्यों की विभिन्न कृतियों की रचनाशैली में बहुत समानता मिलती है। साहित्यिक प्राकृत की कुछ कृतियों में संस्कृत काव्यों की शैली का अनुकरण किया गया है जैसे सेतुबन्ध में। किन्तु, गौडवध जैसी कृतियों में शैली की मौलिकता भी मिलती है किन्तु उसका अनुकरण कदाचित किसी ने नहीं किया। हिंदी की कुछ काव्य धाराओं की रचनाशैली और जैन अपभ्रंश के चरित काव्यों की रचनाशैली में कुछ कुछ साम्य मिलता है। यह चरित काव्य जिन वंदना से प्रारंभ होते हैं और फिर सज्जन और दुर्जनों का स्मरण करता हुआ कवि अपनी नम्रता प्रकट करता है, किसी जैन धर्म में प्रीति रखने वाले प्रसिद्ध पात्र के प्रश्न करने पर कथा प्रारंभ होती है। कवि कथा का प्रारंभ किसी देश के वर्णन से करता है, और फिर नगर राजा आदि के सुंदर वर्णन प्रस्तुत करता है। किसी धार्मिक व्यक्ति का चरित्र प्रस्तुत करना कवि का प्रधान उद्देश्य रहता है इस कारण कथा कहता हुआ बीच बीच में आने वाले स्थलों के सुन्दर वर्णन करता चलता है। पात्रों की संक्षिप्त या विस्तृत कथा के अनुरूप भूमिका, वर्णन भी विस्तृत या संक्षिप्त रहते हैं। पुष्पदन्त की दो कृतियों को लेकर इस विश्लेषण को स्पष्ट किया जा सकता है। उनका महापुराण एक महान् कृति है। महान् प्रयास के अनुकूल ही कवि की भूमिका भी बड़ी ही भव्य और विद्वतापूर्ण है। ऋषभदेव, सरस्वती की वंदना करके कवि ने अपना परिचय दिया है और खल निन्दा की बार बार चर्चा की है और सज्जनों के समक्ष नम्रता प्रकट की है :[1]

---

१. दुर्जनों के भय के कुछ उल्लेख रोचक हैं :
भणु किह करमि कहत्तणु ण लहमि कित्तणु जगुजि पिसुणसयसंकुलु। १.७
'कहो क्यों काव्य करूँ पिशुन संकुल जगत में कीर्ति नहीं पा सकूंगा।' और ऐसे प्रसंग हैं १.९ आदि।

एहु विणउ पयासिउसज्जणाहं मुहि मसिकुंचउ कउ दुज्जणाहं । १.९

'सज्जनों के समक्ष यह विनय प्रकट की है, दुर्जनों के मुख काले हों।'

आगे कवि ने मगधदेश तथा राजगृह की नैसर्गिक सरलता से युक्त काव्यमय सुन्दर विस्तृत वर्णन किये हैं।[1] फिर श्रेणिक राज का वर्णन, जिन समागम आदि प्रसंगों के पश्चात् कृति की कथा प्रारंभ होती है। इक्कीस कडवकों में कृति की भूमिका समाप्त हुई है। जसहर चरिउ में भूमिका का विस्तार तीन कडवक है जिसमें मंगलाचरण, देश वर्णन संक्षेप में मिलता है। अपभ्रंश काव्यों के प्रारंभ की यह शैली हिंदी के काव्यों में भी मिलती है स्वयंभू की कृति पउमचरिउ के प्रारंभ में भी इसी प्रकार की भूमिका मिलती है। तुलसीदास ने रामचरित मानस की भूमिका ४३ चौपाइयों में समाप्त की है।[2] और उसमें पुष्पदन्त और स्वयंभू की कृतियों के समान ही प्रसंग हैं। जायसी ने इसी तरह अपनी कृति की भूमिका २४ चौपाइयों में समाप्त की है जिसमें जायसी ने कुछ बातें नवीन भी दी हैं, किन्तु मंगलाचरण, विनय और दुर्जनों का स्मरण अवश्य मिलता है।[3] और फिर सिंहल द्वीप का सुंदर वर्णन प्रस्तुत किया है जिसकी समता इसी प्रकार के जसहर चरित के प्रारंभिक वर्णन से की जा सकती है। चित्रावली में यह भूमिका और भी विस्तृत है किन्तु भूमिका के पश्चात् कवि ने नेपाल के राजा की कथा प्रारंभ कर दी है। इन्द्रावती में यह भूमिका और भी संक्षिप्त है और देशादि के वर्णन भी नहीं हैं। जायसी ने देशादि तथा ऋतु आदि के जो वर्णन किए हैं उनकी शैली अपभ्रंश के चरित काव्यों

---

१. कुछ पंक्तियाँ देख सकते हैं :—

जहिं संचरंति दहुगोहणाइं, जब कंगु मुग्ग ण हु पुणु तणाइं
गोबालबाल जहिं रसु पियंति, थल सररुह सेज्जायलि सुयंति।
मायंदकुसुममंजरि सुएण, हयचंचुएण कयमण्णुएण ।
जहिं समयल सोहइ वाहियालि, वाहय पयहय वित्थरइ धूलि ।

'जहाँ बहुगोधन विचरण कर रहे हैं, यव, कंगु, मूग सर्वत्र दिख रही है। गोपाल बाल उक्षुरस पीते हैं, पृथ्वी पर कमल की शय्या बनाकर सोते हैं। कुसुममंजरी को भ्रमर के साथ देखकर क्रोधित होकर शुक चंचु मारता है। जहाँ समतल राजमार्ग हैं। नाना बाहनों के चलने से धूलि फैली है।'

२. स्वयंभू के पउमचरिउ और तुलसीदास के रामचरित मानस के संबंध में दे० अगला अध्याय ।

३. दादुर बास न पावई मलहि जो आछै पास। पदमावत, १.२४ ।

की शैली से मिलती है। संदेशरासक के वियोग वर्णन और जायसी के वियोग वर्णन बहुत मिलते हैं। कहीं कहीं शब्दसाम्य भी मिलता है, ऐसा लगता है कि अब्दुल रहमान की कृति को जायसी ने पढ़ा था। प्रारंभ की वंदना आदि भी संदेशरासक की वंदना से कुछ कुछ मिलती है।[1] जायसी आदि की कृतियों से ऐसा लगता है कि अपभ्रंश कथा साहित्य की शैली से इन कवियों का परिचय अवश्य था। कथा साहित्य के अतिरिक्त अन्य धाराओं के कवियों के सम्बन्ध में इस प्रकार के प्रभाव के संबंध में निश्चयपूर्वक कुछ नहीं कहा जा सकता।

छंद

हिन्दी काव्य पर सबसे अधिक प्रभाव पड़ा है अपभ्रंश के छंदों का। प्राकृत अपभ्रंश के कवियों ने विशेष रूप से मात्रिक छंदों का प्रयोग किया है किन्तु वर्णवृत्तों का भी अनेक कवियों ने सफलतापूर्वक प्रयोग किया है। प्राकृत का तो विशेष प्रिय छंद गाथा और उसके अनेक भेद हैं। अपभ्रंश-कवियों के छंदों के प्रयोग की कुछ सामान्य विशेषताओं का उल्लेख किया जा सकता है। विभिन्न प्रकार की रचनाओं में विभिन्न प्रकार से छंदों का प्रयोग किया गया है। आख्यान या कथा या चरित प्रधान काव्यों में कडवकबद्ध छंदों का प्रयोग किया गया है। इस शैली का एकमात्र ज्ञात अपवाद है हरिभद्र का नेमिनाह चरित जिसमें केवल एक ही मिश्र (द्विभंगी) छंद का प्रयोग हुआ है वह छंद है वस्तु। अनेक अपभ्रंश कृतियों में वर्णनों के अनुसार छंद भी कवियों ने बदल बदल कर रखे हैं। पुष्पदन्त की कृति से कुछ स्थल देख सकते हैं। सामान्य वर्णन, कथा कहने के लिए पज्झटिका या अन्य चतुष्पदी छंदों का प्रयोग कवि ने किया है। युद्धादि, वर्षा आदि के वर्णनों में कवि ने भिन्न प्रकार के छंदों का प्रयोग किया है और वर्ण्य विषय का सजीव चित्र प्रस्तुत करने का सफल प्रयास किया है।[2] तात्पर्य यह है कि कथा और वर्णनों के लिए

---

१. दे० प्रो० एच० सी० भायाणी का लेख 'अब्दल रहमानज़ू संदेशरासक एंड जायसीज़ पदुमावली,' भारतीय विद्या, वाल्युम १०, १९४८, पृ० ८१-८९

२. वर्षा का एक वर्णन देख सकते हैं। पज्झटिका से भिन्न छंद का प्रयोग वर्षा वर्णन के लिए कवि ने किया है :—

जलु गलइ, झलझलइ।
दरि भरइ, सरि सरइ
तडयडइ, तडि पडइ
गिरि फुडइ, सिहिगडइ।

भिन्न भिन्न प्रकार के छंदों के प्रयोग कवियों ने किये हैं। कुमारपाल प्रतिबोध के अपभ्रंश प्रसंगों में भी छंदों का प्रयोग इसी प्रकार हुआ है।[१] कुछ कृतियों में कदाचित् अपनी छंद प्रयोग की कुशलता को प्रकट करने के लिए कवियों ने अनेक छंदों के प्रयोग किए हैं। नयनंदि का सुदर्शन चरित और लाखू का जिनदत्त चरित इस प्रकार के उदाहरण कहे जा सकते हैं।

अपभ्रंश के कवियों ने छंद प्रयोग की एक दूसरी स्वतंत्रता का परिचय दिया है वह है दो विभिन्न छंदों को मिलाकर नवीन छंदों की सृष्टि करने की प्रवृत्ति। छप्पय, वस्तु, रड्डा, कुंडलियाँ आदि इसी प्रकार के मिश्र छंद हैं।

एक अन्य विशेषता अपभ्रंश कवियों में मिलती है। अपभ्रंश के कवि चतुष्पदी, षट्पदी छंदों का द्विपदी के समान प्रयोग करते हैं। इसको एक उदाहरण देकर स्पष्ट किया जा सकता है, पज्झडिका या पादाकुलक छंद समचतुष्पदी वर्ग के छंद हैं। समान मात्राओं वाले चार चरणों को रखकर एक छंद पूरा होता है। किन्तु अपभ्रंश के कवियों ने इन छंदों का प्रयोग करते समय इसका ध्यान नहीं रखा है। पज्झटिका के या अन्य समचतुष्पदी छंद के दो चरणों को पूरी एक इकाई मानते हैं और ऐसी कई इकाइयाँ रखकर एक कडवक पूरा होता है। पुष्पदन्त ने अपनी कृति महापुराण के प्रारंभ में 'मात्रासमक' चतुष्पदी का प्रयोग किया है जो समचतुष्पदी वर्ग का छंद है। कवि ने २६ चरण रखकर कडवक पूरा किया है। छंदशास्त्र के अनुसार २८ चरण या २४ चरण होना चाहिए।

अपभ्रंश के कवियों ने संस्कृत के वर्णवृत्तों का भी प्रयोग किया है किन्तु उसमें भी उन्होंने कुछ विशेषताएँ रखी हैं। सभी वर्णवृत्त द्विपदी के समान ही प्रयुक्त हुए हैं और सभी में यमक या अन्त्यनुप्रास का प्रयोग मिलता है।[२] एक कडवक में एक ही छंद का प्रयोग अधिकतर होता है किन्तु ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं

मरु चलइ, तरु घुलइ इत्यादि ८५.१६

इसी प्रकार निविड-वन-वर्णन, वही, १२.१२, दुबई का प्रयोग, तथा १४.२ युद्धवर्णन, १४.७, ११, सिंधुवर्णन वही १३.९ आदि वर्णनों के अनुकूल लयप्रधान छंदों का पुष्पदन्तादि कवियों ने प्रयोग किया है।

१. स्वयंभू ने संस्कृत के छंदों को वर्णवृत्त् नहीं माना। वर्ण वृत्तों को उन्होंने मात्रिक मानकर विवेचन किया है। दे० ज० बं० ब्रा० रा० सो० १९३५, पृ० १८ एच० डी० वेलंकर का लेख।

जहाँ एक कडवक में दो छंदों का प्रयोग भी हुआ है। पुष्पदन्त,[१] कनकामर,[२] धाहिल[३] इत्यादि अनेक कवियों की कृतियों में इस प्रकार के प्रयोग मिलते हैं। अपभ्रंश के कवियों के विशेष प्रिय छंद मात्रिक रहे हैं और इसका उन्होंने अनेक बार उल्लेख किया है। स्वयंभू ने पद्धडियों आदि बंधों की प्रशंसा की है[४] इसी प्रकार पुष्पदन्त ने मात्रिक छंदों के प्रति अपना प्रेम प्रकट किया है।[५]

अपभ्रंश कवियों ने जिन छंदों का प्रयोग किया है उनमें से अनेक छंद गेय हैं और मात्रागणों के समान उनकी परिभाषा तालगणों से भी की जा सकती है। दोहा, प्रज्झटिका, हरिगीता आदि छंद इसी प्रकार के प्रतीत होते हैं, पीछे छंद-शास्त्रियों ने उनकी शास्त्रीय परिभाषा दी।[६] इसी प्रकार अपभ्रंश का कवि किसी छंद का प्रयोग जब किसी की कीर्ति आदि वर्णन के लिए करता है तब उसका नाम धवल हो जाता है। कीर्ति वर्णन में कीर्ति धवल, उत्साह वर्णन में उत्साह धवल, तथा जब किसी छंद का प्रयोग मंगल दर्शन के लिए होता है तो उसका नाम मंगल हो जाता है। छंद शास्त्रियों ने इसका उल्लेख किया है।[७] पुष्पदन्तादि अनेक कवियों ने भी प्रकारान्तर से इसका उल्लेख किया है; जिनदेव का यश वर्णन करते हुए अन्त में जैसे उन्होंने एक स्थान पर कहा है :

---

१. यथा पुष्पदन्त महापुराण संधि २, कडवक ३ में ५ मात्रिक रेवका द्विपदी के ५८ चरण हैं और फिर चारु द्विपदी के ८ चरण हैं।
२. कनकामर के करकंडुचरिउ में संधि १ कडवक १७ में कुछ चरण समानिका महानुभाव छंद के हैं और कुछ चरण तूणक के।
३. पउमसिरिचरिउ संधि ३ कडवक ५ में पद्धडिका तथा करिकरमकरभुजा द्विपदी छंदों क मिश्रण मिलता है।
४. यथा—छंदडिय दुबइ धुवएहिं जडिय, चउमुहेण समप्पिय पद्धडिय। हरिवंशपुराण १.२।
५. यथा, णं मत्ताविसहं मत्ताजुत्तयं णायरइं, महापुराण १३.९.२२.।
६. दे० अपभ्रंश मीटर्ज, मात्रा वृत्तज एन्ड ताल वृत्तज, एच०; डी० वेलंकर का लेख, भारत कौमुदी, राधाकुमुद मुकर्जी प्रेजेन्टेशन वाल्युम पृ० १०६५-१०८१।
७. दे० हेमचंद्र छंदोनुशासन, अध्याय ५, सूत्र ३३–४० जिनमें उन्होंने कहा है कि उत्साहादि वर्णन में हेला, दोहा आदि का प्रयोग होने से उनका नाम हेला धवल, दोहक धवल आदि हो जाता है।

जयविसयसिविगरुल, जयधवल जसधवल

महापुराणु २. ३. ३२

अपभ्रंश कवियों ने चरित काव्यों में सबसे अधिक प्रयोग समचतुष्पदी वर्ग के छंदों का किया है और उसके साथ समद्विपदी, घत्ता[1] तथा कुछ अन्य छंदों के प्रयोग किए हैं। अर्धसमचतुष्पदी (दोहक) तथा मित्रवृत्तों (द्विभंगी) का प्रयोग स्फुट प्रायः रचनाओं में हुआ है, यद्यपि कुछ कवियों ने इनका प्रयोग भी चरित काव्यों में किया है।

अपभ्रंश काव्य की छंद संबंधी यह सभी विशेपताएँ हिंदी कविता में भी मिल जाती हैं। विपय के अनुसार हिन्दी कवियों ने भी छंदों का प्रयोग किया है। कथा या चरित प्रधान काव्यों में अपभ्रंश के चरित काव्यों के समान ही कडवक शैली का प्रयोग मिलता है। छंद शास्त्रियों ने कडवक के संबंध में कुछ उल्लेख किए हैं। हेमचंद्र ने कडवक के अंत में घत्ता के प्रयोग की चर्चा की है। उन्होंने कहा है कि चार पद्धडिया छंदों के साथ एक घत्ता जोड़कर कडवक पूरा होता है और कडवक के समूह को सन्धि कहते हैं। पद्धडिकादि छंदों के अंत में घत्ता का रहना ध्रुव है अर्थात् निश्चित है उससे उसे ध्रुवा, ध्रुवक या घत्ता कहते हैं। संधि के प्रारंभ में भी घत्ता (ध्रुवा) के रहने का हेमचंद्र ने उल्लेख किया है।[2] इसी प्रकार कवि दर्पण में कडवक में सोलह पद्यों के होने का उल्लेख मिलता है और वे पद्य सानुप्रास होते थे यह भी संकेत कविदर्पण के रचियिता ने किया है।[3] हेमचंद्र और कविदर्पणकार दोनों के ही विचार शास्त्रीय से हैं। कवियों के वास्तविक प्रयोगों को उन्होंने ध्यान में नहीं रखा है। छंदों का अधिकारपूर्ण ढंग से प्रयोग करने वाले पुष्पदन्त की कृति के एक संधि के कडवकों के विश्लेपण से यह स्पष्ट होगा कि कवि कडवक में निश्चित पद्य संख्या के नियम को नहीं मानते थे। कवि के महापुराण के एक अंश 'हरिवंश-पुराण' की संधि ८१ में १९ कडवक हैं सभी कडवकों में समचतुष्पदी छंदों का प्रयोग कवि ने किया है, प्रथम कडवक १३ मात्रिक ज्योत्स्ना समचतुष्पदी में है, शेष १८ कडवक पद्धडिया छंद में हैं। कडवकों में छंद के चरणों की संख्या निम्न प्रकार है :—

---

१. सन्ध्यादौ कडवकान्ते च ध्रुवं स्यादिति ध्रुवा ध्रुवकं घत्ता वा। छंदो, ६.१।

२. षोडशपद्याः कडवकत्वात् तथा प्रायः सानुप्रासा एता इति। कविदर्पण २.१।

३. प्रत्येक चरण में तेरह मात्रा होनी चाहिए, ५ मात्राओं के दो गण और अंत में लघु गुरु दे० वृत्तजातिसमुच्चय ३.८।

२. कड० (१६ चरण) कडवक ७ तथा ९ में छंद का चतुष्पदी के समान प्रयोग किया है।

१. कड० (२० चरण) कडवक २ में छंद का चतुष्पदी के समान प्रयोग किया है।

८. कड० (२२ चरण) कडवक ३ से ५, ८, १३ से १५ तथा १९ में, छंद का प्रयोग द्विपदी के समान किया है।

७. कड० (२४ चरण) कडवक १, ६, १०, ११, १२, १६, १८ में छंद का प्रयोग चतुष्पदी के रूप में हुआ है।

१. कड० (२६ चरण) कडवक १७ में छंद का प्रयोग द्विपदी के समान हुआ है।

संधि के अठारह कडवकों में से ९ में चतुष्पदी छंद का प्रयोग कवि ने द्विपदी के समान किया है और ९ कडवकों में छंद का प्रयोग ठीक चतुष्पदी के समान हुआ है। केवल एक कडवक में चरणों की संख्या हेमचन्द्रादि के अनुसार ठीक है। किन्तु वह पद्धडिका नहीं है। अन्य कवियों की कृतियों में भी इसी प्रकार के प्रयोग मिलते हैं। संधि के प्रारंभ में और कडवक के अंत में सभी कृतियों में घत्ता का प्रयोग अवश्य मिलता है।[1] इस शैली का प्रयोग हिन्दी में तुलसीदास के रामचरित मानस तथा प्रेमाख्यानक कवियों की कृतियों, कुछ वीर काव्यसंबंधी कृतियों तथा सूरसागर के कथात्मक अंशों में मिलता है। कुछ प्रतिनिधि कवियों की कृतियों की छंद शैली का विश्लेषण कर के यह देख सकते हैं कि किस प्रकार की नवीनता हिन्दी कृतियों में मिलती है।

जायसी ने अपनी कृति में प्रत्येक चौपाई (कडवक) में चौदह चरण रखकर अंत में घत्ता के स्थान पर दोहे का प्रयोग किया है। कृति के प्रारंभ में या खंडों के प्रारंभ में दोहे का प्रयोग नहीं मिलता। चौपाइयों में प्रत्येक चरण में १६ मात्राएँ हैं जिन्हें दो ८ मात्रिक गणों में विभक्त करना उचित प्रतीत होता है। चित्रावली में भी जायसी की कृति के समान ही छंद क्रम है। इन्द्रावती में प्रत्येक चौपाई में

---

१. संधि के प्रारंभ में ध्रुवक और कडवक के अंत में ध्रुवक के प्रयोग से ऐसा लगता है कि इस शैली का विकास गेय रूप से हुआ है। प्रारंभ का ध्रुवा स्थायी रूप में गाया जाता होगा और फिर परिवर्तन के लिए दूसरे प्रकार के ध्रुव को रखा जाता होगा। दे० वेलंकर का लेख अपभ्रंश मीटर्ज भारत कौमुदी।

१० चरण प्रयुक्त हुए हैं। इन सभी कृतियों में अपभ्रंश कवियों के समानचतुष्पदी छंद का द्विपदी के समान प्रयोग हुआ है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि इन कवियों ने छंद शास्त्र को न देखकर पूर्ववर्ती कवियों के प्रयोग के आधार पर छंदों का क्रम रखा है। तुलसीदास ने रामचरित मानस में यद्यपि चतुष्पदी छंद का प्रायः चतुष्पदी के रूप में ही किया है तथापि उन्होंने भी उपर्युक्त प्रकार के प्रयोग किए हैं। बालकांड की प्रथम १०० चौपाइयों में से कम से १३ चौपाइयाँ ऐसी मिलती हैं जिनमें चतुष्पदी छंद का कवि ने द्विपदी के समान प्रयोग किया है।[१] कवि ने सुन्दर काँड को छोड़कर सभी काँडों के प्रारंभ में संस्कृत पद्यों के पश्चात् दोहा या सोरठा का प्रयोग ध्रुवक के स्थान पर अवश्य किया है। अपभ्रंश कृतियों के समान जहाँ तहाँ कवि ने एक ही चौपाई में दो प्रकार के छंदों के भी प्रयोग किए हैं। और कुछ इस प्रकार के छंदों के संबंध में ऐसा लगता है कि वर्णन या प्रसंग पर जहाँ आलो-चना करनी अपेक्षित थी वहीं कवि ने भिन्न छंदों का प्रयोग किया है। तुलसी की प्रस्तुत कृति के छंदों की रूपरेखा को देखकर ऐसा लगता है कि वे अपनी पूर्ववर्ती चरितकाव्य परंपरा से अच्छी तरह परिचित थे और छंद शास्त्र का ध्यान रखते हुए भी उन्होंने परंपरा को अपनाया। लाल कवि ने छत्र प्रकाश में चौपाई दोहा शैली का प्रयोग छंदशास्त्र के अनुकूल किया है। दो एक स्थल ऐसे मिलते हैं जहाँ चौपाई का प्रयोग द्विपदी के समान[२] किया है। अध्यायों के प्रारंभ में दोहे का प्रयोग उन्होंने नहीं किया है।[३] 'छंद राउ जइतसीरउ' भी एक चारणीय कृति है। उसमें भी पद्धडिका दोहा शैली का पालन किया गया है। पद्धडिका के पश्चात् दोहा के स्थान पर कृति में कहीं कहीं गाहा का प्रयोग किया गया है। पद्धडिका का द्विपदी के समान प्रयोग किया है और अनेक पद्धडिका के चार चरणों के पश्चात दोहा या गाहा का प्रयोग किया है।

एक बार में अधिक से अधिक ४४०[४] चरण पद्धडिका के रखे हैं और उसके

---

१. दे० बालकाँड दो० २,४, ५, ६, ११, १५, २८, ३५, ३७, ३८ और ७८।

२. यथा, अध्याय २ छंद २, अध्याय ५, छंद ७।

३. कुछ अध्यायों के अंत में दोहा मिलता है जहाँ मिलना ही चाहिए था जिन अध्यायों के अंत में दोहा नहीं मिलता उसके अगले अध्याय के प्रारंभ में दोहा मिलता है। कदाचित् संपादक को कुछ प्रतियों में ऐसा क्रम मिला होगा और उन्होंने उसे इस प्रकार रख दिया है।

४. छन्द राउजइतसीरउ, पद्य २३४ से ३४३ तक।

पश्चात् गाहा का प्रयोग किया है। कृति में गाहा, पद्धडिका दोहा के प्रयोग ही अधिक हैं। केवल एक बार एक छप्पय का प्रयोग किया गया है जो कृति के अंत में है और जिसको 'कलस' नाम दिया गया है। इन कृतियों की छंद शैली में अपभ्रंश कडवक बद्ध शैली से अंतर केवल इतना है कि इन्होंने घत्ता के स्थान पर दोहे का प्रयोग किया है। और अपभ्रंश कवियों के प्रज्झटिका को छोड़कर इन कवियों ने पादाकुलक और चौपाई का प्रयोग किया है। अपभ्रंश कवियों ने कडवकों में पादाकुलक और अन्य चतुष्पदी छंदों का भी प्रयोग किया है। इन चरित काव्य लेखकों में छंद की विविधता बहुत कम मिलती है। जायसी के वर्ग के लेखकों की कृतियों में तीसरा छंद ही नहीं प्रयुक्त हुआ है। लाल कवि ने भी दो ही छंदों का प्रयोग किया है। तुलसीदास की कृति में चौपाई, दोहा, सोरठा, हरिगीत, भुजंगप्रयात, तोटक आदि छंदों के प्रयोग हुए हैं। अपभ्रंश के बहुसंख्यक चरित काव्यों में छंदों की विभिन्नता अधिक नहीं मिलतीं। जैसा अपभ्रंश चरित काव्यों की छंदशैली का हिन्दी कवियों द्वारा अनुगमन मिलता है वैसा अन्य शैलियों का नहीं। हिन्दी काव्य की विभिन्न धाराओं के कवियों के कुछ विशेष प्रिय छंद हैं। सबसे अधिक छंदों का प्रयोगचारण काव्यधारा में मिलता है, सन्त कवियों और भक्त कवियों में जो दोहा शैली और पद मिलते हैं उस पर आगे विचार किया गया है। रास रचनाओं में कुछ देशी छंद मिलते हैं उन पर पीछे विचार किया गया है।

पहिले हिन्दी के चारण कवियों की कृतियों में प्रयुक्त छंदों पर विचार किया गया है और उसके साथ यह दिखाया गया है कि उसमें से कौन कौन से छंदों का प्रयोग हिन्दी कवियों के पूर्ववर्ती कवियों ने किया है। इसके लिए पृथ्वीराजरासो, सुजान चरित, तथा कुछ अन्य कृतियों का प्रधान रूप से सहारा लिया गया है। छंदों की जो विविधता इन कृतियों में मिलती है वह अन्य धाराओं में नहीं प्राप्त होती केवल दास एक अपवाद हैं। चारण कवियों के कुछ प्रिय छंद हैं और उन छंदों का प्राय: सबने प्रयोग किया है। पृथ्वीराज रासो में लगभग ७२ छंदों का प्रयोग मिलता है जिनमें से लगभग आधे वर्णवृत्त हैं और सूदन के सुजान चरित में लगभग १०० छंदों का प्रयोग हुआ है जिनमें से आधे के लगभग मात्रिक छंदहैं। कुछ छंद ऐसे हैं जिनका प्रयोग अन्यत्र उपलब्ध कृतियों में नहीं मिलता।

१. प्राकृत छंद :

गाहा[1] (संस्कृत गाथा) पृथ्वीराज रासो,[2] सुजान चरित,[3] वचनिका राठौड़

---

१. एक एक छंद का कवियों की कृतियों में अनेक बार प्रयोग मिलता है। यहाँ पर कवि द्वारा प्रथम प्रयोग का उल्लेख किया है। समस्त प्रयोगों की सूची

रतनसिंघ जी[1] तथा छन्द राउ जइतसीरउ[2] में गाथा का प्रयोग मिलता है। ढोला मारूरा दूहा जैसी कृतियों में भी गाथा का प्रयोग मिलता है यद्यपि उसके बहुत कम प्रयोग हुए हैं।[3] पृथ्वीराज रासो में गाथा का प्रयोग पर्याप्त संख्या में मिलता है। अपभ्रंश कवियों ने गाथा छंद का बहुत ही कम प्रयोग किया है। पुष्पदन्त और स्वयंभू तथा अन्य जैन अपभ्रंश कवियों ने गाथा का प्रायः बहिष्कार सा कर दिया था। गाथा प्राकृत का अति प्रिय मात्रिक छंद था और छंदशास्त्रियों ने उसके अनेक भेदों की चर्चा की है। संदेशरासक जैसी अपभ्रंश कृतियों में गाथा के प्रयोग मिलते हैं।[4] किन्तु उनकी भाषा अपभ्रंश न होकर प्राकृत ही है, जहाँ तहाँ उसमें अपभ्रंशाभास भले ही मिल सके। पृथ्वीराज रासो में प्रयुक्त गाथाओं की भी भाषा प्राकृताभास लिए हुए हैं।[5] हिन्दी के इन कवियों ने केवल छंदशास्त्र का चमत्कार दिखाने के लिए गाथा का प्रयोग किया है। अपभ्रंश के कवियों का वह प्रिय छंद कभी नहीं रहा।[6] पृथ्वीराज रासो में इसी प्रकार गाथा के संस्कृत रूप आर्या के भी प्रयोग मिलते हैं जिसका अपभ्रंश कृतियों में प्रयोग नहीं मिलता।[7]

अनावश्यक समझी गई है।

२. पृथ्वी० समय १.४३–४९

३. सुजान० पृ० ६३

---

१. वच० पद्य १।

२. छन्द राउ० पथ १।

३. ढोला० पद्य २३४, ५७५, ५७७

४. संदेशरासक पद्य १–१७ तथा अन्य।

५. उदाहरण के रूप में सूदन की कृति से एक गाथा उद्धृत की जा सकती है जिससे स्पष्ट प्रकट होता है कि कवि ने प्राकृत की कृत्रिमता लाने का प्रयत्न किया है और यह प्रयत्न मात्रा संख्या को ठीक रखने के लिए आवश्यक था

सुनियं रखवरि वजीरं बदन तनं आइय सह सूरं
इसपाइल तिहि आगं दिय पठाइ छाय सुखपूरं पृ० ६३।

६. गाथा के दोहा पथ्या और विपुला दो भेद होते हैं। प्रथम पाद में ३० मात्राएं होती हैं द्वितीय में २७। विषम गण जगण नहीं होना चाहिए। पथ्या में चार मात्रिक तीन गणों के पश्चात् यति होती है, विपुला में नहीं।

७. पृथ्वी० १२.३६४ इत्यादि।

चारणीय धारा के कवियों ने मात्रिक और वर्णिक दोनों ही प्रकार के छंदों के प्रयोग किए हैं। पहिले मात्रिक छंदों का विवेचन किया जा रहा है, अपभ्रंश के छंद ग्रन्थों तथा अपभ्रंश कवियों के प्रयोगों दोनों ही का साथ में संकेत किया गया है। पदों की संख्या और उनमें परस्पर समानता के आधार पर छंदों का समद्विपदी, विषम द्विपदी, समचतुष्पदी, अर्धसमचतुष्पदी, विषम चतुष्पदी, षट्पदी, तथा मिश्र वर्गों में विभाजन कर लिया गया है।

समद्विपदी : अपभ्रंश में पुष्पदन्त ने द्विपदियों के सुंदर प्रयोग किए हैं। अनेक छंदों के प्रयोग करने वाले इन कवियों में से केवल सूदन ने सम द्विपदियों के प्रयोग किए हैं। २८ मात्रा की द्विपदी, उल्लाला, घत्ता, घत्तानंद, तथा स्कंधक द्विपदियों के प्रयोग प्रमुख हैं।[१] पुष्पदंत ने महापुराण के कुछ कडवकों में द्विपदियों के प्रयोग किए हैं किन्तु जहाँ पुष्पदन्त ने इन द्विपदियों का प्रयोग किया है वहाँ वर्ण्य विषय में कुछ भिन्नता मिलती है। प्रायः वर्णनों के लिए उन्होंने द्विपदियों का प्रयोग किया है।[२] सुजान चरित में द्विपदियों का जो प्रयोग मिलता है उसके संबंध में ऐसा नहीं कहा जा सकता। हिन्दी के कवियों में द्विपदियों (अप० दुवई) का प्रयोग इतना कम रह गया है इसका कारण अपभ्रंश के कवियों द्वारा दुवई का कम प्रयोग कहा जा सकता है। विषम द्विपदियों का प्रयोग इन कवियों ने नहीं किया।

समचतुष्पदी : सबसे अधिक प्रयोग इन कवियों की कविताओं में मात्रिक समचतुष्पदी वर्ग के छंदों का मिलता है। प्राचीनों द्वारा प्रयुक्त चतुष्पदियों के अतिरिक्त कुछ नवीन चतुष्पदियों के प्रयोग भी इन कवियों ने किए हैं जिनमें से कुछ के प्रयोग न तो उपलब्ध अपभ्रंश कृतियों में मिलते हैं और न छंदशास्त्रियों ने ही उनके विषय में कुछ कहा है। जैसा कि पीछे संकेत किया गया है छंद शास्त्र का ज्ञान रखने वाले सूदन जैसे कवियों ने भी चतुष्पदी का प्रयोग अनेक स्थलों पर दो पद वाले छंद के समान किया है। निम्न चतुष्पदी छंदों के प्रयोग इन कवियों की कविताओं में मिलते हैं :

---

१. सुजानचरित, पृ० १३, १६, १४४, १४६, १९०, २०२, २१३, स्कंधक का नाम खंध दिया है पृ० २१३। इनमें उल्लाला, घत्ता, घत्तानंद, स्कधंक तथा अन्य द्विपदियों के प्रयोग अपभ्रंश कवियों ने भी किए हैं और अपभ्रंश के छंदग्रंथों में भी इनका विवेचन मिलता है।

२. यथाः महापुराणः संधि २ कडवक १३ में वर्षाऋतु का सुंदर वर्णन है। सूदन के समान ही २८ मात्राओं की समद्विपदी है। इसी प्रकार के अन्य काव्यमय वर्णन ३.१४, ८.७, १२.१२ इत्यादि।

८ मात्रा-मधुभार[1] :

समचतुष्पदी छंद है, प्रत्येक चरण में ८ मात्राएँ होना चाहिए, चार मात्राएँ और अन्त में एक जगण होना आवश्यक है।[2] स्वयंभू[3] और पुष्पदन्त[4] की कृतियों में इस छंद का प्रयोग मिलता है। महेशदास और सूदन दोनों ही की कृतियों में छंद का निर्दोष प्रयोग मिलता है। चतुष्पदी वर्ग के छंदों में यह लघुतम छंद है। अपभ्रंश के प्राचीन दो महाकवियों के प्रयोग से स्पष्ट है कि छंद का प्रयोग बहुत प्राचीन काल से होने लगा था और छंद कवियों का प्रिय छंद था।

९ मात्रा-विजोहा

सुजान चरित में इस छंद का प्रयोग मिलता है।[5] प्रत्येक चरण में ५ मात्राएँ और एक रगण मिलता है। अपभ्रंश के कवियों ने इस चतुष्पदी का प्रयोग कदाचित् नहीं किया है। छंद ग्रन्थों में एक अवलम्बक छन्द है जो विजोहा के ही समान है।[6] छंद ग्रन्थों में विजोहा किसी छंद का नाम नहीं मिलता।

१० मात्रा-दीपक :

दीपक नामक १० मात्रिक चतुष्पदी के प्रयोग सुजान चरित में मिलते हैं।[7] इसमें मात्रागणों का क्रम ४,५,१ रहना चाहिए[8]। पुष्पदन्त की कृतियों में दीपक

---

१. वचनिका राठौड़ रत्नसिंवजीरी में वचनिका (आशीर्वचन) के रूप में इस छन्द का प्रयोग हुआ है। वचनिका ही छंद का शीर्षक दिया है। वही, छंद ७८–८१। सुजान चरित में मधुभार नाम कवि ने दिया है, वही, पृ० १२५।

२. दे० प्राकृत पैंगलं १.१७५. छंद ग्रन्थों की अपेक्षा प्रस्तुत निबंध लेखक ने छंदों के विवेचन के लिए अपभ्रंश के कवियों के छंदों के प्रयोगों को अधिक महत्व दिया है।

३. अप्रकाशित हरिवंशपुराण में से एक उदाहरण उद्धृत किया जा सकता है
णासहलुलग्गु परिगलियखग्गु।
चिंतेवि कवि रणदिक्खलेवि। वही, ५१.६।

४. महापुराण, २२.१७, ८६.७।

५. सुजान० पृ० १४६।

६. वृत्तजातिसमुच्चय ४.६८।

७. सुजान० पृ० ११८–११९।

८. प्रा० पै० १.१८१।

का प्रयोग मिलता है ।[1]

११ मात्रा-आभीर :

इसका प्रयोग भी सुजान चरित[2] में मिलता है, प्राकृत पैंगलं[3] के अनुकूल इसके प्रत्येक चरण में ७ मात्राएं तथा एक जगण मिलता है । अपभ्रंश के कवियों ने इस छंद का प्रयोग बहुत कम किया होगा, उपलब्ध साहित्य में इसका प्रयोग नहीं मिलता ।

१२ मात्रा-हरी दुरद और हनूफाल :

१२ मात्रिक चतुष्पदियों के प्रयोग हिंदी कृतियों में मिलते हैं । हनूफाल छंद के दो प्रकार के प्रयोग मिलते हैं । १२ मात्रिक तथा १४ मात्रिक छंदशास्त्र के ग्रंथों में हनूफाल छंद का नाम नहीं मिलता । हनूफाल के प्रयोग पृथ्वीराज-रासों[4], राजविलास, हम्मीर रासो[5], सुजानचरित[6], करहिया को रायसौ[7], वचनिका राठौड़ रतनसिंघजी री[8] आदि कृतियों में मिलता है । दुरद का प्रयोग केवल सुजान चरित में मिलता है[9] । हनूफाल का प्रयोग केवल सुचान चरित में १४ मात्रिक छंद के रूप में मिलता है । पृथ्वीराज रासो में इस छंद की परिभाषा दी गई है जो स्पष्ट नहीं है, छंद को मात्रिक अवश्य कहा है । १२ मात्रा के प्रयोग में छंद की सामान्यत: गण संख्या इस प्रकार मिलती है यद्यपि कहीं कहीं उसका उल्लंघन भी हुआ है ५, ३, ४ ।

१२. अंतिम ४ मात्रिक गण जगण होना चाहिए अर्थात् चरणांत में गुरु लघु मिलता है । प्रारंभ के पाँचमात्रिक गण के प्रयोग विभिन्न रूपों में मिलते हैं । सभी कवियों ने इसका प्रयोग समचतुष्पदी छंद के रूप में किया है । १२ मात्रा के इंस छंद का रूप अपभ्रंश छंद ग्रन्थों की १२ मात्रिक सम चतुष्पदियों

---

१. महापुराण ९.२ ।
२. सुजान० पृ० ७० ।
३. प्रा० पैं० १.१८१ ।
४. पृ० रा० १.९५, १०७ तथा २.३०९–३० इत्यादि ।
५. रा० बि० पृ० ४१-४३ छंद ३९-५९, तथा हम्मीर रासो पद्य ७०२-७०८ ।
६. सु० च०, पृ० १८४–१८५ ।
७. क० रा० छंद ४५ ।
८. व० रा० र० छं० ४ ।
९. सु० च० पृ० २४१–४२ ।

से नहीं मिलता। महानुभावा[1] छंद से इसकी समता की जा सकती है। १४ मात्रिक हनूफाल अपभ्रंश के गन्धोदकधारा छन्द के समान है[2]। १२ मात्रिक छंदों के प्रयोग अपभ्रंश के कवियों ने किए हैं किन्तु वे भिन्न हैं[3]। दुरद छंद अपभ्रंश के प्रगीता छंद के समान हैं[4]। हरी छंद का प्रयोग भी केवल सुजान-चरित में मिलता है और प्रगीता के ही समान हैं[5]।

१४ मात्रा अर्धमालची, मालती, ऊधो, विज्जुमाला, वेली द्रुम, दुर्गम, इत्यादि १४ मात्रिक सम चतुष्पदी छंद पृथ्वीराजरासो[6] सुजान चरित[7] में मिलता है। अपभ्रंश छंद ग्रंथों में हाकलि, खंडिता आदि पाँच प्रकार के १४ मात्रिक समचतु० के उल्लेख मिलते हैं[8]। कुछ के प्रयोग भी अपभ्रंश की कृतियों में मिलते हैं। उपर्युक्त छंद इन्हीं के रूपान्तर कहे जा सकते हैं, किन्तु इन नामों के उल्लेख न किसी छंद शास्त्र की कृति में मिलते हैं और न अपभ्रंश की कृतियों में। हिन्दी के कवियों के सामने कोई अन्य आधार रहे होंगे जहाँ से इन्होंने ये नाम लिए होंगे। अर्ध मालची के अंत में रगण मिलता है और मालती के अंत में जगण, ऊधो के अंत में गुरुलघु[9], और विज्जुणुन्माला के अंत में जगल, नूफा के अंत में गुरु लघु मिलता है। ऊधो और नूफा एक प्रकार के हैं। विज्जुन्माला और मालती परस्पर मिलते हुए छंद हैं। ऊधो और नूफा की समता अपभ्रंश

---

१. छंदो० ६.२६।
२. छं० ६.२८।
३. यथा महापुराण ८१.१, वर्ण वृत्त समानिका से प्रस्तुत छंद का मात्राक्रम भिन्न है, करकडुचरिउ १.७.८ आदि।
४. वृत्तजातिसमुच्चय वृत्त० ३.६।
५. सु० चा० पृ० १३५.६।
६. पृ० रा० अर्धमालती ४५.१०५–१७, मालती ६६.२०२–१५ ऊधो ४५.१६–२१ विज्जुमाला-पाठान्तर में इसका नाम उधोर दिया है। ९.१९२–२०२ वेलीद्रुम ५९.१३–२२, दुर्गम ६५.६५४२७. राजविलास में उद्धोर छंद ० पृ० ९०.९३।
७. सु० च० नूफा पृ० ११३–१४।
८. दे० प्रा० पें० १.१७२, खंडिता हेम० ४.१७, ४.६८, वृत्त० ३, १, २, ५.
९. तुलनीय छंद भास्कर, विलासपुर १९२२ पृ० ४६ के मधुमालती तथा सुलक्षण से।

के हाकलि से की जा सकती है। १४ मात्रिक सम चतुष्पदी के प्रयोग बहुत अधिक न अपभ्रंश में मिलते न हिंदी में। छंदशास्त्र के ज्ञान को प्रकट करने के लिए ही कम परिचित नाम देकर हिंदी कवियों ने उनका प्रयोग किया है।

१६ मात्रा[1] अपभ्रंश में सबसे अधिक प्रयुक्त छंद १६ मात्राओं के समचतुष्पदी छंद हैं। कथाप्रधान काव्यों में तो आदि से अंत तक प्रधान रूप से यही छंद प्रयुक्त हुए हैं। इस वर्ग के निम्न छंद चारण कवियों द्वारा प्रयुक्त हुिए हैं।

१. पादकुलक[2]: पादाकुलक में चार मात्राओं के चार गण होते हैं। गणों में मात्राओं के क्रम के लिए कोई प्रतिबन्ध नहीं है।

२. पद्धरी[3]: पञ्झटिका या पद्धतिका, पद्धडिया, पद्धरी में भी चार मात्रिक चार गण होते हैं।[4]

३. अरिल्ल[5] : छंद ग्रंथों में इसका नाम अडिला मिलता है। प्रतिचरण में यमक के साथ सोलह मात्राएँ होना चाहिए।[6]

४. विअक्षरी[7] इस नाम के किसी छंद का उल्लेख संस्कृत या प्राकृत के छंद ग्रंथों में नहीं मिलता।

---

१. १५ मात्राओं वाले सम चतुष्पदी छंदों का भी कवियों ने प्रयोग किया है किन्तु वे महत्वपूर्ण नहीं हैं। लघु चतुष्पदी और पारणक के प्रयोग अपभ्रंश कृत्तियों में मिलते हैं। दे० छं० को० ४०, छंदो० ९.२६। सूदन के सुजान चरित में १५ मात्राओं के छंदों में महालछिमी छं० को ० के लघुचतुष्पदी के समान पृ० १६९, चौबेला वही पृ० १६ करी वही पृ० २२४ के प्रयोग मिलते हैं उनमें से महालछिमी तथा करी अप० के लघु चतुष्पदी के समान ही रूप हैं।

२. सुजानचरित पृ० ४९ आदि, अन्य दोहा चौपाइयों की शैलीवाली कृतियों में पादाकुलक के प्रयोग मिलते हैं।

३. पृ० रा० १.२६–२८, ३१–४१ आदि, हम्मीरासो छं० ३, ३२, हम्मीररासो छन्द ६६.६९ इत्यादि सभी में पद्धरी के प्रयोग मिलते हैं।

४. छंदो० ६.३०।

५. पृथ्वी० रा० में अरिल्ल का बहुत प्रयोग मिलता है १.८५, ९३.४।

६. छंदो० ५.३०।

७. पृ० रा० १.१७३–७६ आदि तथा हम्मीररासो ४९५–५०३ में इस छंद के प्रयोग मिलते हैं।

५. चौपाई[1]: पृथ्वीराज रासो में कहीं १५ मात्रा के छंदों को यह नाम दिया गया है, कहीं १६ मात्रा के छंदों को।

६. बाधा[2]: छंद ग्रंथों तथा अपभ्रंश कृतियों में इस नाम का कोई छंद नहीं मिलता।

७. मुरिल्ल[3]: कदाचित अपभ्रंश कवियों और छंदग्रन्थों के मडिल (छंदो० ५.३०) का यह विस्तृत रूप है।

८. पारक[4]: इस नाम का छंद ग्रंथों में कहीं उल्लेख नहीं मिलता, परिनन्दित (वृत्त ४.१९) से इसका मात्रा क्रम थोड़ा भिन्न है। संभव है उसी से इसका नाम आया हो।

९. मालती: (छंद कोश ४९) में मालती का लक्षण दिया गया है। किन्तु उसके अनुकूल सुजानचरित पृ० १६३ में प्रयुक्त छंद में मात्रा योजना नहीं है यद्यपि वह समचतुष्पदी छंद है। ८, ८ मात्रा के विराम से प्रति चरण में १६ मात्राएं हैं।

१०. घत्ता: समचतुष्पदी घत्ता, का प्रयोग सुजान चरित पृ० १९० में मिलता है। अपभ्रंश की कृतियों में इसके प्रयोग मिलते हैं।

उपर्युक्त छंदों में से विअक्खरी, बाधा और पारक छंद कवियों द्वारा प्रयुक्त नवीन नाम हैं। यह तीनों ही छंद एक दूसरे से भिन्न नहीं हैं। बिअक्खरी आदि अक्षरी चौपाई का ही दूसरा, किसी लुप्त छंद ग्रंथ में प्रयुक्त नाम प्रतीत होता है। अपभ्रंश और उसी प्रकार इन हिन्दी कवियों में एक सामान्य विशेषता छंदों के नाम बदलने की मिलती है।[5] बिअक्खरी के अंत में दो गुरु या यगण मिलता है

---

१. पृ० रा० १.१२४, २१३–६ आदि। हम्मीररासो १४७–१५९, हम्मीर हठ पृ० २ आदि कृतियों में प्रयोग मिलता है।
२. पृ० रा० १.१३६–४७ आदि। अन्य कृतियों में इस छंद का प्रयोग नहीं मिलता।
३. पृ० रा० १.३०७, ३३४ आदि।
४. केवल पृथ्वी रा० में इसका प्रयोग मिलता है १२.१५१, २३४ आदि।
५. कुछ ऐसे उदाहरण देख सकते हैं, खंडिता का एक नाम अवलम्बक है, नन्दिनी का, दूसरा नाम छित्तक है, मदनावतार का नाम चन्दानन भी है इत्यादि।

और चौपाई के भी एक प्रकार के अंत में दो गुरु या यगण मिलते हैं।[१] अत: प्रतीत होता है अंत में दो गुरु वाली चौपाई को 'विअक्खरी' नाम दिया है। इसी प्रकार बाघा और पारक भी चतुष्पदी के रूप हैं। पज्झटिका के अंत में जगण लघु गुरु लघु होना चाहिये। इसी प्रकार अडिला और मडिला में थोड़ा सा अन्तर है। अपभ्रंश के कवियों की कृतियों में प्रज्झटिका, पादाकुलक अरिल्ल, विअक्खरी, मुरिल्ल, चौपाई के बहुत प्रयोग मिलते हैं। पुष्पदन्त और अन्य कवियों की कृतयों में १६ मात्रा के समचतुष्पदी वर्ग के छंदों का सबसे अधिक प्रयोग हुआ है।[२] अपभ्रंश कवि एक ही कडवक में चतुष्पदियों की मात्राओं की व्यवस्था बदल देते हैं अत: एक ही कडवक में कभी कभी दो प्रकार (जैसे बिअक्खरी और चौपाई) की चतुष्पदियाँ भी मिल जाती हैं। हिंदी के कवियों में भी यह प्रवृत्ति मिलती है यथा तुलसीदास के मानस से कुछ उदाहरण ले सकते हैं। एक चौपाई की ७ अर्द्धालियों में से ७ के प्रत्येक चरणांत में यगण (लघु गुरु) मिलता है किन्तु बीच में एक अर्द्धाली ऐसी भी मिलती है जिसके चरणों के अन्त में सगण मिलता है[३], उमा कहउं मैं अनुभव अपना......सपना...३.३९। अपभ्रंश कवियों की समचतुष्पदियों के प्रयोग संबंधी सभी स्वतंत्रताओं को हिंदी कवियों ने अपनाया है, जैसे द्विपदी के समान प्रयोग, एक ही कडवक में विभिन्न प्रकार की चतुष्पदियों के प्रयोग तथा मात्रा संयोजना के अनेक प्रकारों की स्वतंत्रता इत्यादि[४]।

---

१. जैसे तुलसीदास की निम्न यगणान्त चौपाइयाँ बिअक्खरी कहलावेंगी, निज गुण श्रवन सुनत सकुचाहीं, पर गुन सुनत अधिक हरषाहीं।
सम सीतल नहिं त्यागहिं नीती। सरल सुभाउ सबहिं सन प्रीती। २.४६
तुलसी की रचना में पादाकुलक, चौपाई, बिअक्खरी के रूप प्रयुक्त हुए हैं।

२. महापुराण, पादाकुलक ३.९, प्रज्झटिका, बिअक्खरी, वही २२.९.१–३ चौपाई २२.८, अरिल्लादि के प्रयोग भी अनेक मिलते हैं वही, ९.२६, ३–४ आदि।

३. अन्य उदाहरण ३.४२.८, ३.४३.१० इत्यादि। तथा अपभ्रंश के ऐसे प्रयोगों के लिए भी एक उदाहरण देख सकते हे। महापुराण ९.९२ में प्रथम पाँच अर्द्धालियों के चरणांत में गण इस प्रकार हैं भगण, यगण, यगण, भगण, भगण।

४. कौन से मात्रिक गण अपभ्रंश और हिंदी कवियों के सर्वप्रिय रहे हैं यह दिखाना एक भिन्न विषय है लेकिन मात्रा योजना की स्वतंत्रता का पूरा लाभ कवियों ने उठाया है। मात्राओं की अनेक प्रकार की योजनाएँ मिलती हैं।

अन्य इस वर्ग के छंदों में १७ मात्रा की मनोरमा (सु० २२५) १९ मात्राओं का वैतवे छंद(सु० च० पृ० १२९-१३०)२० मात्रिक झूलन्त(हम्मीर हठ पद्य २४) रसावल(हम्मीर रासो पद्य ९१७)आदि, लच्छीधर(सुजान चरित पृ० १६,)भुजंगा (सु० च० पृ० ११, १२,)सादरा मदनावतार(सु० च० पृ० २००,)२१ मात्राओं के मैं छंदों में रासा,[१] चान्द्रायना,[२] कलहंस,[३] पवंगा,[४] २३ मात्रिकों में नीसानी[५] हीरक[६], २४ मात्रिकों में रोला[७], काव्य[८]; २५ मात्रिकों में गगनाँगन[९], २६ मात्रिकों में सुगीतिका[१०], अनुजोत [११], २८ मात्रिकों में गीता मालची हरिगीत, माधुर्य, ललितपद, सारदोवै, हरिगीत,[१२] २९ मात्रिकों में मरहठा,[१३] ३२ मात्रिकों में त्रिभंगी,रुचिरा,[१४]लीलावती,[१५] ३३ मात्रिकों में दुमिला,[१६]और ४० मात्रिकों में उद्धत,[१७]मदनहरा,[१८]छंदों के प्रयोग मिलते हैं। अपभ्रंश के छंद-

---

१. पृ० रा० ५०.२२ ।
२. पृ० रा० २.४०९-१० ।
३. सु० च० पृ० १५९-६० ।
४. वही, पृ० १२ ।
५. पृ० रा० २४.३४५-५०, सु० च० पृ० ४४ ।
६. सु० च० पृ० १४३ ।
७. पृ० रा० २१.२०४ सु० च० पृ० ८९, १७२-१७३ ।
८. पृ० रा० १.७४८, २१ मात्राओं का छंद है, सु० च० पृ० २३३ ।
९. सु० च० पृ० २१६ ।
१०. सु० च० पृ० २२७-८ ।
११. वही, पृ० ४, ५०-५१ ।
१२. यह सब एक ही छंद, हरिगीत के भिन्न भिन्न नाम हैं । गीतामालची के प्रयोग पृ० रा० में २.२१९-२२९, माधुर्य के वही, १५.५ ६, ललित पद के सु० च० पृ० १६७, दोवै के, सु० च० पृ० २२९ तथा हरिगीत के सु० च० पृ० ७, १०, १३ में मिलते हैं ।
१३. सु० च० पृ० २९ ।
१४. त्रिभंगी पृ० रा० २.२५७, लीला० सु० च० पृ० २०० ।
१५. वही, पृ० १६५-६ ।
१६. पृ० रा० २४.७३, ५, सु० च० पृ० १५ ।
१७. वही, पृ० १९० ।
१८. वही, पृ० २०७ ।

शास्त्र विषयक ग्रन्थों में इन सभी छंदों का विवरण मिल जाता है। हिंदी के कवियों ने कुछ छंदों के नाम बदल दिए हैं, हरिगीति के गीतामालची, माधुर्य, ललितपद, सार का दोवै नाम, रति वल्लभ(छंदो० ४.३९)वेतवे नाम आदि अपरिचित से नाम किसी अन्य स्रोत से गृहीत हुए हैं। इनमें से सभी छंदों के प्रयोग उपलब्ध अपभ्रंश साहित्य में नहीं मिलते। प्रतीत ऐसा होता है कि सुजान चरित के रचयिता ने छंद शास्त्र के सिद्धान्तों को सम्मुख रखकर नाना प्रकार के छंदों की रचना की होगी, कवियों के प्रयोग उनके सामने कदाचित ही रहे होंगे। इनमें से कुछ छंद ऐसे हैं जिनके वही नाम अपभ्रंश में छंद ग्रंथों में नहीं मिलते हैं किन्तु अपभ्रंश के कवियों ने उसी नाम से उनका प्रयोग किया है यथा नीसाणी जिसका प्रयोग नामोल्लेख सहित रासो और सुजान चरित में मिलता है, नयनंदि की कृति में भी इस छंद का नामोल्लेख तथा प्रयोग मिलता है किन्तु वह सोलह मात्रा का छंद है यथा—

तं णियच्छिऊण सो पहिट्ठउ छंदउ णिसेणि णामट्ठिओ

सुदर्शन चरित १०.१।

उपर्युक्त छंदों में से रासा, चान्द्रायना, रोला, काव्य, प्लवंगम आदि के प्रयोग अपभ्रंश कृतियों में मिलते हैं।[1] हिन्दी के कवियों ने इन छंदों के प्रयोग के लिए संदेश रासक जैसी कृतियों की स्फुट शैली को अपनाया है, कडवक बद्धशैली को नहीं जिसमें प्रत्येक छंद के पश्चात् घत्ता का प्रयोग किया है।

अर्द्ध समचतुष्पदी :

इस वर्ग के छंदों में दोहा, सोरठा और हरिपद[2] के प्रयोग इन कवियों ने किए हैं। दोहा(सं० द्विपथक वृत्तजाति०४.२७)अपभ्रंश का सबसे अधिक प्रिय, प्रचलित और प्राचीन छंद है। जैन अपभ्रंश की स्फुट रचनाओं, परमात्मप्रकाशादि कथाओं में, सिद्धों की अपभ्रंश रचनाओं, कीर्तिलता, संदेशरासक अपभ्रंश की सभी वर्गों की रचनाओं में दोहे का प्रयोग मिलता है। आश्चर्य की बात यह है कि अपभ्रंश प्रबन्धात्मक कृतियों में दोहे का प्रयोग नहीं मिलता। स्वयंभू और पुष्पदन्त की वृहत्काय कृतियों में कहीं भी कदाचित् दोहे का प्रयोग नहीं मिलता

---

१. रासा के प्रयोग संदेशरासक में हुए हैं, दे० भूमिका पृ० ५३ प्लवंगम के प्रयोग भविष्यदत्त कथा में हुए हैं।

२. सभी कृतियों में दोहे और सोरठे मिलते हैं, हरिपद का प्रयोग सुजान चरित पृ० २२८ में मिलता है।

है। अन्य चरित काव्यों में भी बहुत ही विरल प्रयोग दोहे के मिलते हैं।[1] दोहे की दो दो चरणों १, २ और ३, ४ से बनी दो पंक्तियों में २४ मात्राएं होती हैं, तेरह मात्रा के पश्चात् यति रहती है। दूसरे वर्ग के छंद विवेचकों के अनुसार दोहे की मात्रा योजना चार चरणों में १४, १२, १४, २२ मात्रा क्रम से होनी चाहिए।[2] याकोबी ने दोहों की दो प्रकार की मात्रा संख्याओं के संबंध में कहा है कि पूर्व और पश्चिम में दोहे के भिन्न भिन्न रूप प्रचलित थे इसी कारण यह भेद मिलता है, किन्तु पश्चिमी वर्ग के परिभाषाकार हेमचंद्र के दोहों में भी मात्रा संख्या उनकी परिभाषा से भिन्न मिलती है[3] अतः इस संबंध में डा० उपाध्ये की व्याख्या अधिक युक्ति संगत है, स्वर लय की आवश्यकतानुसार एक एक मात्रा काल चरण-अंत में और लग जाता है अतः वास्तव में १४, १२ मात्रा काल लगता है[4]। इसी कारण हेमचंद्रादि ने अपनी परिभाषाओं में दोहे के चरणों में भिन्न मात्रा संख्या का निर्देश किया है। दोहे के दोनों पादों में मात्रा गणों की संख्या इस प्रकार होनी चाहिए, ६, ४, ३; ६, ४, १;[5]। किन्तु इन गणों का विहारी जैसे कवियों ने भी सावधानी से प्रयोग नहीं किया है।[6] दोहा अनेक भेदों के साथ[7]

---

१. यथा, सुदर्शन चरित में अनेक छंदों के प्रयोग के साथ दोहे का भी प्रयोग हुआ है। रड्डा के साथ दोहे का प्रयोग आवश्यक है अतः दोहे के प्रयोग रड्डा के साथ मिलते हैं, स्वतंत्र रूप में नहीं। इसी प्रकार सनत्कुमार चरित (हरिभद्र) में अन्य छंद के साथ दोहों का प्रयोग मिलता है।

२. छंदकोश, प्राकृत पिंगल, कवि दर्पण में प्रथम मात्रा संख्या का निर्देश किया गया है और वृत्त जाति समुच्चय, स्वयंभू छंद, गाथा लक्षण तथा छंदोनुशासन में दूसरी मात्रा संख्या का निर्देश मिलता है। छंदों में पहिले तीसरे चरणों में १३, १३, और दूसरे चौथे चरणों में ११, ११ मात्रा वाले छंद को उपदोहक नाम दिया है, छंदो० ६.२०.९९।

३. दे० सनत्कुमार चरित की भूमिका, छदों का विवेचन।

४. दे० परमात्मप्रकाश, भूमिका पृ० २५।

५. सनत्कु० भूमिका, आल्सडर्फ़, कुमारपाल प्रतिबोध, भूमिका-ग्रियर्सन, सतसैया आव् बिहारी, कलकत्ता १८९६ भूमिका, पृ० १४-१७।

६. वही, पृ० १५।

७. प्राकृत पिंगल १.७८ में दोहे के भेदों की चर्चा की है।

अनेक विषयों के लिए अपभ्रंश और हिंदी में वि० की ८वीं शती से प्रयुक्त होता आ रहा है।

सोरठा—सोरठा के प्रयोग भी हिन्दी के अनेक कवियों ने किए हैं।[1] दोहे के चरणों का स्थान बदल कर सोरठा बनता है। परमात्म प्रकाश आदि अपभ्रंश कृतियों में सोरठा का प्रयोग मिलता है। अपभ्रंश के छंद ग्रंथों में अवदोहक तथा सोरट्ठ दोनों नाम मिलते है।[2]

हरिपद—सुजान चरित में इस अर्ध समचतुष्पदी छंद का प्रयोग हुआ है, प्रत्येक पाद में १६, ११ की यदि से २७ मात्राएं मिलती हैं। स्वयंभू छंद, छंदोनुशासन तथा छंदशेखर में प्राप्त विद्याधरहास नामक छंद का ही दूसरा नाम हरिपद है।

हिंदी में मात्रिक अर्ध समचतुष्पदियों का प्रयोग बहुत कम मिलता है। अपभ्रंश में भी इस वर्ग के छंदों का प्रयोग कम मिलता है। विषम चतुष्पदियों का प्रयोग अपभ्रंश में नहीं मिलता है। हिंदी में भी मात्रिक सर्व पद विषम चतुष्पदियों का प्रयोग नहीं मिलता।

मिश्रमात्रा बंध या द्विभंगी छन्द-अपभ्रंश में मात्रिक छंदों का एक दूसरा वर्ग मिलता है जिसमें दो भिन्न छंदों के मेल से एक नया छंद बना लिया जाता है, षट्पद रड्डा, कुंडलिक, काव्य आदि इस प्रकार के छंद हैं, हिंदी के कवियों ने भी इस प्रकार के छंदों का प्रयोग किया है। चारण परंपरा के कवियों ने इस प्रकार के छंदों को विशेष रूप से अपनाया है।

वस्तु[4]—मात्रा तथा दोहा को मिलाकर वस्तु या रड्डा छंद बनता है।[5]

---

१. पृ० रा० १.५४१, सुजान चरित पृ० १० इत्यादि, रामचरितमानस में सोरठा का अनेक स्थलों पर प्रयोग हुआ है। दोहा चौपाई वाली प्रेमाख्यानक कृतियों में इसका प्रयोग नहीं मिलता।

२. दे० कविदर्पण २.१५, प्रा० पिं० १.१७०।

३. कहीं कहीं ऐसे छंद मिलते हैं जिनके चरणों में भिन्न भिन्न मात्रा संख्या मिलती है यथा, पृ० रा० ६२.७३, तारक छंद जिसके चरणों में मात्रा संख्या भिन्न है।

४. पृथ्वी० रा० में इसको वथुउन नाम दिया गया है १.२, आदि।

५. दे० छंदो० ५.२३।

कवित्त[1]—छप्पय छंद ग्रंथों में वस्तुवदन तथा उल्लास को मिला कर बने छंद को काव्य, या षट्पदी नाम दिया है।

कुंडलिया[2]—दोहा और काव्य से बने छंद को कुंडलिया नाम दिया है।

अपभ्रंश में वस्तु बंध में हरिभद्र की संपूर्ण कृति मिलती है जिसका एक अंश 'सनत्कुमार चरित' प्रकाशित हो चुका है। छप्पय और कुंडलिया का स्वयंभू, पुष्पदन्त का अनुकरण करने वाले कवियों ने प्रयोग नहीं किया है। कुमारपाल प्रतिबोध के अपभ्रंश अंशों में छप्पय के प्रयोग मिलते हैं। कुंडलिया का प्रयोग प्राचीन अपभ्रंश कृतियों में नहीं मिलता। छंदशास्त्र के ग्रंथों (छंद कोश ३१, प्रा० पि० १.१४६) में उदाहरण तो मिलते हैं।

उपर्युक्त विवेचित मात्रा छंदों के अतिरिक्त हिन्दी कृतियों में और भी मात्रिक छंदों के प्रयोग मिलते हैं जिनके प्रयोग संभव है कुछ लुप्त या अनुपलब्ध अपभ्रंश कृतियों में हुए होंगे और कुछ छंदों की सृष्टि लोक में प्रचलित गीत लय के अनुसार कवियों ने की होगी। कडषा, वरवे आदि छंद इसी प्रकार के हैं। इस संक्षिप्त चर्चा से इतना स्पष्ट हो सकेगा कि मात्रा वृत्तों का क्षेत्र बहुत विस्तृत था और उसमें कवियों के लिए बहुत अधिक स्वतंत्रता थी, मात्राओं को किसी प्रकार रखा जा सकता था। अपभ्रंश काव्य की मात्रिक छंदों की प्रबल धारा अविच्छिन्न रूप से हिन्दी काव्य में भी प्रवाहित होती रही। चारण धारा के कवियों ने सबसे अधिक छंदों का प्रयोग किया है; सूदन ने तो छंदशास्त्र का मानो ग्रंथ ही लिखा है और उनके छंद प्रायः सभी शास्त्रानुमोदित पद्धति से ठीक हैं। इन कवियों ने छंदों को अनेक प्रकार के नवीन नाम दिए हैं, कदाचित् नवीनता या भिन्नता प्रदर्शित करने के लिए। हेमचंद्र ने जो चतुष्पदियों का विस्तृत विवेचन

---

१. पृ० रा० के छप्पय को कवित्त कहा गया है, इसका रासो में बहुत प्रयोग हुआ है, अन्य नामों से भी छप्पय का प्रयोग हुआ है जैसे कवित्त विधान जाति २१-१५, वस्तुबंधरूपक ६१.४८१७ हम्मीररासो, छंद २, ३ तथा एक स्थल पर छप्पय को दातार नाम दिया है, वही छंद ३१७-३१८। सुजान च० पृ० ६७, रास० भगवंतसिह छंद ३५, करहिया को रायसौ छंद २६, इत्यादि। परिभाषा के लिए दे० छंदो० ४.७९।

२. पृ० रा० २.३७७ आदि, सु० च० पृ० ६३। रासा भगवंतसिह छंद ४२, हिंदी के अनेक कवियों ने इसका प्रयोग किया है। परिभाषा के लिए दे० छंद० ३१।

किया है वह छंदों के प्रयोगों को सामने रखकर कदाचित् नहीं किया इस कारण वे सब भेद अपभ्रंश काव्य में व्यवहृत हुए नहीं मिलते और न उसी प्रकार हिंदी में छंद विविधता होते हुए भी सब भेदों के प्रयोग नहीं मिलते। हिंदी में सबसे अधिक प्रयोग समचतुष्पदी वर्ग के छंदों का हुआ है।

हिन्दी के संत और भक्त कवियों ने प्रायः उपर्युक्त विवेचित मात्रिक छंदों के ही प्रयोग किए हैं, कबीर ने चौपाई, पादाकुलक, दोहा, सार, ताटंक, मात्रिक-दंडक, रूपमाला, सरसी, शुभगीता, दिगपाल, उपमान, हरिपद, हंसिनी, गीता, दोही,[1] आदि छंदों का प्रयोग किया है। अन्य संतों में सुंदरदास ने अनेक प्रकार के छंदों का प्रयोग किया है जिनमें से अधिक संख्यक मात्रिक हैं, दोहा, नीसानी, झूलना, रुचिरा आदि प्रमुख हैं। भक्त कवियों में तुलसीदास ने रामचरित मानस में पादाकुलक, चौपाई, दोहा, सोरठा, हरिगीत, भुजंगप्रपात, ताटक इत्यादि के अतिरिक्त, कवितावली में सवैया, छप्पय, इत्यादि के प्रयोग किए हैं, सूर दास की रचना में उपमान, कुंडल, शोभन, रूपमाला, स्तर सरसी, वीर, समान, मत्त सवैया, विष्णुपद, हंसाल, चंद्र, भानु, हीर, सुखदा, राधिका, तोमर, चौपई, चौपाई, दोहा, रोला, गीतिका, ताटंक वीर, मनहरण तथा मिश्र छंदों के प्रयोग हुए हैं।[2] नन्दास आदि अन्य कृष्ण भक्त कवियों की रचनाओं में भी सार, चौपाई, दोहा, रोला, तथा रोला दोहा मिश्रित छंदों के प्रयोग मिलते हैं।[3] संतों और भक्तों द्वारा प्रयुक्त सभी छंद मात्रिक हैं। उपर्युक्त छंदों में से अनेक मात्रिक छंद पूर्ववर्ती

---

१. दे० बीजक इलाहाबाद १९२८, विचार दास शास्त्री रमेनी खंड में चौपाई, पादाकुलक, दोहा के प्रयोग।
सार शब्द १, २ आदि में प्रयुक्त। ताटक शब्द १७ में १६, १८ मात्रा अंत में रगण, मात्रिक दंडक शब्द ३५, २२, १६, ३८ मात्रा, अंत में लघु गुरु, रूपमाला शब्द ६०, १४, १० पय यति २४ मात्रा, सरसी, शुभगीता, शब्द ८७, दिगपाल शब्द १०२, उपमान शब्द १४, हरिपद हिंडोला १, हसिनी, पृ० ३७१, छंद ३७, गीता, पृ० ३७२, छंद ४१ आदि, दोही, पृ० ३७२, छद ४४ आदि।

२. दे० सूरदास डा० ब्रजेश्वर वर्मा, प्रयाग, '५०। पृ० ५७१ आदि, पदों पर आगे विचार किया गया है।

३. दे० अष्टछाप और वल्लभ संप्रदाय डा०, दीनदयालु गुप्त, प्रयाग २००४ भाग २, पृ० ७६१-२ तथा ८८३-७।

अपभ्रंश साहित्य में प्रयुक्त हुए छंदों के ही दूसरे नाम हैं। यह सभी छंद मात्रिक सम द्विपदी या चतुष्पदी वर्ग के हैं। कुछ के संबंध में पीछे विचार किमा जा चुका है। इन कवियों ने वर्ण वृत्तों का प्रयोग बहुत ही कम किया है, और यह संस्कृत के छंद ग्रंथों के अध्ययन की ओर उन्मुख न होकर प्रचलित काव्यपरंपरा का अनुसरण करने के कारण लगता है। केशवदास मध्ययुग के एक ऐसे कवि हैं जिन्होंने प्रचलित काव्यधारा की स्वाभाविकता को छोड़कर छंद ग्रंथों का सहारा लेकर नाना प्रकार के छंदों के प्रयोग किए हैं। उन्होंने निम्न मात्रिक छंदों के प्रयोग किए हैं, गाता (गाथा)घत्ता, रोला, चतुष्पदी, प्रज्झटिका, अरिल्ल, पादाकुलक, मधुभार, आभीर, हरिगीत, त्रिभंगी, हीरक, मरहट्टा, सोरठा, तोमर, चंचरी, डिल्ला, गीतिका, मोहन, विजय, चौपइया, पदमावती, दुर्मिल मदन-मनोहरदंडक, मदनहारा, रूपमाला, जयकरी, चौबोला, झूलना, हरिप्रिया, रुपक्रान्ता, छप्पय, कुंडलिया, गाथा, घत्ता जैसे प्राकृत अपभ्रंश के छंदों से लेकर मिश्र छप्पय कुंडलियाँ तक के प्रयोग मिलते हैं। केशव के इन मात्रिक छंदों के प्रयोगों में शास्त्रीय पक्ष का ध्यान रखा गया है। नवीनता उनमें नहीं है। लोक से ग्रहीत कडषा जैसे समकालीन कवियों द्वारा प्रयुक्त छंद उनकी कृति में नहीं मिलते। केशव के छंदों पर अपभ्रंश के छंदों का सीधा प्रभाव नहीं पड़ता प्रतीत होता।

मात्रिक छंदों के प्रयोग में एक बात ध्यान देने योग्य है। अपभ्रंश कवियों द्वारा प्रयुक्त २४ मात्राओं से अधिक के छंदों के चतुष्पदी या षटपदी होने का निर्णय करना कठिन हो जाता है, हिंदी में भी यह कठिनाई मिलती है। छंदशास्त्र की अनुमति दोनों के पक्ष में मिलती है। यति से उनको चतुष्पदी या षटपदी दोनों ही कहा जा सकता है। एक उदाहरण से स्पष्ट होगा। पुष्पदन्त का एक घत्ता इस प्रकार है।

चउगईहिं मरतें पुणु पुणु हंति विहसिवि देवें वुत्तउ
सुहदुक्खणिरंतरि तिजगब्भंतरि जीवें काइ स भुत्तउ। ७.११।

उपर्युक्त छंद में १०, ८, १२ मात्रा परयति मिलती है, प्रत्येक पाद में यति के कारण तीन चरण हो जाते हैं। छंदकोश, प्राकृत पिंगल के अनुसार इसको ३० मात्रिक समचतुष्पदी कहा जायेगा तथा इसको षट्पदी भी कहा जा सकता है,[1] इसी प्रकार का एक प्रयोग हिन्दी का उद्धृत किया जा सकता है——

---

१. कविदर्पण २.२९ में १०, ८, ११ यति वाले घत्ता को षटपदी कहा गया है।

जय जय सुरनायक जन सुखदायक प्रनतपाल भगवंता
गो द्विज हितकारी जय असुरारी सिंधुसुता प्रिय कंता ।

रामचरित मानस १.१८६ ।

इस पद्य में भी १०,८,१२ पर यति मिलती है, कवि द्वारा छंद की १६ पंक्तियाँ निर्मित हैं अतः इसको चतुष्पदी और षट्पदी दोनों ही कहा जा सकता है । यति ही लयात्मक मात्रिक और हिन्दी छंदों के पदों को निश्चय करने का एकमात्र साधन है । अपभ्रंश के मात्रिक छंदों के साथ साथ उनकी सभी स्वतंत्रताएं हिन्दी में भी आईं । संत, भक्त, चारण, तथा रीतिकाव्यधारा के बहुसंख्यक छंद अपभ्रंश से ही आए हैं, संत और भक्त कवियों में अपभ्रंश के कवियों के समान ही कम और अति प्रचलित छंदों के प्रयोग मिलते हैं । चारणकवियों के कुछ अपने छंद हैं और छंद विविधता छंद प्रियता उस धारा के कवियों की एक विशेषता प्रतीत होती है । पृथ्वीराज रासो में प्राकृत और अपभ्रंश के समान ही मौलिक छंदों के प्रयोग मिलते हैं, सूदन ने चंद बरदाई की कृति को पढ़कर छंदविविधता का और भी प्रदर्शन किया है ।

वर्णिक वृत्त :

वर्णिक वृत्तों का प्रयोग अपभ्रंश के चरित काव्यों में अधिक मिलता है । परमात्मप्रकाश में एक स्रग्धरा और एक मालिनी वर्ण वृत्त का प्रयोग मिलता है जिनकी भाषा अपभ्रंश नहीं है, संदेश रासक में प्रयुक्त २२ छंदों में से केवल ३ छंद वर्ण वृत्त हैं जो एक एक बार प्रयुक्त हुए हैं ।[१] पुष्पदन्त के महापुराण, नयनंदि के सुदर्शन चरित, तथा भविष्यदत्त कथा जैसी कृतियों में वर्ण वृत्तों के प्रयोग मिलते हैं । वर्णवृत्तों के प्रयोग में कोई नवीनता नहीं मिलती । अपभ्रंश के कवियों ने वर्णवृत्तों में भी अन्त्यनुप्रास का ध्यान रखा है, गणों के निश्चित क्रम में कुछ परिवर्तन करना संभव नहीं था । वास्तव में वर्णिक वृत्तों के प्रयोग के रूप में उन्होंने संस्कृत छंद शैली को अपनाया है । किन्तु एक बात ध्यान देने योग्य यह है कि इन कृतियों में भी वर्ण वृत्तों की अधिकता है । पद्धडिया शैली में जो वर्ण वृत्त मिल सकते थे उनको ही इन कवियों ने अपनाया है । अतः एक गण के छंदों का कहीं प्रयोग नहीं मिलता, दो गण तथा तीन गण के छंदों का भी प्रयोग बहुत कम हुआ है, चार गण के समचतुष्पदी छंदों का प्रयोग अधिक हुआ है और अपभ्रंश के अन्य छंदों के समान ही इन चतुष्पदी छंदों का

---

१. मालिनी पद्य १००, नन्दिनी पद्य १७१ भ्रमरावलि पद्य १७३ ।

भी प्रयोग द्विपदी के समान हुआ है।[1]

हिंदी की संत, भक्त, प्रेमाख्यानक काव्यधारा की कृतियों में वर्णवृत्तों का प्रयोग बहुत ही कम मिलता है। तुलसीदास के 'मानस' में कदाचित केवल तीन चार वर्णवृत्तों का प्रयोग मिलता है, भुजंगप्रयात ७.१०८, तोटक ७.१०१ नाराचक ३.३। अन्य कवियों में से केवल सुंदरदास ने कुछ कदाचित छः वर्ण वृत्तों का प्रयोग किया है। वर्णवृत्तों का प्रयोग चारण धारा के कवियों विशेषकर पृथ्वीराजरासोकार और सूदन ने और केशवदास ने अधिक किया है। पृथ्वीराज रासो और सुजान चरित के अनेक वर्णवृत्त तो अपभ्रंश कवियों द्वारा प्रयुक्त वृत्त ही हैं[2] रामचंद्रिका में प्रयुक्त छंदों में 'श्री' छंद जैसे प्रयोग कवि के छंदशास्त्र प्रेम को व्यक्त करते हैं। लगभग १२० छंदों का प्रयोग कवि ने किया है जिनमें से ७० के लगभग वर्णवृत्त हैं। जो हो इन छंदों के प्रयोग में कोई चमत्कार या नवीनता नहीं है।

पद :

हिन्दी की पद (सं० पद्य) शैली में छंद का एक नया रूप मिलता है। पीछे कहा गया है कि अपभ्रंश में चतुष्पदी छंदों का द्विपदी या

---

१. यथा पुष्पदन्त ने पहिली सन्धि के १० वें कडवक में स्रग्विणी छंद का प्रयोग किया है जिसमें २६ चरण हैं इस प्रकार द्विपदी के समान प्रयोग किया है। गणों के क्रम का इन कवियों ने अवश्य पालन किया है।

२. पृ० रा० में प्रयुक्त कुछ वर्ण वृत्त इस प्रकार हैं ताटक १.१, श्लोक १.७७ विराज शंखनारी १.४५, भुजंगप्रयात १.५–१०, शार्दूल विक्रीडित, १.५३.४, दंडक, मोदक ३७.१२१.८, मलया (स्रग्विणी) १.२५१, नाराच प्रमाणिका १७.,५० आदि, भ्रमरावली (तोरक) मौक्तिकदाम १२.३०, मोतीदाम २.३५५ आदि कंठ मालिनी ४५.११८ १२० इत्यादि छंद प्रयुक्त हुए हैं।

रामचंद्रिका और सुजान चरित में भी अनेक वर्णवृत्तों का प्रयोग हुआ है, कुछ इस प्रकार है रामचंद्रिका; श्री, सार, रमण, तरणिजा, प्रिया, सोमराजी, कुमारललिता, नगस्वरूपिणी, हीरक, हंस, मालती, समानिका, घनाक्षरी, दोधरु, तोटक, सुंदरी, पंकजवाटिका, चामर, निशिपालिका, सुप्रिया, नराच, शशिवदना, चंचरी, मल्ली, गीतिका, तुरंगम, कमला, संयुता, मधु, बंधु, मोदक, तारक, कुसुम विचित्रा, कलहंस, विजय, स्वागता, चित्रपदा, मोटनक, अनुकूला, भुजंगप्रयात, तामरस, मत्तगयंद, मालिनी, विशेषक, चंद्रकला, सवैया, किरीट सवैया, मदिरा,

कभी कभी एक पदी के रूप में प्रयोग होने लगा था। छंद के एक चरण का भी प्रयोग कवि स्वतंत्रता से कर सकते थे। हिन्दी के पदों की टेक या स्थायी या ध्रुवक के इतिहास पर इस से कुछ प्रकाश पड़ता है।[1] अपभ्रंश की सभी चरित कृतियों में संधि के प्रारंभ में ध्रुवक या ध्रुवा के प्रयोग की प्रथा मिलती है। इस ध्रुवक में अत्यंत संक्षेप में संधि की समस्त कथा के सार का संकेत रहता है। और प्रत्येक कडवक के पश्चात् लघु रचनाओं को गाते समय ध्रुवक को दुहराया जाता होगा। छंद के एक चरण को ही इस आवृत्ति के लिए पर्याप्त समझा जाता होगा। अपभ्रंश में दो छंदों के मेल से निर्मित मिश्रबंध या द्विभंगी, त्रिभंगी आदि का उल्लेख किया जा चुका है। पद की बनावट में छंद की दृष्टि से यही तत्व मिलते हैं। टेक प्रायः छंद के एक चरण के रूप में रहती है, पूरे पद का उसमें सार संकेतित रहता है। और अनेक छंदों को कभी कभी एक पद में मिला भी दिया जाता है।

राग तरंगिणीकार[2] ने रागों में गेय प्रत्येक पद्य के लिए कुछ मात्रा योजना निर्धारित की हैं। संगीत के मार्ग शास्त्रीय और देशी लोक प्रचलित दो भेदों का उल्लेख करते हुए उन्होंने पदों को देशी संगीत के अंतर्गत माना है। विद्यापति

तन्वी, सुमुखी, वसंततिलका, सारस्वती, मत्तमातंग, अनंगशेखर दंडक, इंद्रवज्रा, उपेंद्रवज्रा, रथोद्धता, चंद्रवर्त्म, वंशस्थ, विलम, प्रमिताक्षरा, स्रग्विणी, मनहरण, मनोरमा, गंगोदक, गौरी, हरिलीला, मोतीदास, मल्लिका और उपजाति। इतने वर्णिक छंदों से स्पष्ट है कि केशवदास का प्रधान उद्देश्य छंद ग्रंथों के सभी छंदों का प्रयोग करना था किसी साहित्यिक परंपरा का अनुकरण वे नहीं करना चहते थे।

सुजान चरित में कवित्त, अनुगीत, भुजंगी, लच्छीधर, संजुता, नाराच, मुक्तादाम, भुजंगप्रयात, घनाक्षरी, प्रमानिका, मालती, कंद, मल्लिका, हरी, सुंदरी, इंद्रवज्रा, हीरक, दोधक, विजोहा, कलहंस, महालक्ष्मी, तिलक, मंथान, वसंत तिलका, गंगोदक, मालिनी, निशिपालिका, तोटक, समानिका, मोदक, मनोरमा, विद्वन्माला, चपला, सारवती, स्वागता, नील और हारी, केशवदास और सूदन की कृतियों को छंद शास्त्र की अपूर्व कृतियाँ कहा जा सकता है।

---

१. भरत मुनि के नाट्यशास्त्र में प्रयुक्त ध्रुवागीतों से भी ध्रुवक का संबंध जोड़ा जा सकता है।

२. लोचन कृत रागतरंगिणी, दरभंगा, १९९१ वि०।

के कुछ रागों को लेकर उन्होंने उनके छंद लक्षणों की भी चर्चा की है।[1] किन्तु जो छंद क्रम उन्होंने विद्यापति के रागों में दिखाए हैं सूरदास के पदों में वह ठीक नहीं बैठता और फिर प्रत्येक राग के छंद का उस प्रकार क्रम निश्चित करना संभव नहीं दिखता। जैसे रामकरी रागिनी के लिए उन्होंने रामकरी छंद का मात्रा क्रम इस प्रकार बताया है कि प्रथम पद में २५ मात्रा, दूसरे में २६, फिर २७ और २८ हों, सूरसागर की रामकली रागिनियों से युक्त पदों में इस प्रकार का मात्रा क्रम नहीं मिलता।[2]लोचन का यह विवेचन किसी सिद्धान्त पर आधारित नहीं है, विवेचित रागों के लिए केवल मात्रिक छंदों का ही विधान निश्चित किया है। रागों में बद्ध गेय कविता वर्ण वृत्तों के नियंत्रणों को नहीं सहन कर सकती। सूरदासादि के पदों में मात्रिक छंदों का ही प्रयोग मिलता है। लोचन के विवेचन से विद्यापति के पदों के संबंध में भी यही सिद्ध होता है।

रीतिकालीन कवियों ने सवैया कवित्त आदि के जो प्रयोग किए हैं उनमें से सवैया के दुर्मिला का छंद ग्रन्थों में उल्लेख मिल जाता है,[3] उसी प्रकार की लय वाले कुछ छंद भी मिलते हैं किन्तु यह विकास अपभ्रंश काल के पीछे का है ऐसा प्रतीत होता है। यही रास रचनाओं में प्रयुक्त ढाल आदि के संबंध में कहा जा सकता है।

अलंकार—प्राकृत और अपभ्रंश के कवियों के अलंकार विधान में अप्रस्तुत संबंधी कुछ स्वतंत्रता मिलती है। इन कवियों ने परंपरा से प्राप्त प्राचीन अप्रस्तुत विधान को भी अपनाया है और अपने चारों ओर के परिचित जीवन से भी अप्रस्तुत विधान के लिए सामग्री का चयन किया है जिसका संस्कृत साहित्य शास्त्र द्वारा ग्रामीण कहकर सदैव तिरस्कार होता रहा है। अपभ्रंश कवियों ने काव्य को सामान्य जन प्रिय बनाने के लिए इन परिचित काव्य उपकरणों को कदाचित् अपनाया होगा। इस दृष्टि से प्राकृत और अपभ्रंश काव्य को दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है। अलंकृत और लोकप्रिय, सेतुबंध, लीलावती कथा, स्वयंभू की कृतियाँ, पुष्पदन्त का महापुराण, नयनन्दि आदि की कृतियों में अलंकृत वातावरण मिलता है। गाथा सतसई, योगीन्द्र, रामसिंह तथा कुछ चरितकाव्य, संदेशरासक आदि में सामन्य लोकप्रिय वातावरण भी मिलता है। हिन्दी के

---

१. दे० रागतरंगिणी पृ० ३९ और आगे।

२. वही पृ० ५१।

३. छंदकोश १६, प्रा० पैं० १.१९६-१९७।

कवियों में भी सामान्य जीवन से परिचित उपकरणों को काव्य में स्थान देने की यह प्रवृत्ति मिलती है। इस प्रकार अपभ्रंश कवियों ने कल्पना और कवि परंपरा से सीमित अप्रस्तुत क्षेत्र को विस्तृत किया। सफल कवियों ने परिचित जीवन की वस्तुओं को ग्रहण करके कविता में सर्वग्राह्य और कहीं कहीं अधिक सुंदर बना दिया है।[1]

अपभ्रंश के कवियों ने, विशेषकर के साधकों ने जैसे सरल रूपकों का प्रयोग किया है उसी प्रकार के जुलाहे आदि के रूपक कबीर आदि संतों की कविता में भी मिलते हैं। हिन्दी के कवियों को अपभ्रंश कवियों की इस प्रकृति से प्रोत्साहन अवश्य मिला होगा या संभव है दोनों ही वर्ग के कवियों को अपने सामान्य पाठकों के कारण सरल कल्पना शैली का सहारा लेना पड़ा हो।

अपभ्रंश के कवियों में एक दूसरी प्रवृत्ति मिलती है, ध्वन्यात्मक शब्दों के प्रयोग की। ध्वनि के अनुकूल शब्द बनाकर प्रभाव की पूर्ण व्यंजना के लिये यह कवि निरर्थक ध्वनियों का निर्माण करके प्रयोग करते हैं यथा भौरों की गुंजार के लिए 'गुमुगुमंत' का प्रयोग :

धवलकुसुममंजरिवयमालहिं गुमुगुमंतमहुलियगेयालहिं,

महापुराण २८.१५.३।

धवधवधवंत का प्रयोग—धवधवधवंत पयणेउराहं,

वही ८१.५.४।

युद्ध उत्साह के वर्णन में इस प्रकार के प्रयोग मिलते हैं :—

अंतइं लंबंतइं ललललंति रत्तइं पवहंतइं झलझलंति
महि खिवडमाण हय हिलिहिलंति सरसलिय गयवर गुलुगुलंति
पहरणइं पडंतइं धगधगंति विच्छिण्णइं कययइं जिगिजिगंति,

वही, ८४.५।

वर्षा के वर्णन में झलमलइ, तडयडइ जैसे शब्द मिलते हैं। संगीत आदि के लिए वाद्य यंत्रों की ध्वनि से साम्य रखती हुई ध्वनियाँ बनाई गई हैं, पुष्प सुगन्धि के लिए 'महमहंतु' जैसे शब्दों का निर्माण किया गया है :

ढुमुढुमिय गंभीर दुंदुहि विसेसाइं, दुंदुमउ दाहं ढड्ढ तुंटिउलाइं।
डमडमिय डमरुयइं डं डं तडक्काइं, धरधरिरे करदोह सद्दाहं।

सुदर्शन चरित ७.७।

---

१. दे० पीछे, स्वयंभू, पुष्पदंत, नयनन्दि से संबंधित प्रकरण।

हिन्दी के कवियों में भी यह प्रवृत्ति मिलती है। सूरदास के 'किलकत' डगमगत, झरहरात आदि शब्द इसी प्रकार के हैं :

झरझराति, झहराति लपट अति। सूरसागर सभा. सं. पद १२.११।

झरहरात बनमाल। वही, १२१२।

बरत बनबास, थ रहरत कुस काँस..

भहरात, झहरात अररात तरु..वही १२१४।

चारण धारा के कवियों की रचनाओं में इसका अधिक प्रदर्शन हुआ है।[1]

---

१. दे० सुजान चरित पृ० १३६, १४३ आदि पर अररान, धररान, सररान, मररान, ढररान जैसे प्रयोग।

३

कथानकों पर प्रभाव

विषय प्रधान मध्ययुगीन हिन्दी काव्य साहित्य को दो वर्गों में रखा जा सकता है। पहिले वर्ग में उस साहित्य को रख सकते हैं जिसमें पौराणिक कथाओं और पौराणिक पात्रों को वर्ण्य विषय के रूप में अपनाया गया है। दूसरे वर्ग में उस साहित्य को रख सकते हैं जिसमें लोक कथाओं या 'प्राकृत जनों' को काव्य का विषय बनाया है। राम और कृष्ण काव्य पहिले वर्ग से संबंध रखते हैं और वीर काव्य, रासक रचनाएँ, प्रेमाख्यानक काव्य दूसरे वर्ग से संबंध रखते हैं। विषयि प्रधान काव्य के विषय में कुछ कहने की आवश्यकता नहीं है उसमें कवि का अपना व्यक्तित्व ही प्रधान रहता है। प्राकृत अपभ्रंश साहित्य का जो विवेचन पीछे किया गया है उसमें भी दो प्रकार का साहित्य मिलता है, एक की पौराणिक विषयों को आधार मान कर रचना हुई है दूसरे की(लोककथाओं की)लोक में प्रसिद्ध मानवों को आधार मान कर रचना हुई है। पिछले अध्याय में यह भी स्पष्ट किया गया है कि प्राप्त प्राकृत और प्रधान रूप से अपभ्रंश साहित्य का अधिकांश भाग जैन संप्रदायानुयायियों द्वारा रचित ही प्राप्त हुआ है। जैन कवियों ने जैन पुराणों से अपने काव्य विषयों को ग्रहण किया है और लोक कथाओं को भी जैन धर्म का रूप देकर अपनाया है। प्राकृत में सेतुबन्धादि जैसे पौराणिक विषयों से संबंधित ब्राह्मण संप्रदायानुयायियों की रचनाएँ मिलती हैं उसी प्रकार अपभ्रंश में भी पौराणिक चरित्रों और कथाओं में मौलिक परिवर्तन करके जैनेतर कवियों ने रचनाएँ की होंगी जैसा कि अनुपलब्ध अब्धिमथन आदि काव्यों के नामों के उल्लेख के आधार पर अनुमान किया जा सकता है। अतः ब्राह्मण पौराणिक विषयों को आधार मानकर रचे गए हिन्दी काव्य के कथानकों पर जैन प्राकृत और अपभ्रंश रचनाओं में प्रयुक्त विषयों का कोई प्रभाव पड़ा होगा ऐसा संभव नहीं प्रतीत होता, भले ही जैन कवियों ने रामायण और महाभारत की कथाओं से संबंधित ग्रंथ लिखे हैं। अतएव राम साहित्य और कृष्ण साहित्य पर कथानुसरण की दृष्टि से उपलब्ध जैन प्राकृत अपभ्रंश

साहित्य का कोई प्रभाव नहीं लक्षित होता। जैनेतर सेतुबन्धादि काव्यों से संभव है कुछ कवियों को कुछ प्रेरणा मिली हो लेकिन वह भी बहुत संभव नहीं लगता।

लोक कथाओं को अपभ्रंश साहित्य में बहुत स्थान मिला है और अनेक हिन्दी कवियों द्वारा ग्रहीत कथाओं के समान ही पूर्ववर्ती अपभ्रंश में भी कथानक मिलते हैं। हिन्दी प्रेमाख्यानक काव्यों पर इस प्रकार का प्रभाव स्पष्ट लक्षित होता है। प्रायः सभी प्रेमकथाओं के 'कथाभाव'(मोटिफ़)एक ही प्रकार के हैं। और इसी प्रकार के कथाभाव अपभ्रंश की कृतियों में भी मिलते हैं। 'कथाभावों' के अतिरिक्त हिन्दी कृतियों में प्राप्त कुछ कथाएँ पूर्ववर्ती कवियों की रचनाओं में भी मिलती हैं। जायसी की प्रेमकथा में पद्मिनी को सिंहल द्वीप की बताया गया है। सिंहल द्वीप की सुंदरियों को लेकर जायसी के पूर्व अनेक प्रेमकथाओं की सृष्टि हुई है। हर्ष(सातवीं शती ई०)ने अपनी कृति रत्नावली नाटिका में रत्नावली को सिंहल के राजा की पुत्री बताया है।[1] कौतूहल ने अपनी कृति की नायिका लीलावती को सिंहल के राजा की अपूर्व सुंदरी राजकुमारी के रूप में चित्रित किया है जिसका विवाह प्रतिष्ठान के राजा सातवाहन से कवि ने कराया है।[2] लीलावती को प्राप्त करने के लिए सातवाहन को सिंहल नहीं जाना पड़ता। अनेक राजाओं के चित्रों में सातवाहन के चित्र को देखकर वह उस पर मुग्ध हो जाती है। आसक्ति के कारण उसे सातवाहन का स्वप्न में दर्शन होता है और वह प्रेम व्यथा का अनुभव करने लगती है। जब उसके पिता को यह ज्ञात होता है तो वह उसे सादर सातवाहन के पास भेज देता है।[3] सातवाहन के मंत्री भी इस चेष्टा में थे कि सातवाहन का विवाह सिंहल के राजा शिलामेघ की पुत्री से हो सके जिससे बिना युद्ध के सिंहल-राज उसका आधिपत्य स्वीकार कर सकें। प्रेम कथाओं में प्रेमी प्रेमिका के प्रेम की परीक्षाओं के प्रसंग कवियों ने अवश्य रखे हैं और नायक की वीरता का भी प्रदर्शन किया है। लीलावती कथा में भी सातवाहन और लीलावती एक दूसरे के प्रति दृढ़ हैं और सातवाहन पाताल में जाकर सिद्धि प्राप्त करता है तथा कठोर दुर्दमनीय भीषणानन को मारकर लीलावती से विवाह करता है।[4]

भविष्यदत्त कथा में अनेक व्यापारी समुद्रस्थित द्वीप में व्यापारार्थ जाते हैं

१. रत्नावली नाटिका, अंक ४।
२. दे० पीछे प्राकृत अध्याय में कौतूहल।
३. वही, पद्य ८०९–८६८।
४. वही, पद्य, १००८-६३ तथा ११७०-१२२६ और १२८३-१३२८।

और रूपवान् भविष्यदत्त उस द्वीप की सुन्दर कुमारी भविष्यानुरूपा से विवाह करके प्रभूत धन लेकर लौटता है। मार्ग में समुद्र में वात्याचक्र भी आता है और बंधुदत्त भी बाधक के रूप में उपस्थित होता है। फिर दोनों प्रेमी प्रेमिका मिल जाते हैं और गजपुर लौट आते हैं। दूर द्वीप की इस सुंदरी भविष्यानुरूपा को न देने पर पोदनपुर का राजा गजपुर के राजा पर चढ़ाई करता है किन्तु वह भविष्यदत्त के पराक्रम के सामने पराजित हो जाता है। कवि ने इस आक्रमण को दो उद्देश्यों की पूर्ति के लिए रखा होगा, भविष्यदत्त की वीरता दिखाने के लिए और भविष्यानुरूपा के सौन्दर्य को प्रकट करने के लिए।[1]

कनकामर के करकंडुचरिउ में करकंडु सिंहल जाता है और रतिवेगा से परिणय करता है और जब वे लौट रहे थे तब एक मत्स्य आकर दोनों को अलग कर देता है और एक विद्याधरी आकर उन्हें बचाती है। और रतिवेगा की पद्मावती देवी सहायता करती है। अंत में दोनों मिल जाते हैं।[2]

लाखू के जिनदत्त चरित (१२७५ वि०) में जिनदत्त अनेक व्यक्तियों के साथ मणियों लेने के लिए सिंहल द्वीप पहुँचता है।[3] और वीरतापूर्वक भयंकर सर्प को मारकर राजकुमारी श्रीमती (लक्ष्मीमती) से विवाह करता है तथा अन्य द्वीपों में जाकर और कुमारियों से भी परिणय करता है। जिनदत्त को उसका एक दुष्ट मामा समुद्र में ढकेल देता है और स्वयं लक्ष्मीमती के पास जाकर प्रेम प्रस्ताव करता है। वह दृढ़ रहती है और अंत में विमलमती की सहायता से पति से मिलती है।

विक्रम की पंद्रहवीं शती की जिनहर्षगणि की प्राकृत कृति रत्नशेखर नरपति कथा में रत्नपुरी के राजा रत्नशेखर का विवाह सिंहल द्वीप की राजकुमारी रत्नवती से होता है। रत्नशेखर स्वयं सिंहल जाता है और रत्नवती का दर्शन राजा मंदिर में करता है जहाँ वह कामदेव की पूजा के लिए आई थी। राजा को किसी प्रकार का युद्ध नहीं करना पड़ता है, प्रभूत धन पाकर वह लौटता है। प्रेम की परीक्षा लेने के लिए कवि ने रत्नवती का अपहरण चित्रित किया है किन्तु अंत में वह सब इंद्रजाल सिद्ध होता है।[4]

विक्रम की पंद्रहवीं शती की एक दूसरी रचना नरसेन कृत श्रीपाल चरित

१. दे० पीछे जैन अपभ्रंश प्रबन्धात्मक रचनाएं अध्याय में धनपाल का प्रकरण।

२. दे० करकंडुचरिउ, करंजा १९३४ संधि ७ कडवक ५-१६।

३. कयमणिपईवि, सिंहल पईवि। जिनदत्त चरिउ हस्तलिखित प्रति ३.२१।

४. दे० पीछे जैन प्राकृत अध्याय में जिनहर्षगणि का प्रकरण।

है जिसमें श्रीपाल एक द्वीप में जाकर वहाँ की सुन्दर कुमारी रत्नमंजूषा से विवाह करता है। धवल सेठ कपट करके श्रीपाल को समुद्र में ढकेल देता है और रत्नमंजूषा को प्रसन्न करना चाहता है, किन्तु जल देवी प्रकट होकर उसकी सहायता करती है और अंत में वह अपने पति से मिलती है। श्रीपाल एक दूसरे द्वीप में पहुँचता है और आठ कुमारियों को समस्यापूर्ति में हराकर विवाह करता है।[1] एक समस्या इस प्रकार है, कुमारी सौभाग्यगौरी समस्या रखती है 'जहँ साहसु तं सिद्धि।[2]' और श्रीपाल उसकी पूर्ति इस प्रकार करता है :

सत्तुसरीरहं आइतउ, दइयाइत्ती बुद्धि ।
कंत सहाउ म छंडियइं, जं साहसु तं सिद्धि ॥

इन आठ कुमारियों में से एक का नाम पद्मावती भी है, उसकी समस्या इस प्रकार है 'काइं विढत्तउ तेण' और श्रीपाल उसकी इस प्रकार पूर्ति करता है :

कुंती जाए पंच सुव, पंचहु पंच पिएण ।
गंधारि सउ जाइयउ, काइं बिढ़त्तउ तेण ॥

सोलहवीं शती विक्रम में वर्तमान कवि माणिक्क राज ने अपनी कृति में सिंहल की पद्मिनी का उल्लेख किया है।

णं पउमिणि सिंहलदीव आय ।

हस्तलिखित प्रति १.१९।

नायिका के नखशिख वर्णन में सिंहल की पद्मिनी को रूपवती स्त्रियों का प्रतीक माना है। अपनी दूसरी कृति अमरसेन चरित में सिंहल को धन का प्रतीक माना है :

सिंघल कुवलय हुवि सेयभाणु

हस्तलिखित प्रति १.४।

अर्थात् 'वह सेठ सिंहल कुवलय के लिए भानुवत् था।'

सिंहलद्वीप, ऊपर के कतिपय उल्लेखों से प्रकट होगा, कवियों का अत्यंत

---

१. दे० पीछे जैन अपभ्रंश प्रबन्धात्मक रचनाओं के अध्याय में नरसेन का प्रकरण।

२. तुलना कीजिए : जइ साहसहु न सिद्धि हो, झंष करिव्वउं काह ।
होज होसल एक्क पइ वीर पुरिस उच्छाह ।
कीर्तिकलता, पृ० ६४ डा० सक्सेना का संस्करण

प्रिय विषय रहा है। कथाओं के लिए अनेक कवियों ने उसका उपयोग किया है। प्रभूत संपत्ति अर्जित करने के लिए, सुंदरी स्त्रियों के लिए तथा नायकों के लिए एक उपयुक्त पराक्रम स्थल के लिए कवियों का ध्यान बारबार सिंहल द्वीप की ओर गया है। सिंहल द्वीप की कथा अनेक शतियों तक लोक का प्रिय विषय बनी रही। हर्ष के समय से लेकर सोलहवीं शती तक संस्कृत, प्राकृत एवं अपभ्रंश कवियों ने नाना प्रकार से सिंहल को कथा विषय बनाकर अपनी कृतियों को मंडित किया है। ऐसे लोकप्रिय 'कथाभाव' को जायसी ने भी अपनी कृति पद्मावत में अपनाया। रत्नसेन ऐतिहासिक पात्र रहा हो, सिंहल की अपूर्व सुंदरी पद्मिनी निश्चित ही जायसी को अपने पूर्ववर्ती साहित्य से मिली है। रत्नसेन और अलाउद्दीन से कथा निर्वाह तथा प्रेम परीक्षा के लिए संबंध जोड़ना आवश्यक था। जायसी के पहिले तथा समकालीन और पीछे के समस्त प्रेम कथा लेखकों ने किसी न किसी इसी प्रकार की कथा को अपनाया है। भविष्यदत्त कथा, करकंडुचरित, नरपति कथा, श्रीपालचरित के कथाभावों और जायसी तथा अन्य कथाओं के 'कथा भावों' में इतना अधिक साम्य है कि कहीं कहीं तो शब्दावली भी एकसी ही मिलती है। कुछ उदाहरण देख सकते हैं।

जायसी की कृति के 'जोगी खंड' में योगी का वर्णन मिलता है, उसके शिर पर जटा, अंग में भस्म थी और मेखला, सिंघी, चक्र धंधारी, योगपट्ट, रुद्राक्ष आदि वह धारण किए था।[१] इसी प्रकार पाशुपत तथा कौलाचार्यों के वर्णन लीलावती कथा,[२] कर्पूर मंजरी[३] जसहर चरिउ[४] में मिलते हैं। सभी कृतियों में योगी का वर्णन बहुत मिलता है। नर सेन के श्रीपाल चरित में समस्यापूर्ति का प्रसंग मिलता है। माधवानल कामकंदला[५], ढोलामारूरादूहा[६] में भी इस प्रकार के प्रसंग मिलते

---

१. जायसी ग्रंथावली. जोगी खंड १, अन्य प्रेम कथाओं के 'कथाभाव' प्रायः इसी प्रकार के हैं अतः पद्मावती को प्रधान मानकर विश्लेषण किया गया है। प्रेमादि का विकास सभी में प्रायः एकसा है, सभी साहसपर्ण कथाएं हैं।

२. लीलावती कथा, पद्य २०४-५।

३. कर्पूरमंजरी प्रथम जवनिकान्तर-भैरवानन्द का वर्णन।

४. जसहरचरिउ, कौलाचार्य का वर्णन १.६।

५. माधवानल कामकंदला, प्रबंध। अंग ८ पद्य १४६-१८५।

६. ढोला मारूरा दूहा, दोहा ५६९–५८०।

हैं, जायसी की कृति में श्रीपाल चरित्र की समस्या का एक पद्यांश इस प्रकार मिलता है।[1]

सत्य जहाँ साहस सिधि पावा।

राजा सुआसंवाद, खंड १।

जायसी की कृति में पद्मावती और रत्नसेन की भट वसंत ऋतु में विश्वनाथ के मंदिर में होती है। रत्नशेखर नरपति कथा में राजा को अपनी प्रेमिका का दर्शन कामदेव के मंडप में होता है और संभवतः वसंत ऋतु में ही कामदेव की पूजा होती होगी। इस प्रकार यह कथाभाव भी प्रेम कथाओं का एक अतिपरिचित अंग था। समुद्र में राजा 'वोहित' का नष्ट होना और पद्मावती की लक्ष्मी द्वारा सहायता भी उपर्युक्त अनेक कृतियों में व्यवहृत इस प्रकार के प्रसंगों से मिलती है। जायसी की कृति के समान ही प्रसंग अन्य प्रेमकथाओं में मिलते हैं। इन सभी प्रेमकथाओं के 'कथाभाव' पूर्ववर्ती अपभ्रंश कृतियों के कथाभावों के समान ही हैं। अपभ्रंश कवियों ने संभव है किसी लोक परंपरा से इन कथाओं को लिया होगा और हिन्दी कवियों ने भी लोकपरंपरा तथा पूर्ववर्ती साहित्य से प्रभावित होकर इन कथाओं को अपनाया होगा।

प्रेमकथाओं के अतिरिक्त अन्य काव्यधाराओं पर अपभ्रंश काव्य के कथानकों का प्रभाव नहीं प्रतीत होता। कृष्ण काव्य का जो रूप हिन्दी के भक्तियुग में मिलता है अपभ्रंश के कुछ अंशों को पढ़कर कभी कभी उसका स्मरण हो आता है। गाथा सप्तशती के कुछ पद्यों में राधा, कृष्ण और गोपियों के उल्लेख मिलते हैं।[2] जिस मुक्त और स्वच्छंद ढंग से यह उल्लेख मिलते हैं वह मुक्त वातावरण संस्कृत साहित्य में प्राप्त कृष्ण चरित्र में नहीं मिलता। स्वयंभू ने किसी प्राचीन कवि का एक उद्धरण दिया है जिसमें कृष्ण की राधा के प्रति आसक्ति का चित्रण है।

सव्व गोविउ जइवि जोएइ, हरि सुट्ठवि आअरेण,
देइ दिट्ठि जहिं कहिंवि राही।
को सक्कइ संवरेवि, उड्ढणअण णेंहें पलोट्टउ।

स्वयंभू छंद, ज० यू० बं० ५.३ पृ० ७४।

---

१. देखिए पद्मावती रत्नसेन भेंट खंड ३, ४।

२. यशोदा गोपी का उल्लेख गाथा ७०४४ में, गोपीकृष्ण, राधाकृष्ण के उल्लेखों के लिए गाथा २.१४, २.१२, १.८९, ५.४७, २.२८ इत्यादि।

इसी पद्य को हेमचंद्र ने प्राकृतव्याकरण में इस प्रकार किंचित् परिवर्तित रूप में उद्धृत किया है :

एक्कमेक्कउं जइवि जोएदि हरि सुट्ठु सव्वायरेण
तो वि द्रेहि जहिं कहिं वि राही ।
को सक्कइ संवरेवि दड्ढनयणा नेहिं पलुट्टा ।

प्रा० व्या० ४. ४४२ ।

'यद्यपि हरि सब को भलीभांति आदरपूर्वक देखते हैं तथापि उनकी दृष्टि जहाँ राधा हैं वहाँ रहती है। स्नेह से पूर्ण नेत्रों को कौन रोक सकता है ।'

इसी प्रकार एक दूसरा पद्य भी देखा जा सकता है :

हरि नच्चाविउ पंगणइ विम्हइ पाडिउ लोउ ।
एम्वहिं राह पओहरहं जं भावइ तं होउ ॥

वही, ४.४२० ।

प्रांगण में हरि को नचाया, लोग विस्मय में पड़ गए, राधा के पयोधरों का जो हो सो हो ।'

पुष्पदन्त ने जो कृष्ण की बालक्रीड़ा का वर्णन किया है उसमें भी इस प्रकार की स्वतंत्रता की झलक मिलती है, कुछ कडवकों की पंक्तियाँ उदाहरणस्वरूप देखी जा सकती हैं जिनमें कृष्ण और गोपियों के सरस वर्णन हैं :

धूलीधूसरेण वरमुक्कसरेण तिणा मुरारिणा ।
कीलारसवसेण गोवालयगोवीहियियहारिणा ।
रंगंतेण रमंतरमंतें, मंथउ धरिउ भमंतु अणंतें
मंदीरउ तोडिवि आवट्टिउं, अद्धविरोलिउं दहिउं पलोट्टिउं ।
का वि गोवि गोविंदहु लग्गी, एण महारी मंथणि भग्गी ।
एयहि मोल्लु देहु आलिंगणु णं तो मा मेल्लहु मे प्रगंणु ।

—इत्यादि, महापुराण ८५.६ ।

इसी प्रकार के और भी वर्णन पुष्पदन्त की कृति में मिलते हैं।[1] स्वयंभू, पुष्पदन्त, हेमचंद्र के पद्यों में प्राप्त वर्णनों के आधारों पर यह कहा जा सकता है कि कृष्ण की मर्यादित कथा के अतिरिक्त गोपी गोपालों के प्रिय कृष्ण की कथा का भी एक रूप लोक और अपभ्रंश साहित्य की एक धारा में प्रचलित था और उस धारा का हिन्दी के कृष्ण साहित्य पर बहुत प्रभाव पड़ा होगा। जो मुक्त वातावरण

१. **महापुराणु, संधि ८५, कडवक १०, संधि ८६, कड० १०–११ इत्यादि ।**

सूरदास की कविता में मिलता है उसकी एक झलक स्वयंभू, पुष्पदन्त और हेमचंद्र के पद्यों में मिलती है।

हिन्दी काव्य की एक धारा और मिलती है जिस पर जैन अपभ्रंश कथानकों का पर्याप्त प्रभाव पड़ा है। वह धारा है हिन्दी जैन कविता धारा। अपेक्षाकृत उसमें काव्य की सरसता कम है कदाचित् इसी लिए उसका अध्ययन कम हुआ है। किन्तु अनेक हिन्दी जैन कृतियाँ अपने ढंग की अनुपम कृतियाँ हैं। पीछे काव्यरूपों के अध्याय में कुछ जैन रास रचनाओं की चर्चा की गई है। यहाँ कुछ ऐसी हिन्दी कृतियों का उल्लेख किया जा सकता है जिनमें थोड़ी मौलिकता के साथ प्राकृत अपभ्रंश में ग्रहीत कथाओं को ही हिन्दी का रूप दिया गया है। इन कृतियों में से ब्रह्म रायमल्ल की संवत् १६३३ वि० में रचित भविष्यदत्त कथा[1] सुंदर कथा कृति है जिसमें प्रसिद्ध भविष्यदत्त कथा के समान ही कथा है। दोहा चौपाइयों में रचित आदित्य-वार कथा, छीतर ठौलिया द्वारा सं० १६०७ वि० में रचित हौलिका चौपाई, दोहा चौपाई वस्तु इत्यादि छंदों में रचित लालचंद का हरिवंशपुराण (सं० १६९५,) सं० १६४२ में रचित पाँडे जिनदास की कृति जंबूस्वामी कथा, हरिदास सोनी की धर्म-परीक्षा (सं० १७००), नरेन्द्रकीर्ति का नेमीश्वर चंद्रायण, लिपि (सं० १६९०), तथा ब्रह्म जिनदास का यशोधररास, नेमिजिनेश्वर रास (सं० १६१५) तथा अनेक रास-कृतियों[2] का उल्लेख किया जा सकता है। इन कृतियों के विषयों से संबंधित कृतियाँ जैन प्राकृत और अपभ्रंश साहित्य में मिलती हैं। इन पर अपभ्रंश साहित्य का प्रभाव बहुत ही स्पष्ट है। धर्मपरीक्षा जैसी कृतियाँ अपने ढंग की अनुपम कृतियाँ हैं। हिन्दी साहित्य के इस अंग पर अपभ्रंश का प्रभाव निर्विवाद है।

पीछे के विवेचन को निष्कर्ष रूप में इस प्रकार रखा जा सकता है। हिन्दी काव्य की प्रेमाख्यानक धारा के कथानक बहुत ही लोक प्रचलित कथानक हैं और

१. कृति की हस्तलिखित प्रति की प्राप्ति के लिए लेखक आमेर शास्त्र भंडार के अधिकारियों का कृतज्ञ है। रचना तिथि कवि ने इस प्रकार दी है
सोलहसै तेतीसो सार, कातिकसुदि चोदसि सनिवार।
स्वाति नक्षत्र सिद्धि सुभ जोग, पीडा दुष न व्यापै रोग।

२. लेखक ने इन सभी कृतियों की हस्तलिखित प्रतियों का अध्ययन आमेर शास्त्र भंडार जयपुर में किया था। अन्य जैन कृतियों के उल्लेख कामता प्रसाद जैन लिखित हिंदी जैन साहित्य का इतिहास, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी में देखे जा सकते हैं।

प्राकृत अपभ्रंश काव्य में उनके प्रयोग बहुत पहिले से होने लगे थे। हिन्दी कवियों की वह मौलिक खोज या कल्पना नहीं है। प्रायः एक ही प्रकार के कथा भाव सब प्रेमकथाओं में मिलते हैं। हिन्दी कवियों के कथा कहने के ढंग पर भी अपभ्रंश काव्यों का प्रभाव जहाँ तहाँ लक्षित होता है। कथाओं में जिस प्रकार की परिस्थितियों की नियोजना हिन्दी प्रेमकथाओं में मिलती है उसका बहुत पहिले से अपभ्रंश कवियों ने प्रयोग प्रारंभ कर दिया था। हिन्दी कृष्ण साहित्य के स्वच्छन्द वातावरण के लिए भी कवियों को प्रेरणा किसी अपभ्रंश की धारा से मिली होगी जिसके स्पष्ट संकेत उपलब्ध अपभ्रंश साहित्य में मिलते हैं। हिन्दी राम कथा से संबंधित कथानक पर प्राकृत अपभ्रंश साहित्य का कदाचित् कोई प्रभाव नहीं पड़ा। उनके मर्यादित कथारूप में अपभ्रंश के कवि कदाचित् कोई परिवर्तन न कर सके। हिन्दी जैन काव्य जैन प्राकृत अपभ्रंश काव्य का एक प्रकार से प्रतिरूप ही है, केवल भाषा का अन्तर है, कथानक परिवर्तित रूप में जैसे के तैसे ही हैं। संक्षेप में कथानकों की दृष्टि से अपभ्रंश का ऐहिकतामूलक साहित्य पर अधिक प्रभाव पड़ा है। धार्मिकता प्रधान हिन्दी ब्राह्मण साहित्य की दृष्टि संस्कृत साहित्य की ओर रही है किन्तु कृष्णकथा के संबंध में यह पूर्णरूप से सत्य नहीं है। पौराणिक वातावरण के साथ उसमें जो स्वतंत्र वातावरण भी मिलता है वह लोक में प्रचलित या साहित्य में प्रयुक्त उसमें किसी स्रोत से आया है और उस पर अपभ्रंश का प्रभाव लक्षित होता है। उच्छ्वसित प्रेम प्रसंग की परंपरा का विकास गाथा सप्तशती में संग्रहीत परम्परा से हुआ होगा ऐसा लगता है। और अधिक साहित्य मिलने पर इस धारा की स्पष्ट व्याख्या की जा सकेगी।

———————

४

उपसंहार

अपभ्रंश और हिन्दी साहित्य में पीछे विवेचित समानताओं के अतिरिक्त भावधारा की भी कुछ समानताएँ मिलती हैं। जैन, बौद्ध, शैव साधकों और मर्मियों की जो रचनाएँ अपभ्रंश में मिलती हैं परिमाण में यद्यपि वे बहुत कम हैं तथापि ७वीं शती विक्रम से लेकर १२वीं शती तक की चिन्ताधारा, साधना के मार्ग पर, प्रकाश डालने के लिए वे पर्याप्त हैं। जैन साधक योगीन्द्र, मुनि रामसिंह, आनंद महाचंद, सुप्रभाचार्य इत्यादि तथा बौद्ध सिद्ध सरहपा, कान्हूपा आदि एवं शैवसाधक और मर्मी लल्लेश्वरी सभी की साधना और उपदेशों का स्वर एकसा है और परवर्ती नाथ पंथी और संतों की वाणियों में वही स्वर और भी प्रखर होकर सामने आया है।

यह सभी साधक वाह्याचारों के विरोधी थे, जप, तप, पूजा, अर्थना, तीर्थ, भ्रमण, वर्ण व्यवस्था, अवतारवाद, शास्त्रज्ञान सभी प्रतिष्ठित परंपराओं का ये साधक खंडन करते थे। अक्खड़, निरीह और अपने विश्वासों में दृढ़ इस धारा के सभी साधक चरित्रबल को बहुत महत्व देते थे। पंडितों ने अनुमान लगाया है कि वैदिक काल से भी प्राचीन इस देश में विचारक, मर्मी और वेदविहित मार्ग में अनास्था रखने वाले श्रमणों की एक विचारधारा चली आ रही थी जो सब बन्धनों में अविश्वास रखती थी और संसार के प्रति अनासक्ति का भाव रखती थी।[1] वैराग्य भावना प्रधान इसी भावधारा के पोषक यह सभी अब्राह्मण साधक थे। बौद्ध सिद्ध, जैन मर्मी तथा शैव गूढ़वादियों की ईश्वर विषयक कल्पना में थोड़ा सा अन्तर हो सकता है, जैसे जैन साधक जैन दर्शन के अनुसार प्रत्येक आत्मा को परमात्मा मानते हैं, कर्मबन्धन के कारण ही आत्मा आत्मा है। तपस्या और साधना

---

१. दे० विंटरनित्स; सम प्रावलम्ज़ अव् इंडियन लिटरेचर, कलकत्ता, एसेटिक लिटरेचर इन इंडिया... ।

के मार्ग पर चलता हुआ प्रत्येक आत्मा परमात्मा हो सकता है, आत्मा जब परमात्मा पद को प्राप्त कर लेता है फिर वह आवागमन के चक्कर से मुक्त हो जाता है। इस मोक्ष की प्राप्ति के लिए जैन साधक सम्यग्यान, सम्यग्दर्शन, और सम्यक् चरित्र को साधन मानते हैं। इस 'रत्नत्रय' से युक्त आत्मा ही मोक्ष को प्राप्त होता है। इस प्रकार के सूक्ष्म अंतर के अतिरिक्त इन सभी साधकों के मूल उपदेशों का स्वर एक समान है। सभी साधकों ने उस परमसमाधि का एक समान उल्लेख किया है जिसमें लीन होकर आत्मा परमात्मा से मिल जाता है, उस परम समाधि अवस्था को पहुँचने पर मन के समस्त संकल्प विकल्प नष्ट हो जाते हैं, उस परम समाधि के बिना घोर तप, गहनशास्त्रज्ञान किसी भी अन्य साधन द्वारा शिव शान्त पद की प्राप्ति नहीं हो सकती।

परम समाहि महा सूहिं जे मुड्डहिं पइसेवि।
अप्पा थक्कइ विमलु तहं भव मल जंति बहेवि॥

परं० २.१८९।

'परम समाधि महा सरोवर में प्रवेश कर जो डुबकी लगाते हैं उनका भवमल नष्ट हो जाता है और आत्मा निर्मल हो जाता है।'

इस दुर्लभ पद को पाने में संसार के साधन सहायक नहीं बन सकते।

घोरु करंतु वि तप चरणु सयल वि सत्य मुणंतु
परम समाहि विवज्जियउ णवि देक्खइ सिउसंतु॥

वही, २.१९१।

'घोर तप करता हुआ, समस्त शास्त्रों को जानने वाला भी परमसमाधि से रहित शिव और शांत को नहीं देख सकता।'

सभी साधक इस साधना के लिए गुरु को आवश्यकता मानते हैं। उचित मार्ग प्रदर्शन गुरु ही कर सकता है। जैसा ऊपर संकेत किया जा चुका है वाह्य सभी आचारों तीर्थादि सब को इन साधकों ने पाखंड कहा है। किन्तु इन साधकों ने तत्कालीन उन योगियों पर मृदु कटाक्ष भी किए हैं जो शरीर में सिद्धियों को खोजते थे। शरीर से आत्मा भिन्न है, अतः ऐसे योगियों को उन साधकों ने सावधान किया है। सहजानंद, परमसमाधि को इन साधकों ने सर्वोपरि माना है उस अवस्था में मन और परमेश्वर मिल जाते हैं, दोनों एक हो जाते हैं। हिन्दी साहित्य में उपलब्ध गोरखवाणी में संग्रहीत रचनाओं तथा कबीर आदि संतों की वाणियों में यह भावधारा किंचित् मौलिकता के साथ मिलती है। आत्मा और परमात्मा के इसी प्रकार

के परिचय मिलन का गोरखवाणी में अनेक स्थलों पर वर्णन है। एक स्थल पर कहा है :

"रैमन हीरे हीरा बेधिला, तो काया केणें जाई
गगन सिखर चंदा रहियो समाई."

गो० बा० पृ० १४९.

'अरे मन। हीरे ने हीरे को वेध लिया अर्थात् जब आत्मा का परमात्मा से परिचय हो गया, आत्मा ब्रह्म में मिल गया तब काया में कौन जाय। ब्रह्म रंध्र में रहने वाले चंद्रमा में आत्मा को लीन करो।' इसी तरह कबीर इस ब्रह्मानंद को इस प्रकार व्यक्त करते हैं :

मरन जीवन की संका नाशी, आपन रंगि सहज परगासी
प्रगटि जोति मिटिया अंधियारी, राम रतनु पाइआ करत विचारी
जह आनंदु दुख दूरि पंइअना, मनु मानकु लिव ततुलुकाना।

संत कबीर पृ० २४२

और खंडन मंडन तो इन संतों में एक ही प्रकार के शब्दों में मिलता है। योगीन्द्र कहते हैं :

देउ ण देउले णवि सिलए, न वि लिप्पइ णवि चित्ति।
अखउ णिरंजण णाणमउ, सिउ संठिउ समचित्ति।

'देव न देवालय में है, न शिला में, न लेप में है न चित्र में, अक्षय, निरंजन ज्ञानमय शिव समचित्त में स्थित है।'

इसी प्रकार शास्त्रादि के ज्ञान को उन्होंने निस्सार कहा है, जैन संप्रदाय की कुछ बातों की भी उन्होंने आलोचना की है :

धम्मुण पढियइं होइ धम्मुण पोत्था पिच्छियइं
धम्मु ण मढ़िय पएसि धम्मु ण मत्था लुंचियइं।

योगसार ४७।

'पढ़ने से, पोथी और पिच्छी से धर्म नहीं होता। मठ में रहने से भी धर्म नहीं होता और न केशलोचन करने धर्म से होता है।'

गोरखवाणी और कबीर की वाणियों में खंडन का यह स्वर कुछ तीव्र रूप में मिलता है।

सिद्धान्त और उनके प्रकट करने का ढंग इन सभी साधकों की रचनाओं में एक ही प्रकार का मिलता है। कबीर तथा गोरख की जो 'उलट वाणियाँ' मिलती हैं उनसे सिद्धों की उक्तियों की भली प्रकार समता की जा सकती है। बैलगाय

के रूपक,[१] चराने का रूपक[२] जुलाहा, चंद्र सूर्य का रूपक[३], वन के पशुओं का रूपक[४] इत्यादि रूपक सिद्धों के द्वारा प्रयुक्त रूपकों के समान ही है।[५] हिन्दी साहित्य की संत धारा पर भाव और शैली दोनों दृष्टियों से अपभ्रंश के संत साहित्य का प्रभाव स्पष्ट लक्षित होता है। दोनों में समानताएँ बहुत हैं।

दूसरी स्फुट उपदेश धारा इन संतों की वाणियों में मिलती है। अपभ्रंश की सावयधम्मदोहादि कृतियों में जो गृहस्थों के लिए उपदेश मिलते हैं उसके समान धारा हिन्दी में कबीर की साखियों, तुलसी सतसई, रहीम दोहावली तथा अनेक संतों की वाणियों में प्राप्त होती है।

बिहारी सतसई जैसे पद्य संग्रहों में श्रृंगारात्मक पद्यों तथा सुभाषितों की जो स्फुट धारा मिलती हैं उसका पूर्ववर्ती रूप गाथा सप्तशती, वज्जालग्ग, हेमचंद्रादि के पद्यों में मिलता है।

प्राकृत और अपभ्रंश साहित्य में शास्त्र सम्मत काव्य परंपराओं से कुछ भिन्न मुक्त वातावरण मिलता है, वर्ण्य विषय का निर्वाह, छंद, अप्रस्तुत तथा लोकजीवन के प्रति झुकाव उसमें मिलता है, हिन्दी कविता में यह सब विशेषताएँ ज्यों की त्यों चलती रहीं। जैसा पीछे के अध्ययन से स्पष्ट होगा। काव्यरूपों में संस्कृत के अलंकृत महाकाव्यों के स्थान पर वीर, चरित काव्य, प्रेमाख्यानक काव्य और प्रबन्धात्मक चरित काव्य हिन्दी में मिलते हैं। विषय निर्वाह, छंद शैली सभी में अपभ्रंश साहित्य की छाप मिलती है, इन सब उपकरणों के लिए मध्ययुगीन हिन्दी कवियों ने गरिमा शाली अत्यन्त श्रेष्ठ संस्कृत साहित्य के काव्यरूपों का अनुकरण नहीं किया, जिन कुछ कवियों ने किया उनकी कृतियों का केवल इतिहास में ही नामशेष रह गया।

छंदों के संबंध में पीछे संकेत किया गया है कि संत और भक्त कवियों में अत्यन्त प्रचलित और बहुत ही कम छंदों के प्रयोग हुए हैं, और उन्हीं छंदों को विशेष रूप से अपनाया गया है जिनका अपभ्रंश साहित्य में बहुत ही अधिक प्रयोग होता था जैसे, दोहा, चौपाई आदि। कुछ चमत्कारवादी कवियों ने कम प्रचलित या

---

१. बीजक शब्द ९५।
२. वही, शब्द ९८।
३. वही, शब्द २१३।
४. वही, शब्द ५५।
५. दे० स्टडीज इन तंत्र भाग १
डा० प्रबोध चंद्र बागची कलकत्ता।

अप्रचलित अनेक छंदों के प्रयोग किए किन्तु उनके प्रयोग उन छंदों को लोकप्रिय न बना सके ।

कथानकों के संबंध में भी यही बात दिखती है । संतों और भक्तों के सम्मुख एक निर्दिष्ट मार्ग था, सुप्रतिष्ठित 'इष्टदेव', साधना मार्ग और स्वसंप्रदाय की परंपरा प्रसिद्ध कथा या सिद्धान्त थे । वे उनकी अवहेलना नहीं कर सकते थे अतः तुलसीदास जैसे कवियों का रचनाओं में प्रयुक्त कथावस्तु के संबंध में अपभ्रंश कृतियों में प्रयुक्त कथानकों के प्रभाव का प्रश्न ही नहीं उठता । यही कृष्ण काव्य के संबंध में भी कहा जा सकता है । जिन कवियों के सामने इस प्रकार के प्रतिबन्ध नहीं थे जैसे, प्रेमकथा लेखक, उन्होंने पूर्ववर्ती साहित्य से प्रभावित होकर प्राकृत अपभ्रंश कथा काव्यों के समान ही लोक प्रसिद्ध कथानकों को अपनाया । भावधारा के संबंध में पीछे उल्लेख किया गया है कि संत मत में प्रतिपादित भावधारा का वैसा ही रूप अपभ्रंश साहित्य की रहस्यवादी धारा में मिलता है ।

हिन्दी साहित्य ने जितना सीधा संपर्क अपभ्रंश साहित्य से रखा है उतना कदाचित् किसी अन्य प्रान्तीय भाषा ने नहीं रखा । अपभ्रंश के समस्त वाह्य वैभव तथा आंशिक भावधारा का जो चित्र जैन,बौद्ध, ब्राह्मण आदि नाना संप्रदाय, नाना प्रान्तों में रचित अपभ्रंश रचनाओं में मिलता है उसे अपभ्रंश की प्रधान उत्तराधिकारिणी हिन्दी ने अपने अनेक रूपों––क्या ब्रज, क्या अवधी, क्या राजस्थानी, क्या मैथिली में अपनाया । हिन्दी के उस युग के कवियों में लोकरुचि और सही मार्ग को समझने की कितनी सूझ और बुद्धि थी यह उनके अपभ्रंश काव्यधाराओं को उसी रूप में अपनाने से स्पष्ट होता है । इन कवियों में सच्चे मार्ग प्रदर्शक की प्रतिभा थी और युगप्रधान कर्मठ नायक के समान साहस था । अपभ्रंश साहित्य का जो भी अंश उपलब्ध हुआ है वह इतना सिद्ध करने के लिए पर्याप्त है कि हिन्दी साहित्य के प्रारंभयुग में प्राप्त काव्यधाराओं का प्रारंभ १३वीं या चौदहवीं शती से नहीं हुआ किन्तु उस समय हुआ था जब चतुर्मुख, द्रोण, स्वयंभू, सरहपा, कान्हूपा,योगीन्द्र आदि कवियों ने अपनी रचनाओं को लिखना प्रारंभ किया था। इस प्रकार हिन्दी काव्य की नींव और भी गहरी और दृढ़ है ।

प्राकृत अपभ्रंश साहित्य के रूप में भारतीय संस्कृति और साहित्य को समझने के लिए एक अत्यन्त समृद्ध, मनोरम भंडार प्राप्त होता है और वह अंधकारयुगीन भारत के विभिन्न धार्मिक, भक्ति विषयक सामाजिक, साहित्यिक आंदोलनों को समझने के लिए एक मूल्यवान ज्योति है । जैसे जैसे इस साहित्य का अध्ययन आगे बढ़ेगा अनेक समस्याओं पर नया प्रकाश पड़ेगा और अनेक धाराओं का सच्चा

रूप ज्ञात हो सकेगा। विक्रम की सातवीं शती से लेकर १५ शती तक की धर्म साधना, साहित्यिक साधना का सच्चा रूप इस विशाल साहित्य के अवगाहन के बिना अधूरा ही रहेगा।

———

सहायक ग्रंथ सूची

ग्रंथों के विस्तृत विवरण पाद-टिप्पणियों में यथास्थान दे दिये गये हैं। यहाँ केवल सूची दी जा रही है।

(१) प्राकृत ग्रंथ

अर्द्धमागधी रीडर, बनारसीदास जैन, लाहौर, १९२३ ई०।

इन्ट्रोडक्शन टु प्राकृत, ए० सी० वूलनर, लाहौर, १९४२ ई०।

उपदेश सप्ततिका, भावनगर, १९१७ ई०।

उषानिरुद्धम्, ए० एन० उपाध्ये, ज० यू० बम्बई, १९४१-४२ ई०।

कथाकोश प्रकरण, संपा० मुनिजिन विजय, बम्बई, १९४९ ई०।

कर्पूरमंजरी, संपा० मनमोहन घोष, कलकत्ता, १९४८ ई०।

कालकाचार्य कथानक, संपा० एच० एच० याकोबी, जेड० डी० एम० डी० १८८०।

कालकाचार्य कथानक, संपा० डब्ल्यू०, नार्मन ब्राउन, वाशिंगटन, १९३३।

कुमारपाल प्रतिबोधः (अपभ्रंश अंश) हैम्बर्ग, १९२८।

कुमारपाल प्रतिबोध, बड़ौदा, १९२०।

कुमारपाल चरित, संपा० पी० एल० वैद्य, बम्बई, १९३२।

कूर्मापुत्र कथा, अहमदाबाद, १९३२।

केटेलाग अव् संस्कृत एण्ड प्राकृत, मैन्युस्क्रिप्ट्स इन सी० पी० एंड बेरार, नागपुर, १९२६ ई०।

केटेलाग पत्तन भंडार, बड़ौदा, १९३७ ई०।

कंसवहो, संपा० ए० एन० उपाध्ये, बम्बई, १९४० ई०।

गाथासप्तशती, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, १९३३ ई०।

गौडवहो, संपा० शे० पा० पंडित, बम्बई, १८८७ ई०।

चन्द्रलेखा सट्टकम्, भारतीय विद्याभवन, १९४५ ई०।

जिनरत्न कोश, एच० डी० वेलंकर, पूना, १९३४ ई०।

दि कल्पसूत्र एंड नवरत्न, ज० स्टिवंसन, लंदन, १९४८ ई० ।
देशी नाममाला, संपा० रिचर्ड पिशेल, दि० संस्करण, बम्बई, १९३८ ई० ।
धर्मोपदेश माला विवरण, भारतीय विद्याभवन, बम्बई १९४९ ई० ।
धूर्ताख्यान, भारतीय विद्याभवन, १९४५ ई० ।
पउमचरिय, संपा० हे० याकोबी, भावनगर, १९१४ ई० ।
पंचास्तिकाय, संपा० ए० चक्रवर्ती, आरा १९२० ई० ।
प्राकृत कल्पतरु, राम शर्म तर्कवागीश्श इं० एं० जिल्द ५१ ।
प्राकृत प्रकाश : रामपाणिवाद की वृत्ति सहित : संपा० कुंजनराजा, मद्रास, १९४६ ई० ।
प्राकृत प्रकाश, संपा० पी० एल० वैद्य, पूना, १९३१ ई० ।
प्राकृतानुशासन, पुरुषोत्तमदेव, पेरिस, १९३८ ई० ।
प्राकृत रूपावतार, रा० ए० सो०, १९०९ ई० ।
प्राकृत व्याकरण : हेमचंद्र : संपा० पी० एल० वैद्य, पूना, १९५८ ई० ।
प्राकृत लक्षण, चंड, संपा० हार्नले, कलकत्ता १८८० ई० ।
मदन मुकुट, गोसल बिप्र, भारतीय विद्या, १९४२ ई० ।
महार्थ मंजरी, सं० त० ग० शास्त्री, त्रिवेन्द्रम्, १९१९ ई० ।
महावीर चरित, बंबई, १९८५ ।
मूलाचार, मनोहरलाल शास्त्री, बम्बई, १९१९ ई० ।
यूबेर दास सतशतकम्, देजहाल, संपा० अलब्रेख्ट वेवर, लाइपज़िग, १८८१ ।
राजशेखर नरपति कथा, भावनगर, १९१७ ई० ।
सरावणवहो ओडेर सेतुबंध, संपा० सीगफ्रीड गोल्डस्मिट, स्ट्रासबुर्ग, १८८० ।
रिष्ट समुच्चय, संपा० ए० एस० गोपाणी, बंबई, १९४५ ई० ।
रम्भा मंजरी, बंबई, १८७९ ई० ।
लीलावई संपा० ए० एन० उपाध्ये, बंबई, १९४५ ।
वज्जालग्ग, जुलियस लाबर, बिब्लियोथिका सिरीज़, कलकत्ता, १९१४ से १९२३ ।
वसुदेव हिंडि : दो भाग :, आत्मानन्द जैन सभा, भावनगर सं० १९३० से ३१ ।
विजयचन्द्र चरित, भावनगर, १९०६ ।
श्री चिह्न काव्यम्, संपा० ए० एन० उपाध्ये, भारतीय विद्याभवन, १९४१ ई० ।
श्रीपाल कथा, भावनगर, १९२३ ।

शौरि चरित्र, संपा० ए० एन० उपाध्ये, ज० यू० बंबई, भाग १० ।
समय प्राभृत, काशी, १९१४ ।
समराइच्च कहा, संपा० हे० याकोबी, कलकत्ता, १९२४ ।
समराइच्च कहा, : भाग १ व २ : गुजरात वर्नाक्युलर सोसाइटी, अहमदाबाद, १९३५ ई० ।
सुदर्शन चरित, अहमदाबाद, १९३२ ।
सुपार्श्वनाथ चरित्र, बनारस, १९१८ ।
सुरसुंदरी चरित्र, संपा० मुनिराज श्री राजविजय, बनारस १९१३ ई० ।
सेतुबंध, काव्यमाला, निर्णयसागर, बंबई, १८९५ ।
ज्ञानपंचमी कथा, अ० स० गोपाणी, बंबई, १९४९ ।

(२) अपभ्रंश--प्रकाशित ग्रंथ

अपभ्रंश काव्यत्रयी, बड़ौदा, १९२६ ई० ।
अपभ्रंश पाठावली, अहमदाबाद, १९३५ ई० ।
करकंडु चरित्र, संपा० हीरालाल जैन, कारंजा, १९३४ ई० ।
कीर्तिलता, डा० बाबूराम सक्सेना द्वारा संपादित, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, १९८६ तथा २०१० ई० ।
कीर्तिलता, म० म० हरप्रसाद शास्त्री द्वारा संपादित, बंगीय साहित्य परिषद्, कलकत्ता १३३१ बंगीय ।
दोहाकोष संपा० प्रबोधचन्द्र बागची कलकत्ता, १९३८ ई० ।
दोहापाहुड, संपा० हीरालाल जैन, कारंजा, १९३३ ई० ।
नागकुमार चरित, संपा० हीरालाल जैन, कारंजा, १९३३ ई० ।
पउमसिरी चरिउ, संपा० मोदी और भायाणी, बम्बई, १९४८ ई० ।
पउम चरिउ, स्वयंभू, संपा० ह० भायाणी, बंबई, तीन भाग, १९६१ ई० ।
परमात्मप्रकाश और योगसार, संपा० ए० एन० उपाध्ये, बंबई, १९३७ ।
भविष्यदत्त कथा, याकोबी संस्करण, १९१८ ।
भविष्यदत्त कथा, बड़ौदा संस्करण, १९२३ ई० ।
भावना संधि प्रकरण, ए० भं० ओ० रि० इं० पूना, जिल्द १२ ।
महापुराण, पुष्पदन्त, संपा० पी० एल० वैद्य, बम्बई : तीन खंडों में प्रकाशित १९३७–४१ ई० ।
यशोधर चरित, संपा० पी० एल० वैद्य, कारंजा, १९३१ ई० ।

वैराग्य सागर, संपा० एच० डी० वेलंकर, ए० भं०, रि० इं० १९२८ ई० ।
संदेश रासक, संपा० मुनि जिनविजय तथा ह० भायाणी, बंबई, १९४५ ।
सनत्कुमार चरित्, संपा० हे० याकोबी, म्यूनशेन, १९२१ ।
संयम मंजरी, महेश्वर सूरि, ए० भं० ओ० इं० जिल्द १ ।
साक्यधम्म दोहा, संपा० हीरालाल जैन, कारंजा, १९३२ ई० ।

अपभ्रंश : हस्तलिखित ग्रन्थ

अगरसेन चरित, माणिक्कराज, जयपुर ।
अणुव्रत रत्न प्रदीप, लक्खण, डा० बाबूराम सक्सेना से प्राप्त ।
आत्मसंबोधिकाव्य, रयधू, जयपुर ।
आनंदा स्तोत्र, जयपुर ।
चंद्रप्रभ चरित, यशकीर्ति, आरा ।
जम्बूस्वामी चरित, वीर, जयपुर ।
जिनदत्त चरित, लाखू, जयपुर ।
णिर्झर पंचमी बिहाण कथानक, विनय चंदमुनि, जयपुर ।
दोहा पाहुड, महचंद कृत, जयपुर ।
द्वादशानुप्रेक्षा, जोगेन्द्रदेव लक्ष्मी चंद्र कृत, जयपुर ।
धन्यकुमार चरित, रयधू, जयपुर ।
धर्मपरीक्षा, हरिषेण, लाहौर ।
नागकुमार चरित, माणिक्कराज, जयपुर ।
पउम चरिउ, स्वयंभू, जयपुर ।
पद्मपुराण, रयधू, जयपुर ।
पार्श्व चरित, पद्मकीर्ति, जयपुर ।
प्रद्युम्न कथा, सिद्ध, जयपुर ।
बलभद्र पुराण, रयधू, दिल्ली ।
बर्धमान कथा, नरसेन, जयपुर ।
बर्धमान चरित, जयमित्रहल, जयपुर ।
बाहुबलि चरित, धनपाल, जयपुर ।
मदन पराजय, हरिदेव, जयपुर ।
मेघेश्वर चरित, रयधू, जयपुर ।
रत्नकरंडशास्त्र, श्रीचंद्र, जयपुर ।

श्रीपाल चरित, नरसेन, जयपुर ।
श्रीपाल चरित, रयधू, दिल्ली ।
षट्कर्मोपदेश, अमर कीर्ति, जयपुर ।
सुदर्शन चरित, नयनंदि, जयपुर ।
सन्मतिजिन चरित, दिल्ली ।
सुकुमाल चरित, पूर्णभद्र, जयपुर ।
सुकुमार चरित, श्रीधर, जयपुर ।
सुकोशल चरित, रयधू, दिल्ली ।
सुप्रभाचार्य दोहा, जयपुर ।
हरिषेण चरित, अज्ञात, जयपुर ।
हरिवंश पुराण, यशकीर्ति, आरा ।
हरिवंश पुराण, यशकीर्ति, जयपुर ।
रिट्ठणेमि चरिउ, स्वयंभू, जयपुर ।

(३) हिंदी ग्रंथ : प्रकाशित

अर्द्धकथा बनारसीदास, हिन्दी परिषद्, प्रयाग विश्वविद्यालय, १९४२ ई० ।
अर्द्ध कथानक, हिन्दी ग्रंथ रत्नाकर कार्यालय, बंबई १९४३, संशोधित; १९५७
अष्टछाप और वल्लभ संप्रदाय, डा० दीनदयालु गुप्त, प्रयाग, २००४ वि० ।
करहिया को रायसो, ना० प्र० प० भाग १०, पृ० २७८१ ।
गोरखबानी, सा० स० प्रयाग, १९४२, डा० पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल द्वारा संपा० ।
छंदप्रभाकर, भानु, विलासपुर, १९२२ ।
छंदराउजइतसीराउए, बिब्लियोथेका इंडिका, कलकत्ता, १९२० ।
छत्र प्रकाश, ना० प्र० सभा काशी, १९१६ ।
जंगनामा, ना० प्र० सभा काशी, २००४ वि० ।
जैन साहित्य और इतिहास, नाथूराम प्रेमी, बम्बई, १९४२ ।
जैन हिंदी साहित्य का संक्षिप्त इतिहास, कामता प्रसाद जैन, काशी १९४७ ।
ढोला मारू रा दूहा, ना० प्र० सभा, काशी, १९९१ वि० ।
नंददास ग्रंथावली, इलाहाबाद यूनिवर्सिटी इलाहाबाद, १९४२ ।
नाथ-संप्रदाय, हजारी प्रसाद द्विवेदी, प्रयाग, १९५० ।
पृथ्वीराज रासो, ना० प्र० सभा, काशी, १९०४–१३ ।

हिन्दी काव्यधारा, राहुल सांकृत्यायन, इलाहाबाद, १९४५।
प्रेमी अभिनंदन ग्रंथ, टीकमगढ़, १९४८।
बीजक, विचारदास् शास्त्री, प्रयाग, १९२८।
भगवंत रायसौ, ना० प्र० प० भाग ५, पृ० ११४-३१।
माधवानलकामकंदला, बड़ौदा, १९४२।
मीराँबाई की पदावली, संपा० परशुराम चतुर्वेदी, सम्मेलन, प्रयाग, १९९८ वि०।
रघुनाथ रूपक गीतांरो, महताव चन्द्र खरेड़, ना० प्र० सभा, काशी, १९१७।
राजविलास, ना० प्र० सभा काशी, १९१२।
राजस्थानी साहित्य की रूपरेखा, मेनारिया, प्रयाग, १९३९।
रामचरितमानस, गीताप्रेस गोरखपुर, २००६।
रामचन्द्रिका : केशवकौमुदी : इलाहाबाद, १९३१।
वचनिक रतन सिंघ री, बिब्लियोथेका इंडिका, कलकत्ता, १९१९।
विद्यापति पदावली, खगेन्द्रनाथ मित्र, कलकत्ता १९४५।
विनयपत्रिका, गीता प्रेस गोरखपुर।
वीरसिंह देव चरित, ओरछा, २००४ वि०।
वीसलदेव रासो, ना० प्र० सभा, काशी सं० १९८२।
शिवराजभूषण, संपा० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, काशी।
संगीत रत्नाकर वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई।
संत कबीर, डा० रामकुमार वर्मा, प्रयाग, १९४७।
सतसैया अव् बिहारी, संपा० सर जार्ज ग्रियर्सन, कलकत्ता।
सत्यवती कथा, हिन्दुस्तानी भाग ७, १९३७।
समराशाहका रास, प्राचीन गुर्जर-काव्य संग्रह, बड़ौदा।
सुजान चरित, ना० प्र० सभा, काशी, १८८०।
सुंदर ग्रंथावली, कलकत्ता, १९९३ वि०।
सूरदास, ब्रजेश्वर वर्मा, प्रयाग, १९४८।
सूरसागर, वेंकटेश्वर प्रेस संस्करण।
सूरसागर, भाग १, ना० प्र० सभा संस्करण।
हमीर रासो, ना० प्र० सभा, काशी, १९०८।
हमीर हठ्, ना० प्र० सभा, काशी, १९०७।
हिंदी साहित्य का इतिहास, रामचन्द्र शुक्ल, काशी।
हिन्दी साहित्य की भूमिका, हजारीप्रसाद द्विवेदी, बंबई।

हिम्मत बहादुर विरदावली, काशी, १९५२ ।

हिन्दी ग्रंथ : हस्तलिखित

आदिपुराण रास ।
आदित्यवार कथा ।
चन्दन मलयागिरि, भद्रसेन ।
जम्बुस्वामी कथा, जिनदास ।
धर्मपरीक्षा, जिनदास सोनी ।
धर्मरासो ।
नेमिजिनेश्वर रास ।
नेमीश्वर चंद्रायण, नरेन्द्र कीर्ति ।
परदवन रास ।
पुहुपावती, दुखहरनदास ।
भविष्यदत्त कथा, ब्रह्मरायमल्ल ।
मधुमालती , चतुर्भजदास कृत ।
यशोधर रास, ब्रह्मजिनदास ।
रत्नपाल रास ।
सक्यक्त्व रास ।
हरिवंश पुराण ।
श्रावकाचार रास ।
सदयवत्स चरित ।
सुदैवच्छसावलिंगा चौपाई, पदमतिलक ।
होलिका चौपाई, छीतर ठौलिया ।

(४) संस्कृत ग्रंथ

अशोक की धर्मलिपियाँ, ना० प्र० स० काशी, १९८० ।
अद्वय वज्र संग्रह, बड़ौदा, १९२७ ई० ।
औचित्य विचार चर्चा, काव्यमाला, प्रथम गुच्छ, निर्णयसागर, बंबई, १९२९ ।
कथासकोश, संपा० ए० एन० उपाध्ये, बम्बई, १९९९ वि० ।
कथारित्सागर, सोमदेव निणयसागर, वम्बई, १९०३ ई० ।
कामसूत्र, चौखंभा संस्करण काशी, १९२३ ई० ।
काव्य मीमांसा, बड़ौदा, १९३४ ई० ।

काव्यादर्श, दंडी, पूना, १९३८ ई० ।
काव्यालंकार, रुद्रट, निर्णयसागर, बम्बई, १९२८ ई० ।
काव्यालंकार सूत्र वृत्ति, वामन, वाणी विलास सिरीज़, श्रीरंगम १९०९ ।
कुवलयमाला कथा, रत्न प्रभ सूरि विरचित : भावनगर, १९१६ ।
कोरपस इंस्क्रिप्शंस, इंडिकेरम कलकत्ता, १८८८ ई० ।
खरोष्ठी धम्मपद, संपा० एमील सेनार्त, १८९७ ई० ।
छंदसार संग्रह, संपा० चंद्रमोहन घोष, कलकत्ता, १९९३ ।
जातकमाला, संपा० एच० कर्न, हार्वर्ड, १८९१ ई० ।
जैनशिलालेख संग्रह, हीरालाल जैन, बंबई ।
दशरूपक, निर्णयसागर प्रेस, बंबई, १९४१ ।
दिव्यावदान, इ० वी० कॉवेल तथा नेल, कैम्ब्रिज, १८८६ ई० ।
देशोपदेश आदि, क्षेमेन्द्र, काव्यमाला, बम्बई ।
ध्वन्यालोक, काव्यमाला, निर्णयसागर, बंबई, १९३५ ।
नाटयदर्पण, गुणचन्द्र, बड़ौदा ।
नाटयशास्त्र, बड़ौदा, १९२६ ।
२३. काशी, १९८५ ।
न्यायकुमुदचंद्र, महेन्द्र कुमार जैन द्वारा संपादित, बम्बई ।
प्रबंधचिंतामणि संपा० मुनि जिनविजय, शान्ति-निकेतन, १९८९ वि० ।
प्राकृत धम्मपद, संपा० वरुआ एंड मित्र, कलकत्ता ।
प्राकृत पैंगलम्, संपा० चंद्रमोहन घोष, कलकत्ता, १९०२ ।
प्राकृत रूपावतार, ई० हुल्ट्ज़, रायल एशियाटिक सोसायटी, १९०९ ।
प्राकृत लक्षणम्, संपा० रेवतीकान्त भट्टाचार्य, कलकत्ता, १९२३ ।
प्राकृत सर्वस्वम्, संपा० भट्टनाथ स्वामी, विजगापट्टम, १९१४ ।
बालरामायण, राजशेखर ।
ब्रुखश्टुके बुधिष्टिशेर ड्रामेन, संपा० हाइनरिश ल्युडर्स, बर्लिन, १९११ ।
भावप्रकाशन, बड़ौदा, १९३० ।
महाभाष्य, निर्णयसागर प्रेस, बंबई, १९३८ ।
महावस्तु, संपा० एमील सेनार्त पेरिस १८८२-९७ ई० ।
मृच्छकटिक, शूद्रक, निर्णयसागर, बम्बई, १९३६ ई० ।
रत्नावली, हर्ष, निर्णयसागर, बम्बई ।
ललित विस्तर, संपा० एस० लेफमन्न हाले, १९०२-८ ई० ।

वरांग चरित, संपा० ए० एन० उपाध्ये, बंबई, १९३८।
विदग्ध मुखमंडन काव्यम्, निर्णयसागर प्रेस, बंबई, १९१८।
वृहत् कथाकोश, संपा० ए० एन० उपाध्ये, सिंघी जैन सिरीज़, बंबई १९४३ ई०।
वृहत्संहिता, संपा० केर्न, बिब्लियो थिका इण्डिका, १८६५ ई०।
राजतरंगिणी, संपा० बलदेव मिश्र, दरभंगा, १९१९।
श्रीकृष्ण कर्णामृतम् : लीलाशुक प्रणीत : श्री रंगम्।
षड्भाषा चंद्रिका, संपा० के० पी० त्रिवेदी, बंबई, १९१६।
सरस्वतीकंठाभरण, काव्यमाला, निर्णयसागर, बंबई, १९२५ ई०।
साधनमाला, बड़ौदा, १९२५ ई०।
साहित्यदर्पण, निर्णयसागर, १९३६।
सेलेक्ट इंस्क्रिप्शंस, बेयरिंग ऑन इंडियन हिस्ट्री एंड सिविलिजेशन, डी० सी० सरकार, कलकत्ता १९४२ ई०।
हर्षचरित, निर्णयसागर प्रेस, बंबई।

(५) सहायक ग्रंथ : गुजराती ग्रंथ

आपणा कवियो, के० का० शास्त्री, अहमदाबाद, १९४२।
ऐतिहासिक रास संग्रह भाग १–३ संशोधक वि० ध० सूरी भावनगर। सं० १९७२।
ऐतिहासिक रास संग्रह ४ भाग विजय धर्म सूरि आदि, भावनगर।
गुजराती छंदो, रा० वि० पाठक, अहमदाबाद।
चारणो अने चारणी साहित्य अ० मेघाणी, अहमदाबाद, १९४३।
जैन गुर्जर कवियो २ भाग, मो० द० देसाई, बंबई, १९२६।
पद्य रचना आलोचना की ऐतिहासिक आलोचना, के० ह० ध्रुव, बंबई।
प्राचीन गुर्जर काव्य संग्रह, बड़ौदा १९२०।
भारतेश्वर बाहु बाहु विलास, संपा० मुनि जिनविजय, बंबई, १९९७।
वसन्त रजत महोत्सव स्मारक ग्रंथ, अहमदाबाद, १९२७ ई०।

छंद शास्त्र संबंधी

भारत कौमुदी, इलाहाबाद १९४७।
कवि दर्पण, संपा० एच० डी० वेलंकर, ए० भं० ओ० टि० इं० १९३५–३६ ई०।

गाथा लक्षण, संपा० एच० डी० वेलंकर ए० भं० ओ० टि० इं० भाग १४।
छंद कोश : रत्नशेखर सूरि : ज० यू० वंबई भाग २, अंक ३।
छंद शेखर : राजशेखर कवि : ज० व० ब्रा० रा० ए० सो०——
छंदोनुशासन, हेमचंद्र : ज० ब० ब्रा० रा० ए० सो० भा० १९–२०।
जयकीर्ति छंदोनुशासनम्, ज० ब० ब्रा० रा० ए० सा० १९४५।
जयदामन : हरितोषमाला, एच० डी० वेलंकर, बंबई, १९४९।
वृत्तजाति समुच्चय : विरहांक : एच० डी० वेलंकर ज० बं० प्रा० रा० ए० सो० १९३२।
स्वयंभू छंद, संपा० वेलंकर, जर्नल वं० प्रां० रा० ए० सो० १९३५।

अंग्रेजी ग्रंथ

इंडोआर्यन एंड हिंदी, सु० कु० चटर्जी, अहमदाबाद १९४३।
डिक्शनरी आव् कश्मीरी प्रार्वर्ब्स एंड सेइंग्स, जे० एच० नोबुल्स, बंबई, १८८५।
दि हिस्टारिकल इंस्क्रिप्शंस आव् सदर्न इंडिया, एस० के० आयंगर, मद्रास, १९३२।
दि लाइफ आव् हेमचन्द्राचार्य, अनु० डा० मणिलाल पटेल। भारतीय विद्या भवन बंबई।
प्राकृत लैंगवेजेज, एंड देयर कंट्रिब्यूशन टू इंडियन कल्चर, एए० एम० कात्रे वंबई १९४५।
भासाज़ प्राकृत, प्रिंट्ज़ १९२१ ई०।
सम प्राबलम्स आव् इंडियन लिट्रेचर, एम० विन्टरनित्स, कलकत्ता, १९२५।
सर आशुतोष मुकर्जी सिलवरजुबली वाल्यूम, कलकत्ता।
क्रॉनोलोजी आव् इंडिया, सी० एम० डफ।
स्टडीज़ इन द तंत्राज भाग १ वागची, कलकत्ता, १९३९।
स्टडीज़ इन द हिस्ट्री आव् संस्कृत पोएटिक्स, एस० के० डे
हिस्टॉरिकल ग्रामर आव् अपभ्रंश, तगारे, पूना, १९४८।
हिस्ट्री आव् संस्कृत लिटरेचर, डा० एस० कृष्णमाचार्य, मद्रास, १९३७।

जर्मन तथा फ्रेंच

अपभ्रंश स्टडिएव, लुदविग आल्सडर्फ, लाइप्जिग, १९३७।
गेशिष्टे देर इंडिशेन लितेराटुर, विन्टरनिव्स प्राग, १९३२।
ग्रामा टिक देर प्राकृत श्प्राख़ेन, पीशेल, बेरलीन १९०१।

फेस्टगावे हेरमान्न, याकोबी, बाँन, १९२६ ।
माटेरियलियेन त्सूर केन्टनिस डेज़ अपभ्रंश, रिचार्ड पिशेल, बेर्लीन, १९०२ ।
लेग्रामेरिएं प्राक्रतिस्, नीति दोलची, पारी १९३८ ।
एसाइ सुर गुंणाढ्य एला वृहत कथा, पारी १९०८ ।

(६) पत्र पत्रिकाएँ

अनेकान्त, सरसावा, सहारनपुर ।
इंडियन हिस्टारिकल क्वार्टरली ।
एनल्स भंडारकर रिसर्च इंस्टीट्यूट, पूना ।
जर्नल एशियाटिक सोसायटी आव् बंगाल, कलकत्ता ।
कर्नाटक हिस्टारिकल रिव्यू ।
जर्नल आव् दि डिपार्टमेंट आव् लेटर्स, यूनिवर्सिटी आव् कलकत्ता ।
जर्नल आव् दि राएल एशियाटिक सोसायटी ।
जर्नल, राएल एशियाटिक सोसाइटी, बाम्बे ब्रांच ।
जर्नल आव् दि यूनिवर्सिटी आव् बाम्बे ।
जैन एन्टीक्वैरी, आरा ।
जैन सिद्धान्तभास्कर, आरा ।
नागपुर यूनिवर्सिटी जर्नल ।
नागरी प्रचारिणी पत्रिका, काशी ।
बुलेटिन आव् दि स्कूल आव् ओरिएंटल स्टडीज़, यूनिवर्सिटी आव् लंदन ।
प्रोसीडिंग्स, ओरिएंटल कान्फ्रेन्स ।
भारतीय विद्या, अंग्रेज़ी, हिंदी तथा गुजराती, बम्बई ।
इलाहाबाद यूनिवर्सिटी स्टडीज़ ।
इंडियन एन्टीक्वैरी, बंबई ।
आर्क्यऑलाजिकल सर्वे, वेस्ट इंडिया ।

नामानुक्रमणिका

टि० = टिप्पणी

ज

शुद्धि-पत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
६	९	कल	कुल
६	३०	जिनमद्र	जिनभद्र
७	१८	भमण	भ्रमण
७	२७	लायमन्न	लायमन्त्र
८	७	प्रा	प्राकृत के
८	८	योग	प्रयाग
८	२६	यूनी टी	यूनिवर्सिटी
१०	१८	रचन	रचना
११	२६	वाण	बाण
१६	३०	पना	पूना
२३	१४	कपाल	कपाए
२५	७	अविधा	अभिधा
३०	१३	की	ही
३१	६	पद्म	पद्य
३३	२५	गोल्डस्मिट	गोल्डस्मिथ
३४	२६	विचरिते	विरचिते
३४	२९	विरोचिते	विरचिते
३५	२२	गोल्डस्मिट	गोल्डस्मिथ
३६	२१	राजातरंगिणी	राजतरंगिणी
३७	२८	समह	समूह
३९	७	बल	नल
४८	१	ममरेहि	भमरेहि
४९	१	निय	निम्न

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
५०	१	भवानओं	भावनाओं
६१	२१	का	को
६३	२५	पामय	पाइय
७८	८	कह्वा	कहा
८०	१३	सावयभम्म	सावयधम्म
८७	१८	देवसन	देवसेन
८८	५	व्रतापि	व्रतादि
९०	१७	जिनदत्तूसरि	जिनदत्तसूरि
९१	१४	कुद	कुछ
९१	१६	अन्त्यनुप्रास	अन्त्यानुप्रास
९२	१२	महेश्र	महेश्वर
९२	२८	वो	ओ
९७	३	पद्यचरित	पद्मचरित
९७	४	पउमचरिय	पउमचरिउ
१०२	५	ध्वयात्मक	ध्वन्यात्मक
१०९	१०	मयणा	यमणा
१०९	१५	करयलजखु	करयलजलु
११०	१०	अन्त्यनुप्रास	अन्त्यानुप्रास
११६	१३	भविसत्तकहा	भविसयत्तकहा
१२३	१६	श्रंगार	शृंगार
१२४	३'५,६	श्रंगार	शृंगार
१२४	२३	सुदह्यण	सुदंसण
१३०	२१	कर कर	कर
१३७	३	पंपाहय	पंपाइय
१३७	४,५	वल्लास	वल्लाल
१३७	५	वाद	वाड
१४१	७	अप्रभंश	अपभ्रंश
१४४	४	जिणदत्तवरिउ	जिणदत्तचरिउ
१४५	१०	विमलमती	विमलमती से

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१५०	१०	खंम्मात	खम्भात
१५८	१८	रयूध	रयधू
१६८	२८	डलते	मिलते
१७१	१७	व्रजगीति	वज्रगीति
१७२	२९	योजितानं	योजितानां
१७३	३	वीजमंत्र	बीजमंत्र
१७३	२७	आशचर्य	आश्चर्य
१७५	२७	पुल्लिअउ	फुल्लियउ
१७६	५	काव्य	काय
१७९	११	पान्डि	पन्डिउ
१८०	२६	नेयार्धवचन	नेयार्थवचन
१८१	१४	नेरात्मा	नैरात्मा
१८१	१८	निर्षाणे	निर्वाणे
१८२	२	सर्वश्रष्ठ	सर्वश्रेष्ठ
१८२	१८	अन्त्यनुप्रास	अन्त्यानुप्रास
१८३	११	सरइपा	सरहपा
१८५	५	प्रच्छन	प्रच्छन्न
१९५	१९	पिंगल के	पिंगल से
२०१	१०	को	की
२०१	१८	वेश्यावाड	वेश्यावाद
२०२	१९	की	को
२०२	२१	वेश्यावाड	वेश्यावाद
२०३	३	एललेख	उल्लेख
२०५	११	अपभ्रंस	अपभ्रंश
२१०	४	विक्रोमोर्वशीय	विक्रमोर्वशीय
२११	२३	विषयि	विषय
२११	२९	रागायण	रामायण
२१२	२	यद्धों गायकमें	युद्ध गायकों में
२१९	३	।३	।

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२२८	२४	प्रेमबती	प्रेमावती
२२८	२६	मिरगावती	मृगावती
२२९	२२	यह	ये
२३१	१४	दिव्यामनुष	दिव्यामानुष
२३१	१९	उपमेदादि	उपभेदादि
२३२	१९	पद्यवद्ध	पद्यबद्ध
२३२	२७	माघव-	माधवा-
२३३	१९	अपम्रंश	अपभ्रंश
२३३	२९	भमिका	भूमिका
२३६	१९	गोरखवानी	गोरखबानी
२३६	२०	वाण	बाण
२३६	२९	गारखवानी	गोरखबानी
२३७	२,६,१९,२८	"	"
२४०	१८	विद्वतापूर्ण	विद्वत्तापूर्ण
२४२	२३	अव्दल	अव्दुल
२४२	२४	पदुमावली	पदुमावती
२४३	१८	होना	होने
२४३	२१	अन्त्यनुप्रास	अन्त्यानुप्रास
२४४	२१	क	का
२४७	६	कम से	कम से कम
२४९	२७	गाथा के दोहा पश्या	गाथा के पश्या
२४९	२८	पथ्या	पश्या
२५३	६	अर्धमालची	अर्धमालती
२५३	१४	विज्जुणन्माला	विज्जुन्माला
२५३	२९	भास्कर	प्रभाकर
२५४	२	मिलते न	मिलते हैं न
२५४	५	काय्यों	काव्यों
२५४	९	प झटिका	पज्झटिका
२५४	२४	हम्मीरासो	हम्मीररासो

२५६	२६	हे	हैं
२५७	५	के मैं छंदों	के छंदों
२५७	७	मालची	मालती
२५७	२२	गीतमालची	गीतमालती
२५८	२	"	"
२६०	८	यदि	यति
२६१	२२	पृ० रा० के	पृ० रा० में
२६२	२	और न	और
२६२	११	भुजंगप्रपात	भुजंगप्रयात
२६२	१३	स्तर	सार
२६२	१६	नन्दास	नन्ददास
२६२	२३	पय	पर
२६३	२	किमा	किया
२६३	८	प्र झटिका	प्रज्झटिका
२६३	१२	रुपक्रान्ता	रूपक्रान्ता
२६३	१५	ग्रहीत	गृहीत
२६३	२०	ह्ो	हो
२६३	३०	धत्ता	घत्ता
२६४	३०	ममरावलि	भमरावलि
२६५	१	३६५	२६५
२६७	२७	सामन्य	सामान्य
२७०	६	विषयि	विषय
२७१	४	ग्रहीत	गृहीत
२७५	५	भट	भेट
२७७	९	ग्रहीत	गृहीत
२७८	१५	कृणकथा	कृष्णकथा